

काश्मीर की शैव संस्कृति

में

कुल और क्रम-मत

नवजीवन रस्तोगी

काश्मीर शिवाद्वयवाद की अवान्तर परम्पराओं में वैश्विक मनीषा का ध्यान जिन्होंने सबसे अधिक आकर्षित किया है, वे हैं क्रम और कुल। इस लघु पुस्तक में इन दोनों का परिचय उनकी ऐतिहासिक उद्विकासात्मक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में देने का प्रयास किया गया है। इस प्रस्तुति में क्रम आज भी विचार और उपासना की एक जीवित पद्धति है यह बात उभरकर आयी है। जयरथ को यदि प्रमाण मानें तो अभिनवगुप्त के द्वारा प्रस्तावित सम्प्रदायगत वैविध्य-निरूपण के उपक्रम में उनकी तन्त्र-प्रक्रिया और कुल-प्रक्रिया की मौलिक अवधारणाएँ रही हैं। तान्त्रिक अर्थ-बोध, प्रकार-निर्धारण और उपासात्मक आचार के स्वरूपगत वैशिष्ट्य के परिकल्पन में इस प्रक्रिया-विमर्श की महती भूमिका रही है। *क्रम तान्त्रिसिन्धु ऑफ काश्मीर* में लेखक ने सर्वप्रथम इस पक्ष को विद्वानों के समक्ष रखा था। तब से अब तक अनेक विद्वानों ने अपनी मनीषा के स्पर्श से इस समस्या पर गहन विचार किया है। लेखक ने उपलब्ध नयी सामग्री के आलोक में इस अवसर का उपयोग पुनः उस सन्दर्भण को फिर से समझने के लिए करना चाहा है जिसके परिप्रेक्ष्य में अभिनव को कुल और क्रम में व्यवस्थित करना अभिप्रेत रहा है। इस कृति की तीसरी और संभवतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है क्रम और कुल से संबद्ध कुछ लघु अप्रकाशित पाण्डुलेखों का प्रकाशन : निष्क्रियानन्दनाथ-विरचित *छुम्मा-संप्रदाय*, शितिकण्ठ-रचित *कौलसूत्र* (*कुलसूत्र*) और *षोडशस्वरकला* तथा अज्ञातकर्तृक *शैवाष्टक-कोश* (कुछ अंश) और *ज्ञानक्रियाद्वयशतक*। इनके प्रकाशन से निश्चय ही क्रम-कुल का प्रकाशित वाङ्मय समृद्ध हुआ है।





काश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम-मत
- कुल-प्रक्रिया एवं तन्त्र-प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में -



काश्मीर की शैव संस्कृति में कुल और क्रम-मत

- कुल-प्रक्रिया एवं तन्त्र-प्रक्रिया के परिप्रेक्ष्य में -

नवजीवन रस्तोगी



डी०के० प्रिंटवर्ल्ड प्रा० लि०
भारतीय परम्पराओं के प्रकाशक
नई दिल्ली

Cataloging in Publication Data — DK

[Courtesy: D.K. Agencies (P) Ltd. <docinfo@dkagencies.com>]

Rastogi, Navjivan, 1939-

Kāśmīra kī Śaiva saṃskṛti meṃ kula aura krama-mata :
kula-prakriyā evaṃ tantra-prakriyā ke pariprekṣya meṃ /
Navajīvana Rastogī.

p. cm.

In Hindi.

On Trika philosophy of Kashmir Śaivism.

Includes bibliographical references.

ISBN 13: 9788124605776

1. Tantrism. 2. Kashmir Śaivism. I. Title.

DDC 294.5513 22

ISBN 13: 978-81-246-0577-6

ISBN 10: 81-246-0577-7

© लेखक : नवजीवन रस्तोगी

सर्वप्रथम भारत में प्रकाशित, २०११

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस प्रकाशन के किसी भी अंश का किसी भी रूप में पुनर्मुद्रण, या किसी भी विधि (जैसे — इलेक्ट्रॉनिक, यान्त्रिक, फोटो-प्रतिलिपि, रिकॉर्डिंग या कोई अन्य विधि) से प्रयोग या किसी ऐसे यन्त्र में भंडारण, जिससे इसे पुनः प्राप्त किया जा सकता हो, कॉपीराइट धारक एवं प्रकाशक की पूर्वलिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकता है।

प्रकाशक एवं मुद्रक :-

डी०के० प्रिंटवर्ल्ड (प्रा०) लि०

पञ्जीकृत कार्यालय : “श्रीकुंज,” एफ-52, बाली नगर,

रमेश नगर मेट्रो स्टेशन

नई दिल्ली — 110 015

फोन : (011) 2545 3975; 2546 6019; फैक्स : (011) 2546 5926

ई-मेल : indology@dkprintworld.com

वेब : www.dkprintworld.com

पण्डित दीनानाथ यक्ष
(शैव-विद्या के मेरे जैसे न जाने कितने विद्यार्थी उनसे उपकृत हैं)
की पुण्य-स्मृति में



पुरोवाक्

आज से लगभग तीन दशक पूर्व क्रम-दर्शन पर मेरी पुस्तक का प्रथम खण्ड¹ प्रकाशित हुआ था। मुझे लगा था कि दूसरा खण्ड (जो तैयार था) भी अनतिशीघ्र प्रकाशित हो जाएगा। यह काम मैं कुछ अपेक्षित संशोधनों के बाद करना चाहता था। परन्तु उस समय नहीं हो पाया तो ऐसा रुका कि विद्वानों और पाठक-वर्ग की हार्दिक माँग होने पर भी अब तक नहीं कर पाया हूँ। उसका एक बड़ा कारण यह भी रहा है कि इस कालावधि में क्रम-दर्शन को लेकर तन्त्र-विद्या, विशेषतः काश्मीरी शिवाद्वैतवाद के अधीनी विद्वानों की अनुक्षण बढ़ती सर्जनात्मक रुचि का परिणाम यह हुआ कि इस धारा को लेकर सर्वाधिक काम हुआ और हमारे ज्ञान और अवबोध में नई सूचनाएँ जुड़ीं और गुणात्मक गम्भीरता का आधान हुआ। नेपाल में प्राप्त अनेक मातृकाओं ने भी आधारभूत सामग्री और शोध के आयामों को क्रान्तिकारी विस्तार और सघनता दी। फलतः हमेशा यह लगता रहा कि दोनों खण्डों का प्रकाशन यथासम्भव इस समग्र रचना-कर्म को समेटते हुए किया जाए तो उचित होगा। परिणाम, इस दिशा में प्रगति रुकी रही।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का आज भी मेरे पास कोई बड़ा कारण नहीं है, सिवाय प्रकाशकों के अकुण्ठ आग्रह के। लगभग एक दशक पूर्व उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान से प्रकाशित *संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास* के “तन्त्रागम खण्ड” के लिए कुल और क्रम दर्शनों को लक्षित करके एक विस्तृत लेख लिखा था। मित्तलजी के आग्रह ने प्रेरणा दी कि क्यों न उस लेख का आधार की तरह उपयोग करते हुए नई महत्त्वपूर्ण प्रधान सूचनाओं और सामग्री के आलोक में अपने मन्तव्यों की पुनरीक्षा कर विस्तृत निबन्ध को पुस्तकाकार विद्वानों के सामने ले आया जाए। इन्हीं कारणों से यह पुस्तक आकार ग्रहण कर सकी।

प्रस्तुत पुस्तक के विषय में तीन बातों का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। *क्रम तान्त्रिसिद्ध्य* का केन्द्रीय आग्रह स्वभावतः शिवाद्वयवाद के क्रम सम्प्रदाय पर था। यहाँ पर चेष्टा की गई है कि कुल और क्रम इन दोनों दर्शनों का परिचय उनकी इतिहासगत

1. *The Krama Tantricism of Kashmir*, vol. I, Motilal Banarsidass, Delhi, 1979.

उद्विकासात्मक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में दिया जाए। दूसरी बात भी पहली से एक अर्थ में प्रतिफलित कही जा सकती है और पुस्तक के शीर्षक से यह साफ़ उपलक्षित भी है। *तन्त्रालोक* के मनस्वी व्याख्याता **जयरथ** ने यह दिखाने का भरपूर प्रयास किया है कि **अभिनवगुप्त** के सम्प्रदायगत वैविध्य के निरूपण के उपक्रम के मूल में उनकी तन्त्र-प्रक्रिया और कुल-प्रक्रिया की मौलिक अवधारणाएँ रही हैं। तान्त्रिक अर्थ-बोध, प्रकार-निर्धारण और उपासात्मक आचार के स्वरूपगत वैशिष्ट्य के परिकल्पन में इस प्रक्रिया-विमर्श की महती भूमिका रही है। *क्रम तान्त्रिसिद्ध्य* में सर्वप्रथम इस पक्ष की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की गई थी। तब से अब तक अनेक विद्वानों ने अपनी मनीषा के स्पर्श से इस समस्या पर गहन विचार किया है और उससे हम सब लाभान्वित हुए हैं। परन्तु जैसा स्वाभाविक है कि बहुत सी बातें ऐसी भी आईं जो तथ्यों से सामञ्जस्य नहीं रखतीं। अतः इस अवसर का उपयोग मैंने उस सन्दर्भण को फिर से समझने के लिए करना चाहा है जिसके परिप्रेक्ष्य में **अभिनव** को कुल और क्रम को व्यवस्थित करना अभिप्रेत रहा है। तीसरी उल्लेख योग्य बात है कि क्रम और कुल सम्प्रदायों से सम्बन्धित कुछ लघु अप्रकाशित हस्तलिखित कृतियों का प्रकाशन भी परिशिष्ट के रूप में हो रहा है। ये हैं *छुम्मा-सम्प्रदाय*, *कौलसूत्र* (*कुलसूत्र*), *षोडशस्वरकला*, *शैवाष्टक-कोश* के कुछ अंश और *ज्ञानक्रियाद्वय-शतक*। जैसाकि मैंने अपने *क्रम तान्त्रिसिद्ध्य* में उल्लेख किया था कि *छुम्मा-सम्प्रदाय* का प्रकाशन कश्मीर के राजकीय प्रकाशनों की योजना के अधीन था। उसके कुछ अंश कश्मीर के प्रत्नविद्याप्रकाशकार्यालय (राजकीय शोध एवं प्रकाशन विभाग) से मुद्रित भी हुए थे, ऐसा मुझे काश्मीरी शैव दर्शन के विश्रुत विद्वान् स्व. श्री जानकीनाथ कौल “कमल” के पौत्र श्री मृणाल कौल (जो इस समय मॉन्ट्रियल में कॉन्कॉर्डिया विश्वविद्यालय में कश्मीर शैव दर्शन में शोध कर रहे हैं) से अभी कुछ समय पूर्व पता चला और उनके सौजन्य से ५२ से लेकर ६५ तक की “सूत्रों/कथाओं” के मुद्रित अंश मिले भी। बाकी अंशों का पता नहीं है और न यही कि फिर इसका प्रकाशन कहाँ पर अटक गया। ऐसी स्थिति में अपने संग्रह को खंगालने पर स्व. पं. दीनानाथ यक्ष से प्राप्त प्रतिलिपि/अनुलिपि (transcript) का प्रकाशन मुझे उचित लगा। मूल प्राकृत सूत्रों/कथाओं पर किसी **निष्क्रियानन्दनाथ** की *प्रकाश* नामक संस्कृत व्याख्या या टीका भी है जो मुझे नहीं मिल सकी थी। आशंका यही है कि दीनानाथजी के साथ वह भी काल-कवलित हो गई। *कौलसूत्र* और *षोडशस्वरकला शितिकण्ठ* की कृतियाँ हैं। *छुम्मा-सम्प्रदाय* और *कौलसूत्र* के लिए पं. दीनानाथ और अन्य हस्तलेखों के लिए पुनः यक्ष और भण्डारकर प्राच्यशोधसंस्थान मेरे स्रोत रहे हैं। मैं इन सबका आभारी हूँ। इन कृतियों को पाठालोचन की दृष्टि से बिना सम्पादित किए यथावत् (अपरिहार्य अल्पतम यथानिर्दिष्ट संशोधनों के साथ) प्रकाश में लाने का प्रयत्न केवल इस भाव से किया जा रहा है कि कहीं ये ग्रन्थ

लुप्त न हो जाएँ या यदि विद्वानों की दृष्टि इन पर नहीं पड़ी है तो पड़ जाए। पाठालोचन और अन्य पाण्डुलेखों का गवेषण भविष्य के लिए छोड़ना विवशता है।

ग्रन्थ के उपनिबन्धन में जिन मनीषियों से सहायता मिली उनके उपकार स्मरण के बिना यह पुरोवाक् अधूरा रहेगा। अपेक्षित स्थलों पर यद्यपि सहायता स्वरूप और उसके स्रोत का कृतज्ञ भाव से उल्लेख किया ही गया है, पर इतने मात्र से उनकी उदारता से उद्गृहण नहीं हुआ जा सकता। मातृकाओं, हस्तलेखों और अप्रकाशित सम्पादित सामग्री के लिए स्व. पं. दीनानाथ यक्ष, श्री मृणाल कौल, डॉ. मार्क डिच्चोफ़सकि, और भण्डारकर प्राच्यशोध संस्थान, पूना का मैं अत्यन्त आभारी हूँ। मैं कश्मीर शैव दर्शन की उदीयमान प्रतिभा श्री नीहार पुरोहित को सप्रश्रय स्नेहाशीष देता हूँ और उनके द्वारा डॉ. जीवेश झा के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। काशी के मूर्तिमान् सिद्ध शैव आचार्य स्व. रामेश्वर झा की सिद्ध कृति *क्रमाभिज्ञापना* तक मेरी पहुँच का माध्यम रहा है, डॉ. जीवेश झा का शोध प्रबन्ध। यद्यपि प्रेस कापी के अन्तिम चरण में ही यह सम्भव हो पाया, अतः इसका यथोचित उपयोग नहीं हो सका है। फिर भी यथासम्भव इसका सन्दर्भण करने का प्रयत्न किया गया है।

अपने विद्वान् मित्र और वर्तमान में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के कुलपति आचार्य श्री बिन्दाप्रसाद के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना चाहूँगा, जिनके उदार सहयोग के बिना हस्तलेखों के सम्पादन में संस्कृत भाषा की कई गुंथियाँ सुलझ न पातीं। इस कृति के आधार रूप से उपयुक्त मूल लेख, जिसकी चर्चा ऊपर मैंने की है, के लेखन में मेरी शिष्या और सम्प्रति लखनऊ विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग में प्रवक्ता डॉ. मीरा रस्तोगी का महत्त्वपूर्ण साहाय्य रहा है। मैं उन्हें भी आशीर्वाद देता हूँ। टंकण में श्री श्याम द्विवेदी तथा शब्दानुक्रमणिका में सहयोग के लिए श्री परमानन्द शर्मा धन्यवाद के पात्र हैं। मेरा काश्मीरी भाषा का ज्ञान शून्यप्राय है। *छुम्मा-सम्प्रदाय* में काश्मीरी भाषा के अंश की अपनी प्रस्तुति को लेकर आश्वस्त होने में डॉ. शशिशेखर तोषखानी के प्रश्रय का साभार उल्लेख आवश्यक होगा। अन्ततः इस सम्बन्ध में मैं अपनी पत्नी डॉ. सुधा रस्तोगी के श्रम का भी सप्रश्रय साभार उल्लेख करना चाहूँगा। यह मेरे लिए सुखद स्मरण की बात है, बहुलांश में हस्तलेखों की प्रतिकृति उस समय उन्होंने ही की थी। उनके साहाय्य के कारण ही यह हस्तलेख प्रकाशित हो पा रहे हैं।

मैं डी.के. प्रिन्टवर्ल्ड के यशस्वी निदेशक श्री सुशील मित्तल का भी अनुगृहीत हूँ जिनके उत्साह के कारण ही यह कृति सामने आ पाई है।

स्व. पं. दीनानाथ यक्ष से मेरी अन्तिम भेंट १९८७ में श्रीनगर में हुई थी। उसके बाद श्रीनगर के इस्लामी आतंक और उन्माद में अपना पुस्तकालय भस्म हो जाने पर अपनी

आँखों की ज्योति को लगभग खोकर वह जम्मू आ गए थे। इस काल के उनके एक-आध पोस्टकार्ड संस्कृत भाषा और शैव-दर्शन वाली कश्मीर की सांस्कृतिक थाती को संजोने वाले विवश व्यक्ति की हताशा और वेदना के प्रमाण रूप में मेरे पास आज भी सुरक्षित हैं। शैव-दर्शन के शोध विद्यार्थियों में न जाने कितने उनके ऋणी हैं। मैं भी उनमें से एक हूँ। सम्पूर्ण आदर और श्रद्धा के साथ यह कृति उनकी पुण्य-स्मृति को समर्पित है।

बसन्तपञ्चमी

नवजीवन रस्तोगी

लखनऊ

ग्रन्थ-प्रतीक

अभिनवगुप्त०

Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study

ई.प्र.वि.(का.ग्रं.)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी (का.ग्रं.)

ई.प्र.वि.वि.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी

कुल.तं.

कुलार्णव-तन्त्र

कैनन ऑफ् शैवागम०

The Canon of Śaivāgama and the Kubjikā Tantras of the Western Kaula Tradition

कौ.ज्ञा.नि.

कौलज्ञाननिर्णय

क्र.स्तो.

क्रमस्तोत्र

क्रम तान्त्रिसिद्धि०/क्र.तां.

The Krama Tāntricism of Kashmir

क्रमाभि.

क्रमाभिज्ञापना/श्रीक्रमाभिज्ञापना

चि.ग.च.

चिद्गगनचन्द्रिका

चिं.म.सा.स.

चिञ्चिणीमतसारसमुच्चय

डॉक्ट्रिन०

Doctrine of Recognition

तं.सा.

तन्त्रसार

तं.

तन्त्रालोक

तं.वि./तं.आ.वि.

तन्त्रालोक-विवेक

ता.वा.शा.दृ.

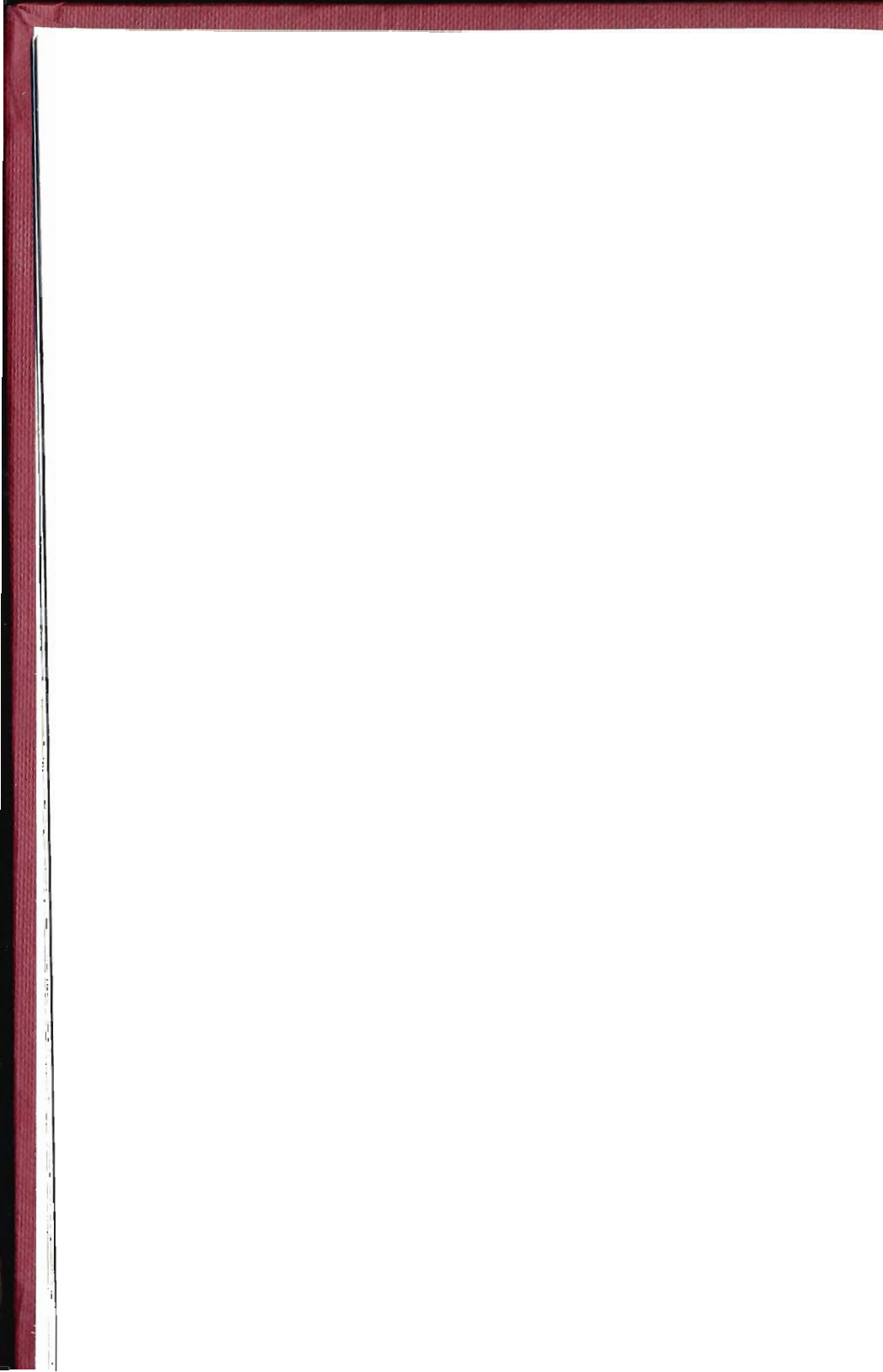
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि

नि.षो./नि.षो.तं.

नित्याषोडशिकार्णव तन्त्र

नि.षो./नि.षो.तं.(अर्थरत्नावली)	नित्याषोडशिकार्णव पर अर्थरत्नावली टीका
ने.तं.	नेत्र-तन्त्र
ने.तं.उ.	नेत्रतन्त्र-उद्योत
प.त्रि.	परात्रिंशिका/परात्रीशिका
प.त्रि.वि.	परात्रिंशिका-विवरण (का.ग्रं.)
प.त्रि.वि.(गुरुटू)	परात्रिंशिका-विवरण (गुरुटू)
प.त्रि.वि.(जय.)	परात्रिंशिका-विवरण (जयदेव सिंह)
प्र.ह.	प्रत्यभिज्ञा-हृदय
भा.	भास्करी (ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी पर टीका)
भा.(वि.)/ई.प्र.वि.	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी के साथ “भास्करी” शीर्षक से प्रकाशित)
भा.सं.सा.	भारतीय संस्कृति और साधना
म.प्र.(शि.)/(शिति.)	महानय-प्रकाश (शितिकण्ठ)
म.प्र.(त्रि.)	महानयप्रकाश (त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित)
म.भैरवतन्त्र०	मन्थानभैरवतन्त्र
म.मं.	महार्थ-मञ्जरी
म.मं.प.	महार्थ-मञ्जरी-परिमल
मृ.तं.	मृगेन्द्रतन्त्र
मा.वि./मा.वि.तं.	मालिनीविजयोत्तरतन्त्र
मा.वि.वा.	मालिनीविजय-वार्त्तिक
यो.ह.	योगिनीहृदय
यो.ह.दी.	योगिनीहृदय-दीपिका
वा.म./वा.म.तं.	वामकेश्वरीमत/वामकेश्वरीमत तन्त्र
वा.म.वि.	वामकेश्वरीमत-विवरण
वा.सू.	वातूलनाथसूत्र
वा.सू.वृ.	वातूलनाथसूत्र-वृत्ति

वि. भै.	विज्ञान-भैरव
वि. भै. उ. /-उद्योत०	विज्ञान-भैरवोद्योत (शिवोपाध्यायकृत विवृति)
शि. दृ.	शिवदृष्टि
शि. दृ. वृ.	शिवदृष्टि-वृत्ति
शि. म. पु.	शिव महापुराण
शि. सू.	शिवसूत्र/शिवसूत्राणि
शि. सू. वा. (भा.)	शिवसूत्र-वार्तिक (भास्कर)
शि. सू. वा. (व.) / (वरद)	शिवसूत्र-वार्तिक (वरदराज)
शि. सू. वि.	शिवसूत्र-विमर्शिनी
शि. स्तो.	शिवस्तोत्रावली
शि. स्तो. वृ.	शिवस्तोत्रावली-वृत्ति
स्प. का.	स्पन्दकारिका
सं. वा. बृ. इ. (तन्त्रा.)	संस्कृत वाङ्मय का वृहद् इतिहास (तन्त्रागम खण्ड)
स्प. नि.	स्पन्दनिर्णय
स्प. प्र.	स्पन्द-प्रदीपिका
स्प. प्र.	स्पन्द-प्रदीपिका (इस्लामपुरकर)
स्प. प्र.	स्पन्द-प्रदीपिका (कविराज)
स्व. तं.	स्वच्छन्द तन्त्र
स्व. तं. उ.	स्वच्छन्दतन्त्र-उद्योत
हिस्ट्री०	A History of Indian Philosophy by S.N. Dasgupta



विषय-सूची

पुरोवाक्	vii
ग्रन्थ-प्रतीक	xi
अध्याय एक : अवतरणिका	१
अध्याय दो : कुल-मत	११
अध्याय तीन : क्रम-मत	५६
परिशिष्ट	१०६
(१) छुम्मा-सम्प्रदाय	१११
(२) कुलसूत्राणि	१३५
(३) षोडशस्वरकला	१४५
(४) शैवाष्टककोशः	१५५
(५) ज्ञानक्रियाद्वयशतकम्	१६६
सन्दर्भ-ग्रन्थ	१८३
शब्दानुक्रमणिका	१८६

अवतरणिका

कुल तथा त्रिक का सुदूर दक्षिण तक जीवित सम्प्रदाय के रूप में प्रसार – ऐतिहासिक उद्विकास-क्रम में उपलब्ध विविध प्रवृत्तियाँ – अभेदान्वयन की प्रवृत्ति, पार्थक्य की प्रवृत्ति, विशिष्ट-सन्दर्भगत ऐक्य व अनैक्य की प्रवृत्ति, व्याप्यव्यापक भाव की प्रवृत्ति, चयनात्मिका-समन्वयात्मिका प्रवृत्ति – सहोदरत्व/समकक्ष्यत्व की दृष्टि – तन्त्रालोक : सभी प्रवृत्तियों का समन्वयमूलक निदर्शन – अनुत्तरत्रिक की धारणा द्वारा सारी दृष्टियों का समाहरण।

कुल और क्रम के ऐतिहासिक विकास का निर्भ्रान्त लेखा-जोखा प्रस्तुत करना, एक चुनौती भरा काम है। प्रश्न है कि क्या कुल और क्रम का ऐतिहासिक आकलन करते हुए इस प्रसंग में त्रिक, मत, स्पन्द आदि धाराओं का समीक्षण भी उतना ही अपेक्षित और प्रासंगिक होगा। यशस्तिलक चम्पू (६५६ ई.) के यशस्वी रचयिता **सोमदेव** को यदि प्रमाण माना जाए तो दक्षिण (आधुनिक धारवाड़ तथा हैदराबाद के दूरतम पश्चिमी सीमान्त का मिला-जुला प्रान्त) में दसवीं शती के उत्तरार्ध में कुल-दर्शन की जो प्रतिमा उभरती है, उसमें कुल, त्रिक से एकाकार मिलता है। **सोमदेव** की दृष्टि में कुल-सम्प्रदाय में मुक्ति का द्वार है समस्त भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय वस्तुओं का निरंकुश सेवन।^१ दो शताब्दी बाद लिखे गए जैन कवि **यशःपाल** के अन्योक्ति नाटक *मोहपराजय* में कौलों या कौलाचार्यों का ठीक यही रूप मिलता है।^२ **हन्दिकी** की तरह से यहाँ *कुलार्णवतन्त्र* और *कुलचूडामणितन्त्र*, जो निश्चय ही

१. सर्वेषु पेयापेयभक्ष्याभक्ष्यादिषु निःशंकचित्तोद्धृतात् इति कुलाचार्यकाः। – स्थल अनिर्विष्ट, **के.के. हन्दिकी** द्वारा *यशस्तिलक ऐण्ड इंडियन कल्चर*, शोलापुर, १९६८, पृ. २०४ पर उद्धृत; और भी देखिए *यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन*, **गोकुलचंद्र जैन**, अमृतसर, १९६७, पृ. ७६-७७।

२. कौलः (साहंकारं) –

खज्जइ मंसं अणुदिणु पिज्जई मज्जं च मुक्कसंकरणं।
आणिवारियरमणपसरो एसो धम्मो मए दिट्ठो।।

कुल-दर्शन के तन्त्र हैं, की अनुगूँज सुनकर शान्त हुआ जा सकता था। परन्तु समस्या को जन्म मिलता है, जब सोमदेव कुलाचार्यों को त्रिक-मत से जोड़ते हैं। श्रुतसागर की टीका त्रिक मत को शैव सम्प्रदाय मानती है।^१ उनके अनुसार इस सम्प्रदाय में मौंस तथा मदिरा का सेवन करने के बाद साधक को चाहिए कि वह अपने वाम में स्थित सहयोगिनी साधिका के साथ उमासंयुक्त महेश्वर की भूमिका निभाता हुआ शक्ति-मुद्रा (योनि-मुद्रा) में अवस्थित हो शिव की आराधना करे।^२ त्रिक मत की दूसरी विशेषता - देह का दिव्यभाव - तब उजागर होती है, जब युवा राजपुत्र मारदत्त त्रिक मत में दीक्षित समर्थ की भाँति अपनी देह को दिव्य मान बैठता है।^३ इस विवेचन से दो-तीन बातें समझ में आती हैं। एक, सुदूर दक्षिण में कुल/त्रिक की धारा का प्रसार था। दो, दसवीं से बारहवीं शती तक कुल/त्रिक की धारा एक जीवित सम्प्रदाय के रूप में प्रवाहित थी और तीन, त्रिक और कुल की जनमानस में सामान्य अवधारणा एक शैव सम्प्रदाय की थी।

ऐसा नहीं था कि यह कठिनाई केवल दक्षिण में ही हो। काश्मीर में हमें दो प्रवृत्तियाँ निरन्तर मिलती हैं। एक है, दोनों को दो स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानने की और दूसरी है, दोनों में अभेद को स्थापित करके चलने वाली। इस प्रवृत्ति का विस्तार भी देखने को मिलता है : क्रम, कुल, त्रिक, प्रत्यभिज्ञा - इनमें अभेदान्वय करने वाली प्रवृत्ति और दूसरी इन सब में पार्थक्य को देखने वाली प्रवृत्ति। साथ ही इनके भीतर एक अन्तर्धारा भी बह रही है, जो एक प्रसंग में दो सम्प्रदायों की एकता का निदर्शन कराती है तो दूसरे प्रसंग में उन्हीं की भिन्नता का। इन्हीं के साथ एक चौथी प्रवृत्ति के भी दर्शन होते हैं, जो वैदिक देवशास्त्र में दृश्यमान क्रमिकदेवपारम्यवाद (कैथेनोथीडज्म) के सदृश एक सम्प्रदाय या उसके द्वारा आम्नात परमार्थ तत्त्व को चरम मानती हुई सारे अवान्तर सम्प्रदायों में उसको व्याप्त मानती

→ कापालिकः (सगर्व) -

उत्तमपुरिसकवाले भुंजई जो पुरिसजंगलं निच्चं।

सो पावइ सिवटाव इय नरकावालिण कहियँ।। - मोहपराजय (५), मंत्रियशः पाल, सं. मुनि चतुर्विजय जी, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़, बड़ौदा, १९१८; ऊपर की दो पंक्तियाँ हन्दिक्की द्वारा उद्धृत, तदेव।

३. तत्रैव।

४. तथा च त्रिकमतोक्तिः - मदिरामोदमेदुरवदनस्तरसरसप्रसन्नहृदयः सव्यपार्श्वविनिवेशितशक्तिः शक्तिमुद्रासनधरः स्वयमुमामहेश्वरायमाणः कृष्णया शर्वाणीश्वरमाराधयेत् इति। - यशस्तिलकचम्पू, पृ. २६६ उत्तरार्ध; हन्दिक्की द्वारा उद्धृत, यशस्तिलक ऐण्ड इन्डियन कल्चर, पृ. २०४।

५. सकलजनसाधारणेऽपि स्वदेहे त्रिकमतदीक्षितस्येव देवभूयेनाभिनिविशमानस्य। - आश्वास १, पृ. ४३; तत्रैव, पृ. २०५ पर उद्धृत।

है। दूसरे शब्दों में यह साम्प्रदायिक व्यापकव्याप्यभाव बारी-बारी से सारे सम्प्रदायों में दिखाई देता है। इन सारी प्रवृत्तियों की एक साथ उपस्थिति यथातथ्य निम्नान्त गवेषणा में कठिनाई उपस्थित करती है।

उदाहरण के लिए *मालिनीविजयवार्तिक* में **अभिनवगुप्त** (६०५-१०५० ई.) क्रम, कुल, त्रिक इत्यादि को स्वतन्त्र स्रोतों के रूप में ग्रहण करते हैं।^{१६} *तन्त्रालोक* में वह इसे निःसंकोच दुहराते हुए सम्प्रदायभेद से सम्प्रदायोचित मन्त्रों के प्रतिपादनार्थ उद्धृत होते हैं।^{१७} त्रिक और क्रम दर्शन में सम्प्रदायगत पार्थक्य के होते हुए भी विषयगत सादृश्य को रेखांकित करने का प्रयास **अभिनव** करते हैं, ऐसा **जयरथ** का मन्तव्य है।^{१८} पर वही **जयरथ** *तन्त्रालोकविवेक* के आत्मकथात्मक अन्तिम पद्यों में क्रम और त्रिक की अलग परिगणना करते हैं।^{१९} इसी प्रकार **महेश्वरानन्द** प्रत्यभिज्ञा और क्रम को दो स्वतन्त्र सम्प्रदायों के रूप में लेते हैं।^{२०} **अभिनवगुप्त** से **महेश्वरानन्द** तक लगभग ३०० वर्षों का अन्तराल है। इस दीर्घ अवधि के पूर्व भी सम्प्रदायभेद की यह चेतना कश्मीर के शैव ग्रन्थों और परम्परा में स्पष्ट मुखरित है।^{२१} *निशाचार तन्त्र* के आधार पर कुल को कौल से और कौल को त्रिक से भिन्न मानकर उनमें तरतमभाव स्वीकार किया गया है।^{२२} दूसरी ओर इन सम्प्रदायों में या तो भेद का निषेध किया गया है या सीधे अभेद का आख्यान किया गया है। **महेश्वरानन्द** की वह उक्ति आधुनिक विद्वानों को बहुत प्रिय है, जिसमें वह त्रिक और क्रम (महार्थ) में मौलिक भेद का निषेध करते हैं।^{२३} यहाँ तक कि वह **अभिनवगुप्त** विरचित *क्रमकौलि* को कुल

६. अतिमार्गक्रमकुलस्रोतोऽन्तरादिषु। - *मा.वि.वा.* १/१६२

७. अथ यथोचितमन्त्रकदम्बकं त्रिककुलक्रमयोगि निरूप्यते। - *तं.* ३१/१

८. एता एव द्वादशापि संविदः . क्रमदर्शनादौ अन्यर्थेनापि अभिधानेन दर्शिताः। - *तं.वि.*, २, पृ. ५८७; और भी देखिए . तदत्र क्रमनयसमानकक्ष्यत्वविवक्षायाम्। - तदेव, ३, पृ. ८०५

९. . त्रिकद्विंश क्रमार्थे वा। - तदेव, ८, पृ. ३७२५, श्लोक सं. ४७

१०. अवगतशिवदृष्टिप्रत्यभिज्ञार्थतत्त्वक्रमसरणिर्हस्योल्लाससर्वस्ववेदी। - *म.मं.प.*, पृ. २, श्लोक १०

११. वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद् वामं च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि।। - *तं.वि.*, १, पृ. ४६

यहाँ पर कौल मत चरम है। निम्न पक्तियों में कुल से भी त्रिक को परतर घोषित किया गया है - वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्। ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्।। - *तं.वि.*, २, पृ. ४६; ३, पृ. ६७२

१२. अनेनैवाशयेन च “वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित्। संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः।।” इत्यादि श्रीनिशाचारादावुक्तम्। - *तं.वि.*, २, पृ. ४६

१३. अनेन श्रीमहार्थत्रिकदर्शनयोरन्योन्यं नात्यन्तं भेदप्रथेति व्याख्यातम्। - *म.मं.प.*, पृ. ६६

का आगम ग्रन्थ मानते हैं।^{१५} इसी प्रकार **क्षेमराज** स्पन्द और क्रम को सारतः एक ही बताते हैं।^{१६} विभिन्न सम्प्रदायों की एकता तत्तत्सम्प्रदायों के परम तत्त्वों के ऐक्य-निर्दर्शन में परिलक्षित होती है। परा, सार, हृदय, विसर्ग, प्रभु, कालसंकर्षिणी, श्रीपरा तथा मातृसद्भाव आदि संज्ञाएँ एक ही परमोपादेय तत्त्व की विभिन्न अभिधाएँ हैं।^{१७} सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न **शितिकण्ठ** तक हमें यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, विशेषतः जब वह समयविद्या अर्थात् त्रिपुरा दर्शन और क्रम के एकत्व का उद्घोष करते हैं।^{१८} यही कारण है कि वह अनाख्या तथा भासा को अनाख्या-समयेश्वरी व भासा-समयेश्वरी की संज्ञा से पुकारते हैं।^{१९} **शितिकण्ठ** से लगभग तीन सौ वर्ष पूर्व **जयरथ** कुल और त्रिपुरा या वामेश्वरी सम्प्रदाय के अभेद की उद्घोषणा कर चुके थे। उनके अनुसार तो वामेश्वरी सम्प्रदाय की साक्षात् अभिधा थी “कुल”।^{२०} परम्परागत पद्धति का आश्रय लेते हुए उन्होंने स्पन्द, स्फुरत्ता, शक्ति, हृदय, ऊर्मि, संकर्षिणी तथा त्रिपुरा की एक ही तत्त्व के रूप में परिकल्पना की।^{२१}

कभी-कभी विषय या प्रक्रिया-विशेष में दो सम्प्रदायों में साम्य दिखाई देता है। जैसे कुल और क्रम में द्वादशविध संवित् को लेकर **जयरथ** की दृष्टि में उनकी सोदरता प्रकट होती है।^{२२} कुल-दर्शन में इन द्वादश संविदों से भैरव का मुख्य शक्ति-चक्र बनता है और

१४. एतत् वितत्य विख्यातैः क्रमकेलौ कुलागमे । - तदेव, पृ. १८३

१५. एवं च उपक्रमोपसंहारयोर्महार्थसम्पुटीकारं दर्शयन् तत्सारतया समस्तशांकारोपनिषन्मूर्धन्य-
तामस्याविष्करोति शास्त्रस्य । - *स्प.नि.*, पृ. ७४

१६. परापरात्परं तत्त्वं सैषा देवी निगद्यते । तत्सारं तच्च हृदयं स विसर्गः परः प्रभुः ।।
देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी । महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा ।।
श्रीपूर्वशास्त्रे सा मातृसद्भावत्वेन वर्णिता । - *तं.* ३/६६-७१ ख

मिलाइये :-

देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते ।। मातृसद्भावसंज्ञास्यास्तेनोक्ता यत्प्रमातृषु ।

. . . वामेश्वरीतिशब्देन प्रोक्ता श्रीनिशिसंखरे । - *तं.* ४/१७६ख-१७८क

१७. अस्मिंश्चातिनयसारसर्वस्वे क्रमार्ये यच्चरमं स्थानं तत्रैव सर्वेषां क्रमाणां विश्रान्तत्वात् तस्यैव
प्राधान्यात् एकैव समयविद्या । - *म.प्र.(शि.)*, पृ. १२६

१८. तदेव, पृ. १२६

१९. तत्सर्वत्रैव साक्षात्कुलशास्त्रतया व्यपदिष्टेऽमुष्मिन् परमोपादेये शास्त्रे किमेवंविधाया व्याप्तेरनानुगुण्यं
यद्बाधामात्रेणापि न स्पृष्टम् । - *वा.म.वि.*, पृ. २८

२०. पराहंपरामर्शचमत्कारमयी शक्तिरेव अस्मदृशने विश्रान्तिधामतया एष्टव्या यैव स्पन्दस्फुर-
त्तासारोर्मिहृदयसद्भावसंकर्षिणीत्रिपुरादिशब्दैस्तत्र तत्र सर्वत्र उद्घोष्यते । - तदेव, पृ. १०३

२१. तदेव चेदानीं विभज्य दर्शयन् क्रमनयसोदरतामस्य दर्शनस्य आवेदयति । - *तं.वि.*, २, पृ. १५७;
२, पृ. ७७३

इन्हीं से भैरव को पूर्णता प्राप्त होने का प्रतिपादन किया गया है।^{२२} वहीं क्रम-दर्शन में उनको द्वादश कलियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है।^{२३} केवल कुल-दर्शन ही नहीं त्रिक/सार-दर्शन में भी यह प्रत्यय अत्यन्त महत्त्व का भागी हुआ है।^{२४} यहाँ पर संदृब्ध उक्तियों पर विचार किया जाए तो स्पष्ट होगा कि इसी संदर्भ में विचार साम्य के बावजूद भी क्रम और कुल को **जयरथ** जहाँ एक जगह सहोदर मानते हैं, वहीं अन्यत्र क्रम और कुल में सोदर्यता न मानकर सारशास्त्र, त्रिशिरःशास्त्र और कुल में सोदर्यता मानी गई है। इसी प्रकार अनाख्या चक्र, जो महेश्वर के चतुर्थ कृत्य का प्रतीक है और क्रम-चतुष्क की अवधारणा का घटक है, त्रिपुरा सम्प्रदाय की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता के रूप में उभरा है।^{२५} इसके ठीक विपरीत इन्हीं सम्प्रदायों में प्रत्यय-विशेष को लेकर पार्यन्तिक मतभेद भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए वर्ण-सृष्टि के प्रसंग में जहाँ क्रम और अन्य दर्शनों में मातृका-क्रम को केन्द्रीय माना गया है, कुल-दर्शन प्रक्रियागत सन्दर्भों में मालिनी-क्रम के प्राधान्य के प्रति प्रतिश्रुत है। **जयरथ** के *विवरण* को यदि प्रमाण माना जाए तो ऐसा ही दृश्य *वामकेश्वरी तन्त्र*, जो त्रिपुरा सम्प्रदाय का आधार तन्त्र है और *मालिनीविजयोत्तर*, जो त्रिक का मूल तन्त्र है, की तुलना में मिलता है। *वामकेश्वरीमत* मातृका-क्रम से अनुप्राणित है,^{२६} जबकि *मालिनीविजय* मालिनी-क्रम से। इस बात को सम्बल मिलता है *मालिनीविजयोत्तरतन्त्र* के उपजीवी ग्रन्थ *तन्त्रालोक* के इस मन्तव्य से कि जहाँ-जहाँ परम्परा लुप्त या भ्रष्ट हो गई है, उसका संबंध किसी भी सम्प्रदाय से क्यों न हो, की पूर्ति मालिनीन्यास से की जानी चाहिए।^{२७}

२२. संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्वं समाप्यते।

एतावदेवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिचक्रकम्॥

एतावता देवदेवः पूर्णशक्तिः स भैरवः। - तं. ३/२५१ ख-२५२ क

२३. इयत्ताकलनाज्ज्ञानात्ताः प्रोक्ताः कालिकाः क्वचित्। - तं. ३/२५३ क

२४. न केवलमेताः क्रमदर्शनादवेवोक्ता यावदस्मत्प्रयसहोदरेषु शास्त्रेष्वपीत्याह . . . तत्तदनुत्तराद्यामशरूपत्वमप्यासं संविदां श्रीत्रिकसार एव भङ्ग्याभिहितम्। - तं. वि., २, पृ. २३५-३६

२५. सृष्टिस्थितिसंहारानाख्यरूपतया चक्रशब्दव्यपदेश्यम् . . . अतएव . . . निरुपाख्यपरसंविन्मात्रसतत्त्वा महात्रिपुरसुन्दरीशब्दव्यपदेश्या या त्रिपुरा तत्प्रकृतिम् . . .। - वा. म. वि., पृ. २३

२६. श्रीत्रिपुरां मातृकाशब्दव्यपदिष्टामस्मद्दर्शनप्रख्योपाख्यां . . .। - वा. म. वि., पृ. १५

२७. तेन भ्रष्टे विधौ वीर्ये स्वरूपे वानया परम्॥

मन्त्रा न्यस्ताः पुनर्न्यासात् पूर्यन्ते तत्फलप्रदाः। - तं. १५/१३४-३५

जयरथ व्याख्या करते हैं- “तेन शक्यात्मत्वेन हेतुना निजनिजतन्त्रप्रसिद्धविद्याभ्रंशेऽपि तन्त्रान्तरीया मन्त्रा न्यस्ताः . . . मालिन्याः . . . पुनर्न्यासात् स्वाम्नायाम्नातफल-दानोन्मुखाः संपाद्यन्ते इत्यर्थः।” - तं. वि., ६, पृ. २५११; - “नादिफान्ताया मालिन्या विजयेन सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्यः प्लवते।” - तं. वि., १, पृ. ३५

चौथी प्रवृत्ति का दर्शन उन सभी स्थलों पर सहज ही होता है, जहाँ तत्त्व विशेष की सभी सम्प्रदायों में अनुस्यूति सूचित की गई है। जैसे महानयप्रकाशकार (शिवानन्द द्वितीय) यह मानते हैं कि क्रम (महानय) सभी विचारधाराओं में – जैसे कुल, कौल, त्रिक, मत आदि में – व्याप्त है।^{२८} दूसरी ओर कुल को सभी शास्त्रों की आन्तरिक प्रतिष्ठा के रूप में अभिनवगुप्त प्रस्तुत करते हैं।^{२९} यहाँ पर अभिनव कुल की त्रिकरूपता में^{३०} और त्रिक की सर्वशास्त्रोपजीव्यता में सन्देह नहीं रहने देते।^{३१} ठीक इसके विपरीत शितिकण्ठ सारे कुल-दर्शनों में क्रमार्थ को ही उपासनीय मानते हैं।^{३२} शितिकण्ठ के दो शताब्दी पूर्व महेश्वरानन्द इसी अभिप्राय को प्रकट कर चुके हैं।^{३३}

इन सबसे अलग पर इनमें अन्तर्भूत एक पाँचवी प्रवृत्ति भी दिखाई पड़ती है, जिसका उन्मेष कश्मीर की तन्त्रागम-परम्परा की चयनात्मिका वृत्ति में हुआ है। इसे हम एकलेक्टिसिज्म^{३४} के ग्रीक दार्शनिक प्रत्यय से समीकृत कर सकते हैं। इस वृत्ति का विस्तार सम्प्रदायेतर और सम्प्रदायान्तः दोनों ही क्षेत्रों में हुआ है। पर हमारा तत्काल प्रयोजन बाद वाले से है, जिसके परिसर में शैव, शाक्त तन्त्रागम परम्परा के सभी सम्प्रदाय आनुपूर्विक आवयविक परिपूर्णता की डोर से बँधकर सामने आते हैं और इसका पर्यवसान होता है समन्वयात्मिका वृत्ति में, जिसके कारण आगमिक परमार्थ तत्त्व सभी विचार-सरणियों का चरम केन्द्रीय तत्त्व बन जाता है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में क्षेमराज ने “तद्भूमिकाः सर्वदर्शनस्थितयः” (सूत्र ८) द्वारा इसी को वाणी दी है। यह समन्वयात्मिका वृत्ति इन सभी विचार-सरणियों में एक तार्किक, अनुष्ठानात्मक अन्विति को प्रकट करती है। ऊपर चर्चित साम्प्रदायिक अन्तर्विरोध और अनुकूलन का सामञ्जस्य इसी पद्धति से किया जा सकता है, जिससे उनका विशेष चरित्र सुरक्षित रहता है और स्वभाव-साम्य भी उजागर होता है। उदाहरण के लिए स्वयं क्षेमराज

२८. कुलकौलादिकाम्नायशाक्तत्रिकमतादिषु व्यापको हि महानयः। - म.प्र.(त्रि.), १/३०-३१

२९. पुष्पे गंधस्तिले तैलं देहे जीवो जले रसः।

यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्॥ - तं. ३५/३४

३०. तस्य यत्तत् परं प्राप्यं धाम तत् त्रिकशब्दितम्।

सर्वाविभेदानुच्छेदात् तदेव कुलमुच्यते॥ - तं. ३५/३१

३१. एकं प्राणितमेवं स्यात् त्रिकं सर्वेषु शास्त्रतः॥

श्रीमत्कालीकुले चोक्तं पंचस्रोतोविवर्जितम्।

दशाष्टादशभेदस्य सारमेतद्व्यकीर्तितम्॥ - तं. ३५/३२ ख-३३

३२. इत्थं सर्वत्र कुलदर्शनेषु . . . क्रमार्थ उपासितव्यः। - म.प्र.(त्रि.), पृ. १११

३३. महायक्रमस्य सर्वस्रोतोऽतिशायी कोऽपि श्लाघ्यत्वोत्कर्षो ध्वन्यते। - म.मं.प., पृ. १७६

३४. इस शब्द का उचित हिन्दी समानान्तर मेरी जानकारी में नहीं है। यह प्रत्यय हमें सबसे पहले अलेक्जेंडरियन सम्प्रदाय में मिलता है और इसकी निकटतम हिन्दी छाया होगी दार्शनिकप्रत्ययचयनवाद।

इस सूत्र की व्याख्या में बताते हैं कि तान्त्रिक वे हैं जो आत्मतत्त्व को सबसे अतीत मानते हैं, कुलाम्नाय के अनुयायी उसे विश्वमय मानते हैं और त्रिक आदि दर्शनों के जानकार उसे विश्वातीत और विश्वमय दोनों मानते हैं।^{३५}

इस पद्धति में कुल, क्रम, त्रिक, प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द आदि सम्प्रदायों की स्वतन्त्ररूपता का अर्थ उनकी ऐकान्तिकता या आत्यन्तिकता से नहीं है, बल्कि उनकी सजातीयता (*कॉन्गेशन*) से है। यही कारण है कि बार-बार सम्प्रदायगत भेद की घोषणा करने वाला एक ही आचार्य भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों पर कृतियों की रचना करता है। अभिनवगुप्त की प्रसिद्धि के अनेक कारणों में से एक कारण यह भी है कि शैव और शाक्त तन्त्रागम-परम्परा में केवल स्पन्द को छोड़कर, बाकी सभी सम्प्रदायों पर उनकी लेखनी चली है। त्रिक-दर्शन के प्रक्रियाभूत ग्रन्थ *तन्त्रालोक* में जहाँ सारे सम्प्रदायों को स्थान मिला है, वहीं उनके विशिष्ट ग्रन्थों में विशिष्ट सम्प्रदायों की चर्चा हुई है, जैसे त्रिक पर *परात्रिंशिकाविवरण*^{३६} तथा *मालिनीविजयवार्तिक*, प्रत्यभिज्ञा पर *विमर्शिनी* तथा *बृहती विमर्शिनी*, कुल पर *भैरवस्तोत्र*, क्रम पर *क्रमकेलि* तथा *क्रमस्तोत्र*। अभिनवगुप्त के परमेष्ठी गुरु *सोमानन्द*,^{३७} जिन्हें *उत्पल* प्रत्यभिज्ञा जैसे नए मार्ग का अवतारक आचार्य मानते हैं,^{३८} *परात्रिंशिका* पर टीका लिखते हैं, जो आगे चलकर अभिनव के *परात्रिंशिकाविवरण* की उपजीव्य बनती है।^{३९} इसी प्रकार त्रिक-दर्शन की भाँति क्रम-दर्शन के आगम *देवीपञ्चशक्ति* का अर्थबोध *सोमानन्द* से परम्परया अभिनव को प्राप्त होता है।^{४०} अभिनवगुप्त के पट्टशिष्य *क्षेमराज* साक्षात् त्रिक परम्परा से बाहर *स्वच्छन्दतन्त्र* और *नेत्रतन्त्र* के टीकाकार हैं। अपने गुरु अभिनवगुप्त द्वारा जान-बूझकर छोड़ी गई या अनजाने छूट गई *स्पन्दकारिकाओं* पर वह *स्पन्दसन्दोह* और

३५. विश्वोत्तीर्णमात्मतत्त्वम् इति तान्त्रिकाः । विश्वमयम् इति कुलाद्याम्नायनिविष्टाः । विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं च त्रिकादिदर्शनविदः । - *प्र.ह.*, सूत्र ८ पर *क्षेमराज* की टीका; *द्र. क्र.ता.*, १, पृ. ३४-३५ (पादटिप्पणी २)

३६. हम आगे चलकर देखेंगे कि इसे कुल-दर्शन का ग्रन्थ मानने की आधुनिक मान्यता कहाँ तक तर्कसंगत है?

३७. आहास्मत्परमेष्ठी च शिवदृष्ट्यै गुरुत्तमः । - *तं.* १३/१०८

३८. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो,
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा । - *ई.प्र.का.* ४/१/१६

३९. तदुक्तं श्रीसोमानन्दैः . . . इत्यादि निजविवृतौ । - *प.त्रि.वि.*(गुरुदू), पृ. २७-२८

४०. श्रीदेवीपञ्चशक्तिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दभट्टपादेभ्यः प्रमृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः । - *तं.वि.*, ३, पृ. ८१०

स्पन्दनिर्णय जैसी टीकाएँ लिखते हैं। उन दोनों टीकाओं^{४१} तथा उत्पल की स्तोत्रावली की टीका में उन्हें क्रम-दर्शन की प्रधानता दिखाई देती है। क्रम-दर्शन पर उनकी कृति है क्रमसूत्रों की व्याख्या, जो आज केवल उद्धरणों में उपलब्ध है।^{४२} प्रत्यभिज्ञाविषयक उनकी प्रसिद्ध कृति है प्रत्यभिज्ञाहृदय और त्रिक-दर्शन में उनकी कृति है त्रिक के मूल तन्त्र विज्ञानभैरव पर अंशतः उपलब्ध विवृति। प्रत्यभिज्ञा की समानान्तर धारा, जो वसुगुप्त के शिवसूत्रों से निर्गत होती है, पर उनकी प्रसिद्ध कृति है विमर्शिनी। ठीक यही स्थिति हमें आगे चलकर जयरथ के साथ मिलती है। जयरथ तन्त्रालोक पर अपनी विश्रुत टीका के साथ ही त्रिपुरा-दर्शन, जो कुल की एक शाखा है, के वामकेश्वरीमत पर विवरण के रचयिता हैं। उदाहरणों की संख्या बढ़ाना आवश्यक नहीं है। ये केवल यह सिद्ध करते हैं कि एक ही आचार्य बिना किसी दुराग्रह के अनेक सम्प्रदायों को यदि अपनी लेखनी का रस पिता रहा है तो कहीं-न-कहीं उसकी आस्था उनसे बिना विरोध की चेतना के जुड़ी है।

जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं कौटुम्बिकता की यह चेतना सम्बन्धित ग्रन्थों में बार-बार शब्दशः मुखरित हुई है। द्वादश कालिकाओं के प्रसंग में कुलनय को “क्रमनयसोदर” कहा गया है।^{४३} इस सहोदरत्व में भी मात्राभेद तब दिखाई पड़ता है, जब त्रिकसार और त्रिशिरस्तन्त्र को क्रम की अपेक्षा कुल का निकटतर सहोदर बताया जाता है।^{४४} इसी प्रकार क्रम और कुल की समकक्ष्यता का प्रतिपादन किया गया है।^{४५} सोमानन्द शिवाद्वयवाद के प्रति निष्ठा रखते हुए भी शिवदृष्टि का तीसरा आह्विक ही शक्तिपारम्य के प्रतिपादक शक्तिवादियों की आलोचना में लगाते हैं। उत्पल अपनी पदसंगति में इन शक्तिवादियों के प्रतिनिधि के रूप में तत्त्वगर्भस्तोत्र के रचयिता प्रद्युम्नभट्ट का उल्लेख करते हैं और उन्हें “स्वयूध्य” कहते हैं।^{४६} उत्पल की दृष्टि में वे शैव होते हुए भी शक्तिवादी होने के कारण अशैव हैं।^{४७} इसके बावजूद भी उत्पल उन्हें बार-बार स्वयूध्य कहने से नहीं चूकते।^{४८}

४१. एवं प्रथमचरमसूत्राभ्यां महार्थतत्त्वम् - इति स्पन्दतत्त्वेनैव विश्वोपदेशः स्वीकृताः। - स्प.वि., पृ. ४६

४२. यदुक्तं श्रीक्रमसूत्रेषु . . . यथा च व्याख्यातं श्रीमल्लेमराजेन। - म.म.प., पृ. १५६

४३. . . . क्रमनयसोदरतामस्य दर्शनस्य आवेदयति। - तं.वि., ३, पृ. ७७३

४४. न केवलमेताः क्रमदर्शनादावेवोक्ता यावदस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेष्वपि। - तदेव, पृ. २३५-३६

४५. तदत्र क्रमनयसमानकक्ष्यत्वविवक्षायाम्। - तदेव, ३, पृ. १८६

४६. अद्वयवादः स्थितः, पश्यन्तीविचारादनन्तरं स्वयूथ्यानद्वयवादिनः प्रति इदानीम् आरम्भः।

- शि.दृ.वृ., पृ. ६४

४७. शक्तिवादिभिः . . . शैवदर्शनस्थितैरपि . . . तैरशैवत्वमात्मन उक्तम्। - तदेव, पृ. १०१-०२

४८. . . . इति शैवदर्शनानुपपत्तिः स्वयूथ्यानाम्। - शि.दृ.वृ., पृ. ६८

उनकी स्वयूथ्यता का सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि **सोमानन्द** द्वारा प्रवर्तित प्रत्यभिज्ञा की मूल मान्यता — जीवन का लक्षण है ज्ञान और क्रिया के रूप में आत्मैश्वर्य का प्रत्यभिज्ञान^{४६} — के समर्थन में **अभिनव प्रद्युम्नभट्ट** को उद्धृत करते हैं।^{४७}

सहोदरत्व, समानकक्ष्यत्व अथवा स्वयूथ्यत्व की धारणा के अतिरिक्त विकसनशील तारतम्यात्मक अन्विति के निरन्तर अनुसन्धान और सतत प्रतिष्ठापन के द्वारा सारे सम्प्रदायों के आवयविक समन्वयन का एक ऐतिहासिक प्रयास हमें **तन्त्रालोक** में मिलता है। **अभिनव तन्त्रालोक** में अपने प्रतिज्ञा-वाक्य, कि वह अनुत्तरषडर्थाथक्रम के एक सम्पूर्ण प्रक्रिया ग्रन्थ की रचना करने जा रहे हैं^{४८} और इसका आधार **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र** है,^{४९} के निर्वाह हेतु तान्त्रिक विचारधारा से सम्बद्ध सभी सम्प्रदायों, प्रक्रियाओं, दार्शनिक दृष्टियों व साधना विधियों को एक व्यापकतर दृष्टि का अंग बनाकर समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। इसका कारण है कि वह **मालिनीमत** को सारे शैव शास्त्रों का सार मानते हैं^{५०} और यह घोषणा करते हैं कि जो कुछ **मालिनीविजयोत्तरतन्त्र** में नहीं है, वह कहीं नहीं है।^{५१} इसी की अनुगूँज **तन्त्रालोक** के उपसंहारात्मक श्लोक^{५२} में भी सुनाई पड़ती है। इसी दृष्टि से पूरे **तन्त्रालोक** में ज्ञान के स्तर पर, प्रक्रिया के स्तर पर, योग के स्तर पर तथा चर्या के स्तर पर सर्वत्र इस समन्वयात्मिका प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। इसी सन्दर्भ में वे **तन्त्रालोक** की विषय-वस्तु को चार उपायों में वर्गीकृत कर प्रस्तुत करते हैं।^{५३} ये चार उपाय सम्प्रदाय के स्तर पर, साधना प्रक्रिया के स्तर पर, अधिकारी के स्तर पर, तथा शक्ति के प्रसार के स्तर पर तन्त्रों में उपलब्ध चार प्रमुख दृष्टियों के प्रतिनिधि हैं। अतः

४६. अतएव यथाभीष्टसमुल्लेखावभासनात् ।

ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः ॥ — ई.प्र.का. १/६/१

५०. श्रीमद्रष्टृप्रद्युम्नपादैः संविच्छक्तिप्रसरमात्रां षट्त्रिंशत्तत्त्वमुपपाद्य यत् वितत्य विकल्पप्रतिभासनस्य स्वातन्त्र्यमुदितं तत्र एतत्सूत्रार्थ एव सारमिति मन्तव्यम् । — ई.प्र.वि.वि., २, पृ. ३३७

५१. तं. १/१४-१५

५२. . . . श्रीमालिनीविजयोत्तरमेवाधिकृत्य तन्निर्वाहयिष्यते . . . । — तं.वि., १, पृ. ३५

५३. दशाष्टादशवष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।

तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥ — तं. १/१८

५४. न तदस्तीह यत्र श्रीमालिनीविजयोत्तरे । — तदेव १/१७ क

५५. अध्युष्टसन्ततिस्त्रोतःसारभूतरसाह्वतिम् ।

विधाय तन्त्रालोकोऽयं स्यन्दते सकलाग्रसान् ॥ — तदेव ३६/१५

५६. इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम् ।

तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्यत्र शासने ॥ — तदेव १/२४५

अभिन्नव के द्वारा प्रतिपाद्य अनुत्तरषडर्धशास्त्र या अनुत्तरत्रिक सारी दृष्टियों को समग्र भाव से लेकर ही उपस्थित होता है।^{५७}

इस प्रकार अद्वयवाद के प्रतिपादक विविध शैव ग्रन्थों में विविध सम्प्रदायों की स्थिति के सन्दर्भ में उपलब्ध विवरणों के विश्लेषण से जो प्रमुख तथ्य उभरकर सामने आते हैं वे इस प्रकार हैं :

- (क) विविध सम्प्रदायों की स्वतन्त्र स्थिति का स्पष्ट अभ्युपगम,
- (ख) विविध सम्प्रदायों में एकान्वयिता का दर्शन,
- (ग) विविध सम्प्रदायों में व्याप्यव्यापकभाव की चेतना,
- (घ) विविध सम्प्रदायों में विशिष्टविषयगत सादृश्य, परन्तु अन्य सन्दर्भों में भेद की दृष्टि, तथा
- (ङ) विविध सम्प्रदायों में एक आनुपूर्विक आवयविक परिपूर्णता का दृढ अनुसंधान।

इन तथ्यों के प्रकाश में कुल तथा क्रम मत के ऐतिहासिक इतिवृत्त एवं स्वरूप की गवेषणा का प्रयास अपेक्षित है। हम इसी दृष्टि से उपलब्ध विवरणों के विरोधाभासों की पृष्ठभूमि में जाकर इन दोनों सम्प्रदायों की यथास्थिति का विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

५७. इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्शयते तच्छिवाज्ञया।

मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात् ॥ - तदेव १/१०६

कुल-मत

शिवाद्वयवाद में कुल-मत का विशिष्ट स्थान - तान्त्रिक विचारधारा में दो परम्पराएँ : पाशुपत एवं कापालिक - श्रीकण्ठ व लकुलीश की धारा - श्रीकण्ठ की धारा में अर्धचतस्र (साढ़े तीन) मटिकाओं का उदय - कुल-धारा का उद्भव त्र्यम्बक की पुत्री से - अद्वैतदृष्टि-प्रधान त्रिक व कुल सम्प्रदाय के उदय में कापालिक परम्परा का अवदान - कुल-प्रक्रिया : उच्चतर साधना पद्धति- शैवागमों के वर्गीकरण में भैरव तन्त्रों की स्थिति - कुल-मत - वाम व दक्ष धाराओं का समन्वय - भैरव तन्त्रों में दो अन्तर्धाराएँ - मन्त्रपीठ की तथा विद्यापीठ की (विद्यापीठ द्विविध : यामल तन्त्र व शक्ति तन्त्र; शक्ति तन्त्र : त्रिक तन्त्र व काली तन्त्र) - विद्यापीठ : कौलतत्त्व-प्रधान धारा - कुल-प्रक्रिया में दो प्रवृत्तियाँ : शैव एवं शाक्त - कुल-प्रक्रिया की सभी सम्प्रदायों में व्यापकता - कुल-मत/प्रक्रिया का पारिभाषिक स्वरूप : सामस्त्य भाव की चेतना का प्राधान्य - कुल-मत पराद्वैत - कुल-मत बनाम कुल-प्रक्रिया - वक्त्र परम्परा के सन्दर्भ में कुल-मत - विविध वक्त्रों के साथ कुल-मत का सम्बन्ध : ऊर्ध्ववक्त्र, अधोवक्त्र, पिचुवक्त्र, पातालवक्त्र, योगिनीवक्त्र, गुरुवक्त्र - कुल-मत : योगिनीवक्त्र सम्प्रदाय - कुल तन्त्र - कुल-मत का अवतरण-क्रम तथा इतिहास - अतिगोप्यता की चेतना - कुल बनाम कौल मत - कुल-मत के अवान्तर भेद - कुल-मत का साहित्य - कुल-मत एवं आम्नाय विभाजन - चार आम्नायों में विकसित कुल-मत के चार प्रारूप - पूर्वाम्नाय : परा, परापरा व अपरा पर केन्द्रित मीमांसा तथा साधना पद्धति; कुलेश्वर और कुलेश्वर मुख्य उपास्य; समावेश की प्रतिष्ठा - उत्तराम्नाय: काली-केन्द्रित दर्शन और उपासना पद्धति; कालसंकर्षिणी-प्रधान उपास्य - दक्षिणाम्नाय: त्रिपुरसुन्दरी से सम्बद्ध कुल-धारा; कामेश्वर तथा कामेश्वरी केन्द्रित उपासना - पश्चिमाम्नाय: कुब्जिका-केन्द्रित कुल-धारा; शैव और शाक्त उभयमुखी परम्परा (शक्ति पक्ष में कुब्जिका और शैव पक्ष में मन्थानभैरव प्रधान उपास्य) - कुल-प्रक्रिया के रूप में ही कुल-मत की अन्वर्थता - कुल-मत का सैद्धान्तिक पक्ष- कुल, कौलिकी शक्ति, अकुल, कौल, कौल तत्त्व, विसर्ग शक्ति का आमर्शात्मना प्रसार, विसर्ग शक्ति की स्पन्दनात्मता - विसर्ग शक्ति कुल साधना-विधि का अनिवार्य घटक - कुल साधक के पाँच लक्षण- लिङ्ग-त्रैविध्य - आनन्द की धारणा

कुल-मत का केन्द्रीय प्रत्यय - कुल-प्रक्रिया : एक रहस्यविधि - तन्त्र प्रक्रिया से कुल-प्रक्रिया के भेद के आधार : अधिकारी, मन्त्रसामर्थ्य, अधिकरण, इतिकर्तव्यता - समस्त निषेधों का स्वीकरण - पञ्च मकार - आद्ययाग/आदियाग : कुल-प्रक्रिया का अनिवार्य अनुष्ठान - काययाग - शोधशोधक भाव - कुलविधि के छह अधिकरण - चक्र की धारणा - कुल-प्रक्रिया एवं शांभवोपाय - साधकों की तीन कोटियाँ - बाह्यचर्या व रहस्यचर्या - योगिनीभू - कुल-प्रक्रिया - कुल याग का सम्पादन - कुल याग के सम्पादन के तीन मार्ग : मन का मार्ग, वाक् का मार्ग, काय का मार्ग - कुल याग के अनुष्ठान की विधि - कौलिकीसिद्धि-लाभ - कुल-प्रक्रिया का स्वरूप लक्षण : आदियाग - स्वात्मचमत्कारात्मक संवित् (पूर्णता, आनन्द, स्वातन्त्र्य का सम्पुटी भाव) का उदय - कुल-मत के सन्दर्भ में अभिनवगुप्त का विशिष्ट योगदान - अनुत्तरत्रिक - सम्प्रदायों की विविध रूप से उपलब्ध आनुपूर्वी के मूल में प्रयोजन वैविध्य - कुल-मत : अद्वैत साधना-पद्धतियों का सार।

शैवागमों में पल्लवित अद्वैतवादी दृष्टि में कुल-मत का अपना एक अति विशिष्ट स्थान है। आगमों में विकसित अद्वयवादी धारा के अन्तर्गत प्रायः तीन सम्प्रदायों की विशेषतः चर्या की जाती है - त्रिक,^१ क्रम तथा कुल। इनके अतिरिक्त भारत के दक्षिण में विकसित त्रिपुरा सम्प्रदाय का भी विशेष महत्त्व है। यद्यपि तन्त्रों में अद्वैत दृष्टि का पल्लवन अन्य प्रकार से भी हुआ है, पर इन प्रारूपों का ही स्वतन्त्र सम्प्रदायों के रूप में विशेषतः विवेचन किया गया उपलब्ध होता है।

सम्पूर्ण तान्त्रिक विचारधारा का प्रारम्भ पाशुपत व कापालिक परम्परा से माना जाता है। अतः उत्तरकाल में विकसित सभी तान्त्रिक वर्गों के मूल में इन्हीं दो में से एक दृष्टि रहती है। पाशुपत मत जहाँ शुद्ध संन्यासियों की परम्परा है, वहीं कापालिक परम्परा उन साधकों की परम्परा है जो अधिक उग्र चर्याओं के सम्पादन के द्वारा विविध सिद्धियों की प्राप्ति का प्रयास करते थे। **अभिनवगुप्त** सम्भवतः इसी तथ्य को मूल में रखकर *तन्त्रालोक* में यह बताते हैं कि शैव शास्त्रों का विकास दो धाराओं में हुआ -

(क) **श्रीकण्ठ** की धारा

(ख) **लकुलेश्वर** की धारा^२

१. यद्यपि **अभिनवगुप्त** द्वारा प्रयुक्त "त्रिक" के प्रत्यय का अर्थ अति व्यापक है, जिसमें ये तीनों ही सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हैं, तथापि त्रिक शब्द को संकुचित अर्थों में ग्रहण करने पर त्रिक मात्र प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का वाचक रहता है। प्रकृत स्थल में प्रयुक्त त्रिक शब्द से जिस दृष्टि को व्यक्त किया जा रहा है, वह त्रिक तन्त्रों में उल्लिखित मत की प्रतिनिधि है।

२. द्वावाप्तौ तत्र च श्रीमच्छ्रीकण्ठलकुलेश्वरौ॥

द्विप्रवाहमिदं शास्त्रं सम्यङ्निःश्रेयसप्रदम्। - तं. ३७/१४ख-१५क

इस **श्रीकण्ठ** की धारा से ही उस त्रिक धारा का विकास (**इवोत्यून**) होता है, जिसका विवेचन **अभिनवगुप्त** अपने ग्रन्थों में करते हैं।^१ इस त्रिक में अर्धचतस्र मटिकाओं से उद्धृत अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा कुल-धारा का समन्वित प्रवाह विद्यमान है,^२ जिसे वह अनुत्तर

→

श्रीकण्ठ से प्रवर्तित धारा कापालिक परम्परा से सम्बद्ध है। वस्तुतः **त्र्यम्बक** से जुड़े दोनों सम्प्रदायों – त्रैयम्बक और अर्धत्रैयम्बक, का गुर्वायातिक्रम भी इसी स्रोत से जुड़ता है। इसका ही पञ्च-स्रोत रूप से विभाजन किया जाता है और इसी को त्रिविध वर्गीकरण के अन्तर्गत १०, १८, तथा ६४ तन्त्रों के क्रमशः शिव, रुद्र व भैरव संज्ञक वर्गों के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है। यह सिद्धि, मुक्ति या शक्ति का सम्प्रदाय है।

लकुलेश्वर से पाशुपत परम्परा को जोड़ा जाता है। यद्यपि **सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त** जैसे आधुनिक विद्वान् पाशुपत और नकुलीश पाशुपत को अभिन्न मानते हैं (द्र. मेरा लेख “पाशुपतदर्शन एवं नकुलीश पाशुपतदर्शन: एक तुलनात्मक अनुशीलन”, *शोध-प्रभा*, ला.ब. शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली, वर्ष ८, अंक १, १९८४-८५, पृ. १८६), पारम्परिक मनीषा इन्हें भिन्न मानने के पक्ष में रही है। **लकुलेश्वर** कहने से **अभिनवगुप्त** का झुकाव नकुलीश या लकुलीश पाशुपत के प्रति स्पष्ट झलकता है। स्वातन्त्र्य या शक्ति की धारणा के बीज इस सम्प्रदाय में स्फुट रूप से मिलते हैं। “भुक्ति-मुक्ति महोदय” की अवधारणा इस द्विप्रवाहात्मकता से प्रतिफलित होती है।

३. यहाँ वर्णित कुल-मत के उद्विकासात्मक इतिवृत्त को समझने का आधार विशेषतः **अभिनवगुप्त** के ग्रन्थों को ही बनाया गया है। क्योंकि उनसे पूर्व की सामग्री या तो आज उपलब्ध नहीं है और या जो उपलब्ध भी है (स्वतन्त्र ग्रन्थों या मात्र उद्धरणों के माध्यम से) वह स्पष्ट, निर्णयात्मक व पर्वत आधारभूमि प्रदान नहीं करती। अतः यहाँ प्रस्तुत विवरण पर **अभिनवगुप्त** के निर्णयों का प्रभाव स्वभावतः दृष्टिगोचर होगा। वास्तव में कुल-मत का क्या स्वरूप था, जिसकी वह *तन्त्रालोक* के चतुर्थ आह्निक में आलोचना करते हैं: यह जानने के लिए उन्हीं के निरूपण ही एकमात्र उपाय हैं। अन्ततः वह त्रिक के व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में अनुत्तर त्रिक के रूप में जिस अवधारणा को विकसित करते हैं, उसी में पल्लवित “कुल-धारा” के स्वरूप को ही आधार बनाकर इस अध्याय में कुल-मत की चर्चा का प्रयास किया गया है।

४. तेषां क्रमेण तन्मध्ये भ्रष्टं कालान्तराद्यदा। तदा श्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन्।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये। द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने॥
आद्यस्य चान्यो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात्। स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः।
अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मटिकाः सन्ततिक्रमात्। शिष्यप्रशिष्यैर्विस्तीर्णाः शतशाखं व्यवस्थितैः॥

— तं. ३६/११-१५

सामान्यतः यह विवरण **सोमानन्द** के द्वारा *शिवदृष्टि* में दिए गए विवरण से मिलता है, सिवाय इसके कि **श्रीकण्ठ** और **त्र्यम्बक** के मध्य **दुर्वासा** की भी गणना **सोमानन्द** करते हैं। एक अन्तर और भी है। यहाँ **त्र्यम्बक** आदि को ही सिद्ध बताया गया है, जबकि *शिवदृष्टि* में सिद्धों का अवतरण **त्र्यम्बकादित्य** (**सोमानन्द** “आदित्य” शब्द जोड़ते हैं) से बताया गया है। दे. *शि.दृ.* ७/१०६-१११; और भी देखिए *ई.प्र.वि.वि.*, ३, पृ. ४०२।

त्रिक या अनुत्तर षडर्ध-क्रम^५ की संज्ञा देते हैं। इस प्रकार कुल-मत का उद्भव उसी स्रोत से हुआ है जिससे बाकी तान्त्रिक पद्धतियाँ उद्भक्तिसित होती हैं, परन्तु इसका उनसे भेद भी स्पष्टतः माना गया है। जहाँ अन्य तान्त्रिक दृष्टियाँ **त्र्यम्बक, अमर्दक** व **श्रीनाथ** के द्वारा प्रतिपादित मठिकाओं से प्रारम्भ होती हैं, वहीं कुल-धारा का उद्भव **त्र्यम्बक** की पुत्री के क्रम से स्वीकृत किया गया है। इसे यहाँ अर्धमठिका या अर्ध-त्र्यम्बक कहा गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य इस सैद्धान्तिक मान्यता की पृष्ठभूमि का निर्माण करता है कि कुल सम्प्रदाय शक्ति की प्रधानता का पोषक सम्प्रदाय है।^६

कुल-मत का पल्लवन विशेषतः अद्वैतवादी दृष्टि के अन्तर्गत ही हुआ है। इस तथ्य की भी स्वीकृति त्र्यम्बक व अर्धत्र्यम्बक रूप दो मठिकाओं से क्रमशः अद्वैत धारा व कुल-मत के उद्गम-निरूपण में मिलती है।^७ इस **श्रीकण्ठ** की धारा को यदि उस कापालिक परम्परा से सम्बद्ध किया जाए तो यह पूरी त्रिक धारा उसी कापालिक परम्परा से जुड़ जाती है। फलतः तन्त्र-प्रक्रिया व कुल-प्रक्रिया के उभय वर्गों में जो शक्ति तत्त्वों का प्राधान्य, पञ्चमकारात्मक साधना का प्रामुख्य, रहस्यचर्या का विशेष उपदेश, भैरव के भीषण रूप की कल्पना आदि समान वैशिष्ट्य मिलते हैं, उनके रहस्य की गुथियाँ ढीली पड़ने लगती हैं।

तान्त्रिक साधना-पद्धति में कुल-प्रक्रिया को तन्त्र-प्रक्रिया से उच्चतर साधना-पद्धति का आसन दिया गया है। सम्भवतः अन्य तान्त्रिक पद्धतियाँ जिस निर्विकल्पावस्था तक ले जाने में सोपान बनती हैं, उस निर्विकल्पावस्था को प्ररूढावस्था तक पहुँचाकर तज्जन्य या तद्गत आत्म-तृप्ति के आनन्द का भोग कराना कुल-प्रक्रिया का स्वरूपलक्षण है।^८ इसी कारण कुल-पद्धति का विकास अति व्यापक स्तर पर दिखाई पड़ता है।^९ प्रत्येक अद्वैत-प्रधान

५. सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा।

अनुत्तरषडर्धार्धक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ॥ - तदेव १/१४

६. . . . कुल-प्रक्रियायां हि दूतीमन्तरेण क्वचिदपि कर्मणि नाधिकारः इत्यतस्तत्सहभावोपनिबन्धनम्।

- तं.वि., २, पृ. ३२

७. *शिवदृष्टि* से पता चलता है कि **त्र्यम्बक** की मठिका का नाम भी "त्र्यम्बक" या देशी भाषा में "तेराम्बा" था (*शि.दृ.* ७/१२१-१२२) और ऊपर *तन्त्रालोक* (३६/१३) के विवरण से दुहितृक्रम या मठिका का नाम था "अर्ध-त्र्यम्बक"।

८. तादृग्यूपनिरुद्धयर्थं मनोवाक्कायवर्त्तना।

यद्यत्समाचरेद्भिरः कुलयागः स स स्मृतः ॥ - तं. २६/६

९. **जयरथ** *वामकेश्वरीमतविवरण* में इसी तथ्य की उद्घोषणा हेतु प्रतिपक्षी को, उसी की उक्ति को उद्धृत करते हुए, अपने मत में प्रविष्ट दिखाते हैं -

ऊर्मिरिति भोगिनीत्यपि कुब्जेति कुलेश्वरीति जगदुयाम्।

श्रीकालकर्षणीत्यपि कुण्डलिनीत्यपि च नैमि तां देवीम् ॥ - वा.म.वि., पृ. २८

तान्त्रिक मत में एक विशिष्ट कुल-पद्धति का विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप नाना कुल-विधियों का उल्लेख प्राप्त होता है।^{१०} इसी कारण प्रारम्भ से कुलागमों की परम्परा शैवागमों की परम्परा के साथ समानान्तर रूप से विकसित होती आई है। यद्यपि प्राचीन तान्त्रिक साहित्य में कुल-धारा का स्पष्ट स्वरूप क्या था, इस विषय में स्पष्ट विवरण आज उपलब्ध नहीं है, पर जो भी प्राचीन शैव आगम व तन्त्र आज उपलब्ध हैं, उनमें कुल-धारा का कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य मिलता है। इससे यह निश्चित लगता है कि वे इस धारा से परिचित अवश्य थे। यद्यपि सिद्धान्तागम कुल-पद्धति से पूर्णतया मुक्त हैं, परन्तु वे भी इसके ग्रन्थों का कहीं-कहीं उल्लेख करते हैं।^{११}

शैवागमों के प्रारम्भिक वर्गीकरण में पञ्च-वक्त्रों के आधार पर पञ्च-स्रोतों का जो उल्लेख मिलता है, उसमें अधोर मुख से निकला दक्षिण स्रोत अद्वैतवादी भैरव तन्त्रों का उद्गम माना जाता है।^{१२} *श्रीकण्ठीयसंहिता* इस पञ्चविध विभाजन के स्थान पर त्रिविध विभाजन प्रस्तुत करती है और उस विभाजन को पञ्च-स्रोतों के विभाजन से समन्वित करने का प्रयास करती है।^{१३} *जयरथ* के अनुसार, त्रिक परम्परा में *श्रीकण्ठीयसंहिता* के द्वारा प्रस्तुत यह वर्गीकरण ही *अभिनवगुप्त* के द्वारा मुख्य प्रमाण माना गया है। इस त्रिविध विभाजन में भी चौसठ^{१४} भैरव तन्त्र उसी अधोर नामक दक्षिण वक्त्र से जोड़े गए हैं।^{१५} इस प्रकार यह अद्वैत धारा इसी मुख से निर्गत है। फलतः कौल-धारा का सम्बन्ध

१० . . . कुलशास्त्राणामानन्त्यात् तन्नाम्नामपि नानात्वात् । - *तं.वि.*, ७, पृ. ३३२८

११. पश्चिमाद् वामसंज्ञं तु वामाद् दक्षिणमुत्तमम् ।
दक्षिणात् कौलिकं श्रेष्ठं महाकौलं ततः परम् ।।

पूर्वाम्नायं ततश्चैष्टं तस्मात् सिद्धान्तमुत्तमम् । - *उत्तरकामिकागम* २४/६२-६३क, *कैनन ऑफ शैवागम* ०, पृ. १६२ पर उद्धृत

१२. *उत्तरकामिकागम*, तत्रैव, पृ. १४८ पर उद्धृत ।

१३. *तं.वि.*, २, पृ. ३६-४४ ।

१४. यदि पञ्च-स्रोतों के इस वर्गीकरण में प्रतिपादित दक्षिण तन्त्रों का *श्रीकण्ठीयसंहिता* में प्रतिपादित दक्षिण मुख से उद्गत चौसठ भैरव तन्त्रों के साथ समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जाए तो उपलब्ध विवरणों से इन दोनों दृष्टियों में कुछ अंशों में समानता सिद्ध होती है। जैसे दक्षिण तन्त्रों में गिने गए बत्तीस तन्त्रों में प्रथम आठ तन्त्र तथा भैरव तन्त्रों के मुख्य भैरवाष्टक तन्त्र एक ही हैं ।

१५. तथा च अद्वयस्वभावे स्वरूपे शिवशक्तितत्संघट्टाख्ययोगिनीवक्त्रात्मनि दक्षिणवक्त्रे प्रत्येकम् उदबुधूषू-दूत-तिरोधित्सु-तिरोहितात्मकतया चतुरूपत्वेन भेदषोडशात्मकम् इतरद्वक्त्रचतुष्टयं यदा युगपदन्तर्लीनतामेति तदेषां परस्परमेलनया चतुःषष्टिरद्वयप्रधाना भैरवभेदाः ।

- *तं.वि.*, २, पृ. ४०-४१

भी इस से जुड़ जाता है,^{१६} यद्यपि प्राचीन वर्गीकरण में वाम मुख से निर्गत वाम तन्त्रों को भी कौल-धारा से जोड़ा जाता है। वाम तन्त्रों का वैशिष्ट्य है शक्ति की प्रधानता। अतः कौल-धारा को वाम व दक्षिण दोनों स्रोतों में उपलब्ध तत्त्वों से पूर्ण कहा गया है।^{१७} वाम तन्त्रों में सिद्धियों की प्राप्ति पर आग्रह है और दक्ष या दक्षिण धारा के तन्त्रों, जिन्हें भैरव तन्त्र कहा गया है, में रौद्र कर्मों (अभिचार कर्म, जैसे मारण, उच्चाटन, आदि) का प्राधान्य है।^{१८} कुल-धारा में दोनों ही तत्त्व उपलब्ध होते हैं, इसी कारण इसे वाम व दक्ष धारा के अति नैकट्य के कारण उनकी अन्त्यभूमि की भी पराकाष्ठा रूप धारा कहा गया है।^{१९}

भैरव तन्त्रों में दो प्रधान धाराएँ मिलती हैं – मन्त्रपीठ की व विद्यापीठ की।^{२०} इस विद्यापीठ में पुनः दो तरह की धाराएँ उन्मिषित होती दिखाई पड़ती हैं – प्रथम, यामल तन्त्रों की धारा व द्वितीय, शक्ति तन्त्रों की धारा। यामल तन्त्रों में जहाँ शिव व शक्ति के यामल

१६. अभिनवगुप्त जिस अनुत्तर त्रिक की चर्चा करते हैं वह ईशान, वाम तथा दक्षिण तीनों वक्त्रों को क्रोडीकृत कर प्रवृत्त होने वाला त्रिक है :-

ईशानवामदक्षासु तासु शक्तित्रयं क्रमात् ॥ परादिशक्तित्रितयं क्रोडीकृत्यावतिष्ठते । . . .

ऊर्ध्ववामतदन्यानि तन्त्राणि कुलानि च । रुढान्यमुष्य धारायां भेदसंकोचहानये ॥

— मा.वि.वा. २/३६६ख-३६८

विवेक के मुद्रित संस्करण में जयरथ का पाठ इस प्रकार है :-

ईशानवामदक्षासु तासु शक्तित्रयं क्रमात् ॥ अपरादिपराप्रान्तं क्रोडीकृत्य त्रिकं स्थितः ॥

ऊर्ध्ववामतदन्यानि तन्त्राणि च कुलानि च । तद्धाराप्रान्तरुढानि प्रापय्याभेदभूमिकाम् ॥

— तं.वि., २, पृ. ४६

पर त्रिक की सर्वोच्च स्थिति (प्रान्त धारा) की पार्यान्तिक भूमि में कुल-धारा ही प्रवाहित हो रही है :-

धारा प्रान्तधाराप्रान्ते कौलिकी विजृम्भते । — मा.वि.वा. १/३६५०

१७. अशेषतन्त्रसारं तु वामदक्षिणमाश्रितम् ।

एकत्र मिलितं कौलं श्रीषडर्धकशासने ॥ — तं. ३७/२६

नेत्रतन्त्र पर अपनी टीका में क्षेमराज कुलाम्नाय को वाम, दक्ष व ऊर्ध्व धाराओं का अविभक्त सार ही कहते हैं। — ने.तं.उ., १, पृ. २५२

१८. दक्षिणं रौद्रकर्माद्वयं वामं सिद्धिसमाकुलम् ॥ — तं. ३७/२७ख

१९. अतएव हि नैकट्याद्धामदक्षिणशास्त्रयोः ।

धारा प्रान्तधाराप्रान्ते कौलिकी प्रविजृम्भते ॥ — मा.वि.वा. १/३६४ख-३६५क

२०. “पीठ” तन्त्रों का एक महत्त्वपूर्ण प्रत्यय है। वैसे पीठ शब्द का शाब्दिक अभिप्राय “आसन” (देवी/देवता का आसन) से लिया जाता है। पर उसके अन्य सन्दर्भगत अर्थ भी हैं। ध्यान के केन्द्र-भूत स्थानों को भी पीठ कहते हैं। तान्त्रिक आगमों के वर्गीकरण के सन्दर्भ में प्रयुक्त पीठ

भाव की प्रधानता है, वहीं शक्ति तन्त्रों में शक्ति की। शक्ति तन्त्रों को पुनः त्रिक तन्त्र तथा काली तन्त्र के रूप में बाँट सकते हैं। त्रिक तन्त्र परा, अपरा व परापरा विद्याओं के तन्त्र हैं तथा काली तन्त्र काली की प्रधानता के उद्घोषक तन्त्र हैं। इन विद्यापीठ की धारा के तन्त्रों में विशेषतः कौल-मत का उपबृंहण होता है।^{२१}

→ शब्द का अभिप्राय एक प्रकार के आगमों या शास्त्रों के समूह से है अथवा एक तरह के विषय के संग्रह से है (प्रोक्तं भगवता किल समूहः पीठमेतच्च । - तं. ३७/१८)। अतः पीठचतुष्टय में ४ विषयों - मन्त्र, विद्या, मुद्रा व मण्डल - को आधार बनाकर विषय या तन्त्रों का संग्रह किया गया है। इन चारों में मन्त्र व विद्या विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मन्त्र मननात्मक व त्राणद है, विद्या उसकी उपोद्बलक है तथा वेद्य अर्थों की अवभासिका है। मुद्रा मन्त्र की ही प्रतिकृति है और मण्डल, जो कि साररूप शिव है, के द्वारा इसका परिपोषण होता है (तं. ३७/१६, ख-२१)। एक ही तन्त्र में इन चारों विषयों की एक साथ उपस्थिति होती है, पर इनमें से किसी एक विषय की प्रधानता के कारण इसे उस पीठ का तन्त्र मान लिया जाता है।

२१. ब्रह्मयामल तन्त्र के अनुसार विद्या और मन्त्र पीठ के तन्त्र दक्षिण-धारा के अन्तर्गत आते हैं तथा शेष अन्य धाराओं के तन्त्र मुद्रा और मण्डल पीठ के अन्तर्गत। जयद्रथयामल तन्त्र के अनुसार विद्यापीठ के अन्तर्गत तीन धाराओं - दक्ष, वाम तथा मध्य - के तन्त्र आते हैं। यहाँ इन त्रिविध धाराओं के विवेचन में सिद्धान्तागमों को बिलकुल बाहर रखा गया है और मध्य धारा के लिए “शक्तितन्त्र” नामक एक अन्य कोटि की कल्पना की गई है। इस कोटि में सिद्धयोगेश्वरीमत, सर्ववीरतन्त्र, जयद्रथयामल आदि तन्त्र रखे गए हैं। मन्त्रपीठ में शिव भाव की प्रधानता है तथा विद्यापीठ में शक्ति भाव की। पर इन दोनों ही पीठों के तन्त्रों में एक अन्तःसम्बन्ध का सूत्र विद्यमान है। जैसे मन्त्रपीठ के तन्त्र स्वच्छन्दतन्त्र व विद्यापीठ के तन्त्र मालिनीविजयोत्तरतन्त्र के मध्य कई सन्दर्भों में पूर्वपूरक भाव उपलब्ध होता है। अभिनवगुप्त विद्यापीठ को सभी पीठों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे इसे सभी पीठों का सार बताते हैं और त्रिकतन्त्रों को उसी से जोड़ते हैं:-

प्रत्येकं तच्चतुर्वैवं मण्डलं मुद्रिका तथा ॥

मन्त्रो विद्येति च पीठमुत्कृष्टं चोत्तरोत्तरम् ।

विद्यापीठप्रधानं च सिद्धयोगीश्वरमतम् ॥

तस्यापि परमं सारं मालिनीविजयोत्तरम् । - तं. ३७/२३ख-२५क

इस प्रकार में जयरथ अपने वामकेश्वरीमतविवरण में एक महत्त्वपूर्ण संकेत करते हैं। तान्त्रिक अर्थ-पारमर्त्य के छठे और सर्वोच्च प्रकार, महापरमतत्त्वार्थ, को वे एक ओर अनुपाय से जोड़ते हैं, तो दूसरी ओर इसे विद्यापीठ का प्रधान लक्षण मानते हैं। इसके प्रमाण में वे आगम को उद्धृत करते हैं, यद्यपि इस आगम का नाम नहीं देते। उसका सम्बन्धित अंश इस प्रकार है -

महापरमतत्त्वार्थः परमात्मवदास्थितः ॥

शिवगुर्वात्मसंवादरूपेणार्थावभासकः ।

निरस्तसर्वसंकल्पविकल्पस्थितिपूर्वकः ॥

विद्यापीठनिबद्धेषु संस्थितः पिण्डसिद्धिदः । - वा.म.वि., पृ. १३८-३६

यद्यपि प्राप्त विवेचनों से यही प्रतीत होता है कि कुल-मत में शाक्त प्रवृत्तियों का ही प्राधान्य है, तथापि कुल साधनाविधि शैव तथा शाक्त दोनों ही साधकों में समान रूप से प्रचलित थी। अतः कहना होगा कि कुल-मत का विकास शांभव दृष्टि से भी हुआ तथा शाक्त दृष्टि से भी। शांभव साधकों ने जहाँ अनुत्तर रूप सैतीसवें तत्त्व की अलग से कल्पना की, वहीं शाक्तमतानुयायी साधकों ने कुलेश्वर व कुलेश्वरी के संघट्ट रूप को ही परम कौल तत्त्व माना। तन्त्रों में यह शाक्त दृष्टि त्रिपुरा या त्रिपुरसुन्दरी अथवा काली की उपासना को केन्द्र में लेकर प्रवृत्त हुई है। फलतः इन दोनों ही परम्पराओं में कुलविधि का विस्तार उपलब्ध होता है। त्रिपुरसुन्दरी जहाँ शक्ति के सौम्य रूप को प्रस्तुत करती है, वहीं काली उसके रौद्र रूप की प्रतिनिधि है। इसी दृष्टि से त्रिपुरा परम्परा, जिसे उत्तर काल में सौभाग्य सम्प्रदाय भी कहा गया, सौम्य विधियों से ही साधना की पक्षधर है, जबकि काली परम्परा में साधना अत्यन्त भयंकर व जटिल है। अभिनवगुप्त ने इसे त्रिक की परम्परा में आवयविक रूप से समेटने और पल्लवित करने का प्रयास किया। यद्यपि यह इनका सर्वथा नया प्रयास नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्राचीन त्रिक तन्त्रों में इस प्रकार के प्रयास की झलक मिलती है। फिर भी, प्राचीन साहित्य के पर्याप्त मात्रा में आज अनुपलब्ध होने के कारण अभिनवगुप्त के ग्रन्थ ही अब इस परम्परा में विकसित कुल-मतों को समझने का एकमात्र साधन रह गए हैं। अभिनवगुप्त के ग्रन्थों में जिस त्रिक मत का विवेचन है, उसी से मिलता हुआ विवेचन कुब्जिका काली की परम्परा में भी उपलब्ध होता है। पर वहाँ शैव तथा शाक्त दोनों तरह की प्रवृत्तियों का समन्वय करने का विशेष प्रयास है। इस प्रकार कुल-मत के उद्विकास की इन विविध प्रवृत्तियों का विश्लेषण करते हुए आन्ध्रे पदु ने ठीक ही कहा है कि यह कुल-मत विविध प्रकार की तान्त्रिक प्रवृत्तियों को एक तार में पिरोने वाला सूत्र है। जहाँ यह मत व क्रम सम्प्रदायों में घोर साधना-प्रधान शाक्त प्रवृत्ति से आप्लावित है, वहीं त्रिक में यह अधिक यौक्तिक तथा शैव है, कुब्जिका परम्परा में यही शाक्त-शैव है तथा त्रिपुरा परम्परा में यह अधिक सौम्य है।^{२२} कश्मीर में हुए कुल-मत के विकास को लेकर तून गूड्रियान भी कुछ ऐसी ही राय रखते हैं। कुल-मत के आविर्भाव को तान्त्रिक आन्दोलन का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष मानते हुए वह उसे दो वर्गों में बाँटते हैं, शैव तथा शाक्त। शाक्त वर्ग को वह पुनः दो धाराओं या अनुवर्गों - श्रीकुल अर्थात् त्रिपुरा-कुल और काली-कुल - में विभक्त करते हैं। इन दोनों में पहला देवी के सौम्य रूप से सम्बन्धित है, जबकि दूसरा भीषण या घोर रूप से। इनकी साधना-विधियाँ भी तथानुगुण हैं। शैव वर्ग भी रहस्य-चर्या प्रधान है, जिससे अभिनवगुप्त सीधे जुड़ते हैं।^{२३}

२२. वाक् . दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ दि वर्ड इन सेलेक्टेड हिन्दू तन्त्रज, पृ. ६०-६१।

२३. हिन्दु तान्त्रिज्म, पृ. ४५-४६।

अब देखना यह है कि जिस कुल-मत या कुल-विधि/कुल-प्रक्रिया^{२४} की हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं उसकी पारिभाषिक पहचान क्या है, जो उसे अन्य तान्त्रिक पद्धतियों से अलग कर विशिष्ट स्वरूप में प्रतिष्ठित करती है।^{२५} जैसे त्रिक मत में त्रिक भाव की प्रधानता है, क्रम सम्प्रदाय में चेतना की स्पन्दात्मक गति में एक निश्चित क्रम भाव की प्रतीति पर विशेष बल है, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में प्रत्यभिज्ञानात्मक तात्त्विक चिन्तन को विकसित करने पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया गया है, वैसे ही कुल-मत में “सामस्य भाव की घनीभूत चेतना” ही प्रधान है।^{२६} सब कुछ एक ही “कुल” का अंश है – इसी दृष्टि से अद्वैत की स्थापना करने का यहाँ प्रयास किया गया है। यह कुल भाव ब्रह्माण्ड के क्षुद्र से क्षुद्र अंश को “कुलत्व” के अन्तर्गत समाविष्ट कर परम कुल का सदस्य बना देता है।

२४. कुल-मत की बजाय कुल-प्रक्रिया या कुल-विधि शब्द का ही संवृद्ध ग्रन्थों में अधिक उल्लेख मिलता है, यद्यपि दोनों में कोई आत्यन्तिक भेद नहीं है। इस सम्प्रदाय में सिद्धान्त से ज्यादा व्यवहार और अनुभव पर बल दिए जाने के कारण सम्भवतः यह दृष्टि पनपी।

२५. पांडेय कुल के तेईस अर्थों का निरूपण करते हैं (*अभिनवगुप्त०*, पृ. ५६४ आदि)। तून गूड्डियान के अनुसार कार्लस्टेट (Carlstett) दस आधारभूत अर्थों का विश्लेषण करते हैं (*Studier i Kulärnava-Tantra*, हिन्दु तान्त्रिज्म० में उद्धृत, पा.टि. २७, पृ. ४५)। गूड्डियान के मत में तन्त्र वाङ्मय में कुल के कम-से-कम चौबीस अर्थ उपलब्ध होते हैं (तत्रैव)।

२६. कुलं स्थूल-सूक्ष्म-पर-प्राणेन्द्रिय-भूतादि-समूहात्मतया कार्यकारणभावाच्च । – प.त्रि.वि. (गुरुदू), पृ. ५१।

अभिनवगुप्त द्वारा लिए गए कुल के दो मूल अर्थों में यह पहला है। सामस्य भाव की चरितार्थता में पहला लक्षण है : संहत्यकारित्व। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, पर या कारण शरीर, पञ्च-प्राण, तेरह इन्द्रियाँ और पञ्च-महाभूत के संघात को कुल कहते हैं। यह कहने के पीछे दो आधार हैं – (१) प्राणि-शरीर में ये आपस में घनीभूत संघात के रूप में वर्तमान रहते हैं और (२) इनकी अवस्थिति एक-दूसरे के प्रति कार्य-कारण के रूप में होती है। इस प्रकार संघात रूप में रहकर ही किसी प्रयोजन की सिद्धि कर पाते हैं। अभिनव का दूसरा अर्थ है आश्यानरूपतया अवस्थान। समग्र विश्व कुल है क्योंकि (१) संवित् ही आश्यानीभूत होकर तत्तत् प्रमेय के रूप में स्थित होती है और (२) संवित् के स्वातन्त्र्य से ही इस वस्तु जगत् में बन्धनात्मकता का अभिमान होता है –

तथा कुलं बोधरयैव आश्यानरूपतया तथैव अवस्थानात्। बोधस्वातन्त्र्यादेव च अस्य बन्धाभिमानात्। – प.त्रि.वि. (गुरुदू), पृ. ५२

इन दोनों ही अर्थों को अभिनवगुप्त कुल धातु की अन्वर्थता से पाते हैं – “उक्तं हि कुल संस्त्याने बन्धुषु च।” (तत्रैव) भट्टोजि दीक्षित संस्त्यान का अर्थ संघात (संहत्यकारित्व) से लेते हैं और बन्धु से बान्धवोचित व्यापार का (ममता के बन्धन से बांधने वाला) – “संस्त्यानं संघातः। बन्धुशब्देन तद्व्यापारो गृह्यते।” (*सिद्धान्तकौमुदी*, क्षेमराज-श्रीकृष्णदास, मुम्बई, १९३२, पृ. ३०२ : “तद्व्यापार इति। बन्धुत्वानुकूलो व्यापारः”)।

फलतः यहाँ व्यष्टि भाव या निजता को विलीन करने की बजाय सामस्य भाव से भर देने की चेतना पर ही बल है।^{२०} इसी कारण यहाँ का अद्वैत एक पूर्ण, स्वात्मतृप्त प्रत्यय है,^{२१} जो एक साथ शान्त भी है और उदित भी।^{२२} यही दृष्टि इसे अद्वैत से पराद्वैत^{२३} की कोटि में ले जाने में सहायक होती है। सबका विलय कर, सबको अपने में समेटकर अवशिष्ट सर्वसमावेशी एक सत्ता के रूप में स्थित कुल तत्त्व का चरमोत्कर्ष स्वतः-सिद्ध है।^{२४}

यों तो कुल-मत या कुलाम्नाय शब्द अपने आप में एक पूर्ण सम्प्रदाय की उपस्थिति का आभास देता है, जिसका अपना गुरु-क्रम है, सन्तति-परम्परा है, विशिष्ट चिन्तन-पद्धति है और साधना का अपना एक विशिष्ट मार्ग है। परन्तु प्राप्त विवेचनों से कुल-प्रक्रिया या कुल साधना-पद्धति के विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत विविधतया प्ररोहण का ही विशेषतः उल्लेख मिलता है, सम्पूर्ण कुल-मत का नहीं।^{२५} अभिनवगुप्त ही प्रथम बार अपने ग्रन्थ में “कुल-मत”

२७. क्षेमराज अपने प्रत्यभिज्ञाहृदय में कुल-मत के इसी वैशिष्ट्य को “विश्वमयमिति कुलाद्याम्नायनिविष्टः” (पृ. ५६) कहकर व्यक्त करते हैं। पर वे यहीं पर तान्त्रिकों अर्थात् (सम्भवतः) शैव सिद्धान्तियों को केवल विश्वोत्तीर्णतावादी आत्मतत्त्व के प्रतिपादक तथा त्रिक दार्शनिकों को आत्मा के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय उभयविध स्वरूप का प्रतिपादक बताते हैं। क्षेमराज ने इस मन्तव्य के पीछे अपने शास्त्रीय आधार पर प्रकाश नहीं डाला है। सम्भावना है कि आगमों में विकसित प्राचीन कुल-मत की यही दृष्टि रही होगी। परन्तु आगमोत्तरकाल में विविध आचार्यों, विशेषतः अभिनवगुप्त, द्वारा पोषित दृष्टि में कुल-तत्त्व वह पूर्ण-तत्त्व है जिसमें सारे पक्ष सम्मिलित हैं; न वह एकान्तिक रूप से विश्वोत्तीर्ण है और न एकान्तिक रूप से विश्वमय। इसी कारण वह पराद्वैत है। क्षेमराज के इस मन्तव्य के पीछे एक कारण यह भी सम्भव है कि विश्वमयता में प्रतिबिम्बित इस सामस्य भाव की चेतना का उदय ही कुल-मत का परम लक्ष्य है। अतः इसी दृष्टि को इसका विशिष्ट लक्षण बनाकर प्रस्तुत करना यौक्तिक रूप से संगत कहा जाएगा।

२८. तत्त्वे तत्त्वे स्वेच्छया देवदेवः सर्वा सर्वा भूमिमालम्बमानः।

पूर्णकात्मा पूर्णसंवित्स्वरूपः श्रीमात्रास्त्रे भैरवोऽसौ निरुक्तः॥ - मा.वि.वा., १/६५८

२९. तद्गुणवधानुत्तरमुभयात्मकजगदुदारसानन्दम्॥

नो शान्तं नाप्युदितं शान्तोदितसूतिकारणं परं कौलम्। - तं. २६/११६ख-११७क

३०. इदं हि तत्पराद्वैतं भेदत्यागग्रहौ न यत्॥ - मा.वि.वा. १/२३ख

३१. तत्र पूर्णैकरूपत्वात्सर्वं सर्वत्र चापि तत्।

अन्यथा खण्डनायोगात्र पूर्णा पूर्णता भवेत्॥ - तदेव १/१३२

३२. इसी कारण म्यूलर औरिंगा जैसे अनेक आधुनिक विद्वान् कुल को एक दार्शनिक सम्प्रदाय न मानकर साधना की एक परम्परा मात्र मानते हैं।

के रूप में इस सम्प्रदाय को अनुत्तरत्रिक के नाम से स्थापित करने का प्रयास करते हैं।^{३३} वैसे यह कुल-परम्परा एक ऐसी वक्त्र-परम्परा है, जो विशिष्ट साधना-पद्धति के अभ्यास की विधि विशिष्ट साधकों को सिखाती है।^{३४} यह तन्त्रों के तर्कप्रधान दार्शनिक विवेचन से परे, स्वात्मानुभूति रूप में ही प्राप्य, समस्त तान्त्रिक ज्ञान का सार है। यहाँ मुख्य आग्रह हृदयंगमी-भाव की प्रक्रिया पर है, इसी कारण यहाँ ग्रन्थों की रचना की अपेक्षा दीक्षा और अभ्यास पर अधिक बल दिया गया है।^{३५}

इस कुल-प्रक्रिया या कुल-मत को अक्सर विविध वक्त्रों के साथ जोड़कर इसके उद्गम की प्रक्रिया को चिह्नित करने का प्रयास किया गया है। कहीं इसे ऊर्ध्ववक्त्र से जोड़कर इसकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की गई है।^{३६} और कहीं अधोवक्त्र से जोड़कर एक ओर इस मत/प्रक्रिया की रहस्यात्मकता को द्योतित किया गया है तथा दूसरी ओर अन्य वक्त्रों में इस धारा की एकात्मिकता का भी संकेतन किया गया है। इस अधोवक्त्र के ही सन्दर्भ में पातालवक्त्र तथा पिचुवक्त्र^{३७} जैसी संज्ञाएँ भी मिलती हैं, जिसकी टीकाकार अपनी-अपनी

३३. सन्ति पद्धतयश्चित्राः स्रोतोभेदेषु भूयसा । अनुत्तरषडर्थक्रमे त्वेकापि नेक्ष्यते ॥
इत्यहं बहुशः सद्भिः शिष्यसब्रह्मचारिभिः । अर्थितो रचये स्पष्टां पूर्णार्थां प्रक्रियामिमाम् ॥
- तं. १/१४-१५

३४. तदिदमलेख्यं भणितं वक्त्राद्वक्त्रस्थमुक्तयुक्त्या च ।
वक्त्रं प्रधानचक्रं स्वा संविल्लिख्यतां च कथम् ॥ - तं. २६/१२५ख-१२६क
रहस्यं सर्वशास्त्राणां आम्नायहृदयं परम् ॥
वक्त्रात् वक्त्रगतं ज्ञानं योगिनीमुखसंस्थितम् ।
- चिचिणीमतसारसमुच्चय, पृ. १४, कैन्नन ऑफ शैवागम०, पृ. १६८ पर उद्धृत

३५. तदुभयसंघटे जायमाना स्वा अनुभूतिमात्रस्वभावा संवित् कथं लिख्यताम् ।
- तं. वि., ७, पृ. ३३८०

३६. रहस्यातिरहस्यानि कुलशास्त्राणि पार्वति । रहस्यातिरहस्यानां रहस्यमिदमम्बिके ॥
ऊर्ध्वाम्नायस्य तत्त्वं हि पूर्णब्रह्मात्मकं परम् . . . आम्नायाः बहवः सन्ति नोर्ध्वाम्नायेन ते समाः ।
- कुलार्णव-तन्त्र ३/५-८

३७. पातालवक्त्रमधरमप्रकाशतया स्थिते । - तं. १५/२०६क
इसकी व्याख्या में जयरथ लिखते हैं :- “पिचुवक्त्रं प्रकाशसंस्पर्शायोग्यत्वादधरा” ।
- तं. वि., ६, पृ. २५४२; और भी मिलाइए:

पिचुवक्त्राद्यपरपर्यायं योगिनीवक्त्रमेव मुख्यचक्रमुक्तम् ।

पातालाख्यमधोवक्त्रं सृष्ट्यर्थं संप्रकीर्तितम् ।

. . . अधोवक्त्रं सृष्टिवक्त्रं पिचुवक्त्रम् ।

(षट्साहस्रीसंहिता, पृ. ८६-८७), कैन्नन ऑफ शैवागम०, पृ. १६६ पर उद्धृत

तरह से व्याख्या करते हैं। वस्तुतः ये सारी संज्ञाएँ इस धारा की परम गोपनीयता की ख्यापक हैं, जैसाकि बार-बार इस मत/प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त रहस्यविधि, रहस्यशास्त्र आदि संज्ञाओं से प्रतीत होता है। इस कुल-धारा के विशिष्ट स्वरूप को बताने वाली सर्वाधिक प्रयुक्त आख्या है “योगिनीवक्त्रपरम्परा”। तन्त्रालोककार व विवेककार दोनों ही अक्सर कुल-धारा का इसी नाम से उल्लेख करते हैं। अन्यत्र भी इस धारा को इस संज्ञा से ही विशेषतः प्रस्तुत किया जाता है। जयरथ के अनुसार श्रीकण्ठीयसंहिता में दक्षिणवक्त्र की व्याख्या योगिनीवक्त्र की शब्दावली में की गई है।^{३८} यहाँ “योगिनीवक्त्र” शब्द कई सन्दर्भों को उजागर करता है। प्रथम, इस परम्परा में ज्ञान का विस्तार योगिनी/दूती के माध्यम से ही किए जाने का नियम है।^{३९} द्वितीय, यह शब्द कापालिक संस्कृति में विकसित उस प्राचीन योगिनी परम्परा की विशिष्ट साधना-पद्धति से इस धारा को जोड़ता है, जहाँ भैरव की कल्पना योगिनियों से घिरे हुए रूप में की गई है। इन योगिनियों के अलग-अलग मातृकुल हैं, जिनके कुछ निश्चित लक्षण और प्रतिविशिष्ट क्रिया-कारिताएँ हैं। साधक अपनी पूजा-विधि के अनुष्ठान में जिस माता/योगिनी के कुल से तादात्म्य स्थापित कर लेता है, उसी योगिनी से उसे ज्ञान व अभीष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। तृतीय, योगिनीवक्त्र इस धारा में अनिवार्यतः स्वीकृत आदियाग रूप कुलचर्या की रहस्यविधि का अनिवार्य अधिकरण है।^{४०} यह धारा तार्किक चिन्तन की बजाएँ उन सारभूत तथ्यों को व्यावहारिक स्तर पर स्वानुभवसंवेद्य बनाने पर विशेष बल देती है, इस मंतव्य को भी यह योगिनीवक्त्र शब्द व्यक्त करता है। इनके अतिरिक्त इस कुल-मत को गुरुवक्त्र-परम्परा या गुर्वाम्नाय भी कहा जाता है।^{४१} इस संज्ञा के पीछे भी इसी तथ्य का अनुमोदन है कि इस धारा में सिद्धान्त की अपेक्षा

३८. तथा च अद्वयस्वभावे स्वरूपे शिवशक्तितत्संघट्टाख्ययोगिनीवक्त्रात्मनि दक्षिणवक्त्रे . . .

चतुःषष्टिरद्वयप्रधाना भैरवभेदाः। - तं.वि., २, पृ. ४०-४१

३९. प्रविकस्वरमध्यपदा शक्तिः शास्त्रे ततः कथिता।

तस्यामेव कुलार्थं सम्यक् सञ्चारयेद् गुरुस्तेन॥

तद्वारेण च कथितः क्रमेण सञ्चारयेत् नृषु। - तं. २६/१२२-१२३क

तन्त्रालोक-विवेक में जयरथ भी लिखते हैं :-

“स्त्रीमुखे निक्षिपेत् प्राज्ञः स्त्रीमुखाद् ग्राहयेत्” पुनः इत्याद्युक्तेः कुल-प्रक्रियायां दूतीमुखेनैव शिष्यस्य ज्ञानप्रतिपादनाम्नायात् इह गुरुतद्दूत्योः समस्कन्धतया उपादानम्। - तं.वि., २, पृ. ३५

४०. तन्मुख्यचक्रमुक्तं महेशिना योगिनीवक्त्रम्॥

तत्रैष सम्प्रदायस्तस्मात्संप्राप्यते ज्ञानम्। - तं. २६/१२४ख-१२५क

संघट्टवेलायां हि ऊर्ध्वधामनि परानन्दमये योगिनीवक्त्रात्मनि मुख्यचक्रे। - तं.वि., ७, पृ. ३३७२

४१. मन्थानभैरव तन्त्र, २४ख, कैनन ऑफ़ शैवागम०, पृ. १६७-६८ पर सन्दर्भित।

प्रक्रिया पर विशेष बल है। अतः इस धारा की विशिष्ट विधियों को लिखकर या ग्रन्थ से पढ़कर नहीं समझा जा सकता, वरन् इस प्रक्रिया में निष्णात एक गुरु से ही सीधी सीखा जा सकता है।^{१२} इसी कारण अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में कुल-प्रक्रिया के सन्दर्भ में अपने गुरु शम्भुनाथ से वक्त्र-परम्परा द्वारा प्राप्त उपदेशों का ही प्रमाण रूप में बार-बार उल्लेख करते हैं।^{१३} सम्भवतः इसी प्रक्रियात्मक पक्ष की प्रधानता के कारण तन्त्रों में इस मत का उल्लेख प्रक्रिया के रूप में ही विशेषतः अधिक मिलता है और एक शास्त्रीय तान्त्रिक सम्प्रदाय के रूप में कम।

यद्यपि सारे-के-सारे चौंसठ भैरव तन्त्र योगिनीवक्त्र से ही उद्भूत माने जाते हैं, पर उन्हीं तन्त्रों में कुल-तत्त्वों की विशेष उपस्थिति पाई जाती है, जिनमें शक्ति-तत्त्व की प्रधानता है। इसीलिए विद्यापीठ के तन्त्र, जिनके अन्तर्गत त्रिक तन्त्र व काली परम्परा के तन्त्र आते हैं, में ही कौल-धारा का पल्लवन मिलता है। साथ ही यामल तन्त्र भी इसी धारा के तत्त्वों से संवलित मिलते हैं। किन्तु ये सभी तन्त्र शब्दशः कुल-धारा से अपना सम्बन्ध नहीं स्वीकारते। कुछ तन्त्रों की संज्ञा में तो कुल शब्द स्पष्टतः जुड़ा हुआ है, पर बाकी में या तो बिना किसी नामनिर्देश के कुल-तत्त्वों की उपस्थिति है या किसी अंश-विशेष से रहस्यविधि या रहस्यचर्या की संज्ञा विशेष से इस कुल विधि का वर्णन किया गया है।

इस संदृब्ध साहित्य के विश्लेषण से इस परम्परा के उद्विकास का इतिहास ज्ञात होता है। कुल-मत का सम्बन्ध जिस अर्धत्रैयम्बक मठिका से जोड़ा जाता है, उसका उद्गम स्रोत त्रैयम्बक की दुहिता को बताया जाता है।^{१४} डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय इस विवरण के आधार पर इस मठिका का संस्थापक त्रैयम्बक के नाती को मानते हैं और उन्हें कुल-मत के प्रथम अवतारक समझे जाने वाले मच्छन्दनाथ से जोड़ते हैं।^{१५}

४२. कथितं गोपितं तेभ्यस्तस्माल्लेख्यं न पुस्तके।

गुरुवक्त्रात् लभ्येत अन्यथा न कदाचन॥ - तं.वि., ३, पृ. ६८६

४३. तं. १/१३; जयरथ यही पर व्याख्या को धार देते हुए अभिनवगुप्त के कथन को उद्धृत करते हैं :- यदुक्तमनेनैव-

इत्यागमं सकलशास्त्रमहानिधानाच्छ्रीशम्भुनाथवदनादधिगम्य सम्यक्।

शास्त्रे रहस्यरससंततिसुन्दरेऽस्मिन् गम्भीरवाचि रचिता विवृतिर्मयेयम्॥ - तं.वि., २, पृ. ३२

४४. तं. ३६/१३ (पूरे उद्धरण के लिए द्र., पा.टि. ६१।

४५. अभिनवगुप्त०, पृ. ५४६; उपर्युक्त सामग्री के आलोक में यह थोड़ा विचित्र लगता है कि लिलियन सिलवर्न महार्थमंजरी के अपने फ्रेंच अनुवाद की भूमिका में अर्धत्रैयम्बक को व्यक्ति की संज्ञा मानती है और अर्धत्रैयम्बकमठिका की व्याख्या अर्धत्रैयम्बक नामक गुरु द्वारा प्रवर्तित धारा के रूप में करती है।

प्राचीन दृष्टि यही रही है कि इस मत का उद्भव-स्थल कामरूप है, जहाँ **मच्छन्दनाथ** को स्वप्न में योगिनी ने इस विशिष्ट परम्परा का ज्ञान प्रदान किया।^{४६} डॉ. पाण्डेय ने **मच्छन्दनाथ** का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी माना है। बाद में इस परम्परा का विकास दक्षिणपीठ में हुआ, ऐसा उल्लेख मिलता है।^{४७} क्योंकि **मच्छन्दनाथ** के बाद इस परम्परा का जो विवेचन हमें **अभिनवगुप्त** के ग्रन्थों में मिलता है, वहाँ **शम्भुनाथ** ही इस परम्परा में उनके गुरु रूप में समादृत हैं। **शम्भुनाथ** का सम्बन्ध जालन्धर पीठ^{४८} से है। इन **शम्भुनाथ** के गुरु थे **सोमदेव** और **सोमदेव** के गुरु थे **सुमतिनाथ**।^{४९} इन **सुमतिनाथ** का सम्बन्ध दक्षिण पीठ से बतलाया गया है।^{५०} यदि दक्षिणपीठ में दक्षिण शब्द को भारत के दक्षिणी हिस्से का वाचक मानें तो यह कहा जा सकता है कि यह धारा असम से दक्षिण होती हुई जालन्धर पहुँची। पर यह निश्चित रूप से कहना अत्यन्त कठिन होगा, क्योंकि दक्षिण शब्द का अन्य तरह से भी अर्थ समझा जा सकता है — यह किसी प्रान्त विशेष का दक्षिणी भाग भी हो सकता है या किसी पीठ विशेष का अभिधान भी हो सकता है। मूर्धन्य भारतीय विद्वान् **बलजिन्नाथ पण्डित** जालन्धर पीठ का सम्बन्ध कांगड़ा से जोड़ते हैं।^{५१} यह सम्भावना विचारणीय है, क्योंकि कांगड़ा भौगोलिक दृष्टि से श्रीनगर के दक्षिण में पड़ता है। **जयरथ** के कथन को यदि प्रमाण माना जाए तो

४६. भैरव्या भैरवात्प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।

तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने॥

कामरूपे महापीठे मच्छन्देन महात्मना। — *तं.वि.*, २, पृ. २४ पर उद्धृत

४७. कश्चिदक्षिणभूमिपीठवसतिः श्रीमान्भुभैरवः,

पञ्चस्रोतसि सातिमार्गविभवे शास्त्रे विधाता च यः।

लोकेऽभूत्सुमतिस्ततः समुदभूत्तस्यैव शिष्याग्रणीः,

श्रीमाच्छम्भुरिति प्रसिद्धिमगमज्जालन्धरात्पीठतः॥ — उद्धृत, तत्रैव, २, पृ. २३६

४८. पीठमिति जालन्धरं यतस्तत्सिद्धयोगिनीक्रमेण अस्य दर्शनस्य अवतारः। — तदेव, ७, पृ. ३३९३

४९. श्री सुमतिनाथस्य श्री सोमदेवः शिष्यः, तस्य श्रीशम्भुनाथः इति हि आयातिक्रमविदः। — तदेव, २, पृ. २३६

कुछ आधुनिक विद्वान् **सुमतिनाथ** और **सोमदेव** को अभिन्न मानते हैं। यह इतिहास का असमाहित प्रश्न है और प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारे निष्कर्षों के लिए अकिञ्चित्कर है, अतः इसे यहीं छोड़ा जा सकता है।

५०. द्र., पा.टि. ४७।

५१. “सबसे अधिक आभार उन्होंने जालन्धर पीठ (कांगड़ा) में स्थित अर्धज्यम्बक मटिका के प्रधान गुरु आचार्य शम्भुनाथ के प्रति बहुत बार प्रकट किया है।” — “कश्मीर शैवदर्शन”, *सं.वा. बृ.इ. (तन्त्रा.)*, पृ. २५३

जालन्धर पीठ में ही अभिनवसम्मत कुल-दर्शन का अवतार सिद्ध और योगिनियों के माध्यम से हुआ था।^{१२} इतना तो स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के समय जालन्धर पीठ में यह धारा पूर्ण विकसित रूप में विद्यमान थी, तभी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर उन्हें इसका सम्यक् ज्ञान वहाँ प्राप्त हो सका।

कश्मीर में सम्भवतः यह परम्परा अभिनवगुप्त के पहले भी प्रचलित थी, ऐसा कई साक्ष्यों से ज्ञात होता है। आचार्य सोमानन्द ने अभिनवगुप्त के पूर्व भी कुल-मत से सम्बद्ध तन्त्र परात्रिंशिका पर टीका लिखी थी। तं. २६/१२३-२४ के आधार पर डॉ. पाण्डेय का अनुमान है कि कल्लट (नवीं शती का पूर्वार्द्ध), जो सोमानन्द के पहले आते हैं, ने कुल सम्प्रदाय से सम्बद्ध एक कृति की रचना की थी।^{१३} इसके अतिरिक्त जयरथ के वामकेश्वरीमतविवरण से भी यह स्पष्ट है कि नवीं शताब्दी में यह परम्परा कश्मीर में ईश्वरशिव तथा शंकरराशि द्वारा प्रवर्तित की गई। दुर्भाग्य से उनकी रचनाएँ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि यह धारा मच्छन्दनाथ से प्रारम्भ होकर अभिनवगुप्त के समय तक लगातार प्रवाहित रही है और अभिनवगुप्त के बाद भी विविध रूपों में इसकी विद्यमानता के संकेत मिलते हैं। डॉ. पाण्डेय ने मच्छन्दनाथ से अभिनवगुप्त तक के बीच के लगभग चार सौ वर्षों के अन्तराल में कुल-धारा की उपलब्धता के प्रमाणों को एकत्रित किया है। फलतः उन्होंने देव्यायामल तन्त्र के आधार पर अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत दस गुरुओं की सूची^{१४} में देवीपञ्चशतिक में उल्लिखित चार गुरुओं के क्रम^{१५} को जोड़कर इस अन्तराल को भरने का प्रयास किया है।^{१६}

५२. द., पा. टि. ४८।

५३. अभिनवगुप्त०, पृ. ५८२-८३

५४. उच्छुष्मशवरचण्डगुप्तद्वयोरान्तकोग्रहलहलकाः।
क्रोधो हलुहलुरेते दश गुरवः शिवमयाः पूर्वे॥ - तं. २८/३६१

५५. निष्क्रियानन्दनाथश्च ज्ञानदीप्त्या सहैकतः। विद्यानन्दश्च रक्ता व द्वितीयं कथितं तव॥
शक्त्यानन्दो महानन्दा तृतीयं सिद्धपूजितम्। शिवानन्दस्तथा ज्ञेया समया तच्चतुर्थकम्॥

- तं. वि., ७, पृ. ३३२१ पर उद्धृत

यहाँ यह ध्यान रखना उचित होगा कि देवीपञ्चशतिक में उल्लिखित इन चार आचार्यों का सम्बन्ध क्रम-सम्प्रदाय से जोड़ा गया है। अतः दोनों अवान्तर धाराओं के पारस्परिक परिप्रेक्ष्य में इस धारा को कुलेतर अर्थात् क्रमाश्रयी मानना होगा। परन्तु व्यापकतर परिप्रेक्ष्य में, क्रम का पर्यवसान कुल में होने के कारण, संग्रह-दृष्टि से डॉ. पाण्डेय के प्रयास के महत्त्व को समझा जा सकता है। देखिए, क्र. तां., पृ. ६०-६२ भी।

५६. अभिनवगुप्त०, पृ. ५४६-४८

अभिनवगुप्त भी *तन्त्रालोक* में इस कुल-प्रक्रिया के अवतरण क्रम को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ चार युगों में चार युगनाथों की कल्पना की गई है। सत्ययुग में **खगेन्द्रनाथ**, त्रेतायुग में **कूर्मनाथ**, द्वापरयुग में **मेषनाथ** तथा कलियुग में **मच्छन्दनाथ** ये अवतारक नाथों के रूप में चर्चित हैं। यही उस परम्परा का सिद्धक्रम है।^{१७} कुल-प्रक्रिया के अनुष्ठानों में इस सिद्धक्रम की पूजा अनिवार्य प्रारम्भिक अनुष्ठान है। ये सिद्ध अपनी-अपनी सन्तति व उनके परिवार सहित दिशाविशेष में पूज्य हैं। **खगेन्द्रनाथ** व उनकी पत्नी **विज्जाम्बा** तथा उनका सन्ततिक्रम पूर्व दिशा में पूज्य है, **कूर्मनाथ** व उनकी पत्नी **मंगला** तथा उनका सन्ततिक्रम दक्षिण दिशा में, **मेषनाथ** व उनकी पत्नी **काममंगला** तथा उनका सन्ततिक्रम पश्चिम में और **मच्छन्दनाथ** व उनकी पत्नी **कुङ्कुणाम्बा** तथा उनका सन्ततिक्रम उत्तर दिशा में पूज्य है।^{१८} **मच्छन्दनाथ** के पुत्रों का उल्लेख राजपुत्रों के रूप में किया गया है। सम्भवतः **मच्छन्दनाथ** एक राजा थे। इनके बारह पुत्रों का वर्णन आता है; जिनमें छह का ही कुल-सन्तति के विस्तार में अधिकार है,^{१९} बाकी छह स्वात्ममात्र में ही विश्रान्त रहने से कुल-सन्तति के विस्तार में अधिकृत नहीं हैं।^{२०} छह साधिकार राजपुत्र हैं - **अमरनाथ**, **वरदेव**, **चित्रनाथ**, **अलिनाथ**, **विन्ध्यनाथ** तथा **गुडिकानाथ**। इनकी पत्नियाँ, जिन्हें शक्ति कहा गया है, क्रमशः इस प्रकार हैं - **सिल्लार्ई**, **एरुणा**, **कुमारी**, **बोधाई**, **महालच्छी** तथा **अपरमेखला**।^{२१} इनकी शिष्य-सन्तति के नामों में अन्त में क्रमशः आनन्द, अवलि, बोधि, प्रभु, पाद व योगिन् संज्ञाएँ जोड़ी जाती हैं, जिनके द्वारा इनके एक-दूसरे से अलग स्वरूप का पता चलता है।^{२२} इसी वैयक्तिक पहचान को बताने के लिए ही इन छहों में मुद्रा, छुम्मा, घर, पल्ली तथा पीठ आदि का भी भेद बताया गया है।^{२३} इन्हीं साधिकार छह पुत्रों से छह कुल-सन्ततियों का उद्भव होता है। निरधिकार छह पुत्र हैं -

५७. तं. २६/२६-३५।

५८. तदेव २६/२६-३३।

५९. एते हि साधिकाराः पूज्या येषामियं बहुविभेदा।
सन्ततिरनवच्छिन्ना चित्रा शिष्यप्रशिष्यमयी॥ - तदेव २६/३५

६०. अधिकारो हि वीर्यस्य प्रसरः कुलवर्त्मनि।
तदप्रसरयोगेन ते प्रोक्ता ऊर्ध्वरेतसः॥ - तदेव, २६/४२

कुल-मार्ग में यह प्रसार कई तरह से सम्भव है - शिष्य में, मध्य नाड़ी में, देह मार्ग में या शाक्त आदि आधार में। पर ये राजपुत्र स्वात्म मात्र में विश्रान्त होने के कारण अपने वीर्य का किसी भी प्रकार से संक्रमण करने में अधिकारी नहीं हैं। - *द्र.*, *तं.वि.*, ७, पृ. ३३२

६१. सिल्लार्ई एरुणया तथा कुमारी च बोधाई।
समहालच्छी चापरमेखलया शक्तयः षडिमाः॥ - तं. २६/३४

६२. आनन्दावलिबोधिप्रभुपादान्ताथ योगिशब्दान्ता। - तदेव २६/३६क

६३. तदेव २६/३६ख-३६; आदिशब्देन च घटं पल्ली पीठोपपीठकम्॥ मुद्रा छुम्मेति तेषां च स्वपरस्थितम्। - तं. ४/२६७-६८

भट्ट, इन्द्र, वल्कल, अहीन्द्र, गजेन्द्र व महीधर^{६४}। इन विविध कुल-सन्ततियों के अतिरिक्त भी विविध कुल-विधियों का उल्लेख मिलता है, जिनके कारण इनका अनन्त विस्तार दृष्टिगोचर होता है^{६५} यहाँ एक बात विशेषतः उल्लेखनीय है कि इन विविध कुल-सन्ततियों व कुल-विधियों के अनुयायियों के मध्य किसी भी प्रकार का सम्पर्क वर्जित है।^{६६} एक कुल के सदस्य अपने सर्गियों के साथ ही साधना कर सकते हैं। यहाँ तक कि अन्यो के साथ किसी भी प्रकार की चर्चा तक का निषेध है। इसी कारण हर कुल के विशिष्ट चिह्न-रूप छुम्मा, मुद्रा, पीठ आदि के द्वारा उस कुल के लोग अपने सर्गियों को पहचानते थे। यह परमगोप्यता की चेतना यहाँ सम्भवतः इस परम्परा को अपात्रों से बचाने एवं अपने वर्ग-विशेष में ही सुरक्षित रखने के उद्देश्य से ही इतनी प्रबल है। इस कारण कुलचर्या का सम्पादन उन्हीं एकान्त स्थलों पर किया जाता था, जहाँ उसी वर्ग के सिद्ध और योगिनियों के अतिरिक्त और कोई न हो।

तान्त्रिक साहित्य में इस कुल के साथ-साथ कौल नाम से भी एक सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। वैसे तो कौल शब्द कुल-मत के अनुयायियों, कुल-मत से सम्बद्ध शास्त्रों व सिद्धान्तों का वाचक हो सकता है, पर उपलब्ध उल्लेखों में कुल तथा कौल का एक साथ दो सम्प्रदायों या अलग इकाइयों के रूप में ग्रहण किया गया है। यह तथ्य इन दोनों सम्प्रदायों के स्वतन्त्र रूपाकार की सम्भावना को रेखांकित करता है। *तन्त्रालोक* में अभिनव स्वयं कुल, कौल व त्रिक नाम से तीन मतों का एक ही श्लोक में उल्लेख करते हैं।^{६७} जयरथ भी अपने विवरण में इस तरह के उल्लेखों को एकत्र संगृहीत करते हैं।^{६८}

६४. भट्टेन्द्रवल्कलाहीन्द्रगजेन्द्राः समहीधराः।

ऊर्ध्वरेतस एते षडधिकारपदोज्जिताः॥ - तदेव २६/४१

६५. बहुधा नानानामप्रपञ्चिते इति कुलशास्त्राणामानन्यात् तन्त्राम्नामपि नानात्वात्।
- तं.वि., ७, पृ. ३३२८

६६. (क) तादात्म्यप्रतिपत्त्यै हि स्वं सन्तानं समाश्रयेत्॥
भुञ्जीत पूजयेच्चक्रं परसंतानिना नहि। - तं. ४/२६८ख-२६६क

(ख) अकुलीनेषु सम्पर्कात्तत्कुलात्पतनादयम्।
एकपात्रे कुलाम्नाये तस्मात्तान्परिवर्जयेत्॥ - तं. १५/५७२

६७. क्रमिकः शक्तिपातश्च सिद्धान्ते वामके ततः॥
दशे मते कुले कौले षडर्थे हृदये ततः। - तं. १३/३००क-३०१ख

६८. (क) वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित्।
संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः॥ - तं.वि., २, पृ. ४६ पर उद्धृत

(ख) वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥ - तत्रैव

(ग) वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्यां च दक्षिणम्।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहिः॥ - तत्रैव, पृ. ४८

मार्क डिक्कोप्सकि ने *मन्थानभैरवतन्त्र* से कई कारिकाओं के उद्धरण दिए हैं, जिनमें कुल एवं कौल का कई बार स्वतन्त्र सम्प्रदायों के रूप में उल्लेख मिलता है।^{६६} यहाँ एक ऐसी धारा का उल्लेख है, जिसमें कुल व कौल मतों का मिश्रण है।^{६७} इस परम्परा में स्त्री व पुरुष दोनों तत्त्वों की उपासना होती है, जिसकी परिणति शिवशक्त्यात्मक आनन्दानुभव में होती है। *चिञ्चिणीमतसारसमुच्चय* में भी ये दोनों संज्ञाएँ दो स्वतन्त्र सम्प्रदायों की बोधक हैं।^{६८} इसके विपरीत इस तरह के भी विवरण मिलते हैं जहाँ कुल और कौल शब्द पर्याय हैं। *अभिनवगुप्त तन्त्रालोक* में *त्रैशिरसमत* के प्रामाण्य पर कौल शब्द को उस तत्त्व का वाचक कहते हैं, जो समस्त आवरणों से शून्य ज्ञान-ज्ञेय रूप है।^{६९} कुछ उद्धरणों में एकमात्र कौल-मत का ही उल्लेख आया है। वहाँ इस कौल संज्ञा से इनमें से कौन-सा मत अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है।^{७०} *भैरवकुलतन्त्र* कुल, कौल व त्रिक की आनुपूर्वी में कौल को कुल से तथा त्रिक को सबसे श्रेष्ठ बताता है,^{७१} परन्तु इन दोनों मतों में भेदक रेखाएँ क्या हैं, इस सन्दर्भ में प्राप्त विवरण धुंधले और अपर्याप्त हैं।

जयरथ अपने *तन्त्रालोकविवेक* में कुलानि शब्द की व्याख्या में महाकौल, कौल, अकुल तथा कुलाकुल नामक चार वर्गों का संग्रह करते हैं।^{७२} यदि इन्हें कुल-मत के अवान्तर सम्प्रदाय मान लिया जाए तो उनमें से प्रत्येक का अपना निजी स्वरूप क्या था, यह आज स्पष्ट नहीं है। त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में भी कौल तथा कुल शब्द का कई प्रकार से प्रयोग मिलता है, जैसे *शंकराचार्य* की *सौन्दर्यलहरी* की *लक्ष्मीधरा* टीका में कौलमत का द्विविध विभाजन किया गया है - पूर्वकौल व उत्तरकौल।^{७३} *अम्बास्तवव्याख्या*

६६. कुण्डानां लक्षणं वक्ष्ये कुले कौले तु पश्चिमे। - *मन्थानभैरव तन्त्र*, पृ. ८६, कैन्नन ऑफ शैवागम०, पृ. १६४ पर उद्धृत; और भी :-

ये केचिद् देवताश्वान्ये कुले कौले तु पश्चिमे।

तिष्ठन्ति कुण्डमध्ये तु भैरवो भैरवी सह। - तत्रैव, पृ. ६७ पर उद्धृत

७०. ड्र., कैन्नन ऑफ शैवागम०, पृ. १६५ पर उद्धृत।

७१. *चिञ्चिणीमतसारसमुच्चय* (हस्तलिखित प्रति), पृ. ३७। - तत्रैव, पृ. १६५ पर उद्धृत

७२. षण्मण्डलविनिर्मुक्तं सर्वावरणवर्जितम्।

ज्ञानज्ञेयमयं कौलं प्रोक्तं त्रैशिरसे मते॥ - तं. २१/१

७३. पा.टि. संख्या ६८(ग) ऊपर उद्धृत।

७४. वाममार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्त्ववित्।

संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः॥ - तं.वि., ५, पृ. २३८२

७५. कुलानि महाकौलकौलाकुलकुलाकुलाख्यानि। - तं.वि., ७, पृ. ३४४५

७६. *लक्ष्मीधरा*, श्लोक ३४ व ३५ पर।

में *सुभगोदय* आदि के प्रामाण्य से कौलों के ७ भेद प्रदर्शित हैं।^{७७} पूर्वकौल के तीन प्रकार हैं - मूलाधारनिष्ठ, स्वाधिष्ठाननिष्ठ तथा उभयनिष्ठ। उत्तरकौल के चार प्रकार हैं - मातङ्गी, वाराही, कौलमुखी तथा तन्त्रनिष्ठा। *अर्थरत्नावली* में कुल के पाँच प्रकार से भेद किये गए हैं - अकुल, कुल, कुलाकुल, कौल तथा शुद्ध कौल।^{७८} पर त्रिपुरा सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्रस्तावित ये वर्गीकरण त्रिपुरा सम्प्रदाय के अन्तर्गत ही आते हैं या पूरी कुल/कौल परम्परा के सन्दर्भ में, यह स्पष्ट नहीं है और न ही कुल व कौल की अन्तरंगता या भेद पर ही यहाँ प्रकाश डाला गया है। इसी प्रकार कुछ अन्य तन्त्रों में भी इस प्रकार के वर्गीकरण मिलते हैं, जैसे *कौलज्ञाननिर्णय* कौलों के ७ भेदों की चर्चा करता है - पदोत्तिष्ठ कौल, महाकौल, मूल कौल, योगिनी कौल, वहि कौल, वृषणोत्थ कौल तथा सिद्ध कौल।^{७९} इनमें से योगिनी कौल व सिद्ध कौल नामक दो भेदों का उल्लेख तो *मृगेन्द्रागम* में भी अनुस्रोतों के रूप में किया गया है।^{८०}

कुल-मत से सम्बद्ध साहित्य क्या माना जाए, इस विषय में गवेषणा अवसरोचित होगी। यद्यपि काफ़ी तन्त्र ऐसे मिलते हैं, जिनकी संज्ञा में कुल शब्द विद्यमान है, जैसे *कुलार्णव*, *कुलोद्दीश*, *कुलचूडामणि*, *कुलरत्नमाला*, आदि। पर इनमें कुल सिद्धान्तों का विशेष महत्त्वपूर्ण निरूपण नहीं है। कुछ तन्त्र ऐसे हैं, जो अपने को कुल-सिद्धान्त से जोड़े बिना विविध सन्दर्भों में कुल सिद्धान्तों को प्रस्तुत करते जाते हैं; कुछ तन्त्र ऐसे भी हैं, जो किसी दूसरे सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने पर भी एक अध्याय विशेष में कुलविधि या रहस्यविधि के नाम से इस प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। अतः कुल-मत के साहित्य में कुछ निश्चित ग्रन्थों को रेखांकित कर पाना कठिन काम है। क्योंकि यह मत एकान्तिक रूप से विकसित न होकर सभी तान्त्रिक अद्वैतवादी परम्पराओं की पार्यन्तिक धारा के रूप में ही पल्लवित हुआ है। इस कारण इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों का कालिक आनुपूर्वी में तिथिबद्ध विवेचन सम्भव नहीं है। अतः एक सार्थक तरीका यह हो सकता है कि आम्नायगत विभाजन को आधार बनाकर उन विशिष्ट दृष्टियों के प्रतिपादक तन्त्रों को ही इस कुल-मत का आधार बनाया जाए। साथ ही प्राचीन तन्त्रों में कुल सम्प्रदाय का जो भी स्वरूप था उसमें, पर्याप्त सामग्री के अभाव में, हमारी सहज गति न होने के कारण *अभिनवगुप्त* तथा उत्तरवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों में आकलित दृष्टि को ही आधार बनाकर इस कुल-मत की रूपरेखा को खींचने का प्रयास किया जाए।

७७. *द्र.*, *नि.षो.*(उपोद्घात), पृ. ६१।

७८. *नि.षो.* (*अर्थरत्नावली*), १, पृ. ७४।

७९. *द्र.*, *नि.षो.*(उपोद्घात), पृ. ६२।

८०. शैवं मान्नेश्वरं गाणं दिव्यमार्षञ्च गौह्वकम्॥

योगिनीसिद्धकौलं नोत्तीर्णं ताम्य एव तत्। - *मृगेन्द्रतन्त्र*, चर्यापाद, १/३७ख-३७क

विविध प्ररोहाकारों के विश्लेषण से यह विदित होता है कि कुल-मत का विकास विशेषतः चार दिशाओं में हुआ, जिसे यहाँ के ग्रन्थ स्वयं चार आम्नायों के रूप में प्रतिपादित करते हैं। आम्नायों का यह वर्गीकरण कुल-मत का निजंघर वैशिष्ट्य है, जिसे सम्भवतः सिद्धान्तागमों में प्रस्तुत पञ्च-स्रोतों के वर्गीकरण के आधार पर ढाला गया है। यों तो मुख्यतः चार ही आम्नायों का उल्लेख मिलता है, पर कहीं-कहीं ऊर्ध्वाम्नाय, ऊर्ध्वोर्ध्वाम्नाय तथा अधराम्नाय की कल्पना करके पाँच, छह या सात आम्नायों की भी परिकल्पना की गई है। जैसे *कुलार्णवतन्त्र* अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को रहस्यातिरहस्य कहता हुआ स्वयं को ऊर्ध्व आम्नाय से जुड़ा हुआ बताता है। *षट्साहस्रीसंहिता* सात आम्नायों की कल्पना करती है। परन्तु चार आम्नायों की धारणा ही सर्वाधिक प्रचलित व मान्य है।

देखना होगा कि इन चार आम्नायों^९ में कुल-मत का विकास किस प्रकार हुआ है -

पूर्वाम्नाय : त्रिक परम्परा में उद्विकसित कुल-धारा को इस आम्नाय से जोड़ा जाता है। यह धारा मूल कौल मत के बहुत नजदीक है। विद्यापीठ के प्रमुख त्रिक तन्त्रों में इसका

८१. रोचक बात यह है कि अभिनवगुप्त स्वयं ऐसे किसी वर्गीकरण का उल्लेख नहीं करते। यद्यपि यह कहना कठिन होगा कि अभिनवगुप्त इस आम्नायगत वर्गीकरण से नितान्त अपरिचित थे, क्योंकि *कुब्जिकामत* का वह उल्लेख करते हैं (तथा च *श्रीकुब्जिकामते खण्डवक्रविचारे* . . .।

— प.त्रि.वि. [का.ग्र.,], पृ. १८४), और *कुब्जिकामत* अपने को पश्चिमांम्नाय या कुलालिकाम्नाय का तन्त्र घोषित करता है। इससे स्पष्ट है कि आम्नायगत वर्गीकरण के बीज भले ही अभिनव-पूर्व हों, पर उसका सैद्धान्तिक रूपायन अभिनवोत्तर ही मानना होगा। यहाँ पर विषय-पल्लवन में मार्क डिक्कोफ्सकि तथा अलेक्सिस सैन्डर्सन द्वारा *कुब्जिकामततन्त्र*, *मन्थानभैरवतन्त्र*, *विचिणीमतसारसमुच्चय* आदि के आधार पर दिए गए विवरणों से काफी सहायता मिली है। एक ओर जहाँ इन विद्वानों ने हस्तलिखित स्रोतों का उपयोग किया है, वहीं चण्डी के आम्नाय-केन्द्रित विशेषाङ्क (भाग ३५, अङ्क ५-६, प्रयाग, १९७६) का भी उनके मन्तव्यों पर भरपूर प्रभाव पड़ा है, यद्यपि तून गूड्रियान के अतिरिक्त अन्य पाश्चात्य विद्वान् इस अन्तिम प्रेरणा-स्रोत का संकेतन नहीं करते। ध्यान देने की बात है कि जिन कुल धाराओं का इन आम्नायों से सम्बन्ध बताया जा रहा है, उनके अपने ग्रन्थों में इस आम्नाय-वर्गीकरण को यथावत् स्वीकारा नहीं गया है। जैसे त्रिक-धारा को पूर्वाम्नाय से सम्बद्ध करने वाला कोई प्रमाण त्रिक के तन्त्रों में नहीं मिलता (यह तब जब कि *मालिनीविजयोत्तरतन्त्र* की एक संज्ञा *श्रीपूर्वशास्त्र* भी मिलती है। अनेक आधुनिक विद्वानों का बड़ा अध्यवसाय इस बात पर भी केन्द्रित रहा है कि *श्रीपूर्वशास्त्र* में "श्री" कहीं आदरार्थ तो नहीं है।) वस्तुतः इस वर्गीकरण में निर्णायक अन्तःसाक्ष्यों के अभाव में प्रमाणगत ढाँचा शिथिल लगता है। सम्बद्ध विवेचन का प्रधान आधार बाह्य साक्ष्य हैं। तून गूड्रियान इस पूरी प्रक्रिया को सहज की अपेक्षा कृत्रिम अधिक मानते हैं (*हिन्दू तांत्रिज्म*, पृ. ४२)। सम्प्रति केवल यही कहना उचित होगा कि इस वर्गीकरण के अन्तर्गत उपलब्ध विषय-पल्लवन की अन्तिम प्रामाणिकता भावी अनुसन्धान-सापेक्ष है।

प्ररोहण हुआ है। इस त्रिक मत का वैशिष्ट्य है परा, परापरा और अपरा रूप त्रिविध विद्याओं को केन्द्र में लेकर विकसित मीमांसा एवं साधना-पद्धति।^{८२} अतः यहाँ वर्तमान कुल-धारा में इसी परादि के त्रिक के मध्य ब्राह्मी आदि मातृकुलों से घिरे कुलेश्वर एवं कुलेश्वरी की प्रतिष्ठापना की गई है।^{८३} इसे मुख्य कुल-चक्र कहा गया।^{८४} इस मुख्य कुल-चक्र के बाहर सिद्ध-क्रम (सपरिवार) की पूजा का विधान है।^{८५} यह सिद्ध-क्रम है - **खगेन्द्रनाथ, कूर्मनाथ, मेघनाथ व मच्छन्दनाथ या मत्स्येन्द्रनाथ** का। इस कुल-धारा के प्रतिपादक मुख्य तन्त्र हैं - *सिद्धयोगेश्वरीमत तन्त्र*, उसका संक्षेप *मालिनीविजयोत्तर तन्त्र* तथा *त्रिशिरोभैरव तन्त्र*, *त्रिकसद्भाव तन्त्र* एवं त्रिक परम्परा के अन्य तन्त्र।^{८६} इनके अतिरिक्त *माधवकुल तन्त्र* तथा *निशिसंचार तन्त्र* को भी इस परम्परा से सम्बद्ध किया जा सकता है। इनमें से **अभिनवगुप्त** *मालिनीविजयोत्तर तन्त्र* को ही मुख्यतः आधार बनाकर अपने ग्रन्थ *तन्त्रालोक* में तथा *मालिनीविजयवार्तिक* में इस धारा को रूपायित करने का प्रयास करते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि इस पूरी प्रक्रिया में **अभिनवगुप्त** कहीं भी इसको किसी आम्नाय से नहीं जोड़ते हैं, और न *मालिनीविजयोत्तर तन्त्र* ही अपने को त्रिक तन्त्र कहता है या किसी आम्नाय की चर्चा करता है, पर अन्यत्र^{८७} उपलब्ध उल्लेखों व विवरणों के आधार पर यह स्पष्ट है कि इस धारा को पूर्वाम्नाय संज्ञा से ही निर्दिष्ट किया गया है। **अभिनवगुप्त** का *परात्रिशिकाविवरण* नामक ग्रन्थ भी इसी धारा के विवेचन से जोड़ा जा सकता है। *परात्रिशिका रुद्रयामल तन्त्र* का उत्तरभाग है, जिससे यह संकेत मिलता है कि *रुद्रयामल तन्त्र* में भी इसी धारा का विवेचन है।

इस धारा का प्रमुख वैशिष्ट्य है कि यहाँ विविध अनुष्ठानों के ऊपर समावेश को

८२. कुल-प्रक्रियायां तिस्रः शक्तयः पराद्याः। - *तं.वि.*, २, पृ. १५३

८३. *तं.* २६/४७-४८, ५१-५३

८४. तन्मुख्यचक्रमुक्तम्। - तदेव २६/१२४

८५. *तं.* २६/२७क

८६. **अभिनवगुप्त** अनुत्तरत्रिक शास्त्र के विवेचन के सन्दर्भ में जिन तन्त्रों को मुख्य आधार मानते हैं, हमने यहाँ उन्हीं को इस परम्परा के अन्दर स्वीकार किया है। अपने विवेचन में वह अन्य तन्त्रों के विवरणों को भी प्रमाण रूप में लेते हैं, पर मुख्यतः उनका प्रतिपादन इन्हीं तन्त्रों पर निर्भर है।

८७. *चिञ्चिणीमतसारसमुच्चय* त्रिक धारा को पूर्वाम्नाय से ही जोड़ता है। *कुलरत्नोद्योत* तन्त्र पूर्वाम्नाय व पश्चिमांम्नाय में परस्पर सम्बन्ध स्थापित करता है तथा पूर्वांम्नाय को पश्चिमांम्नाय से उद्धृत बताता है। पूर्वांम्नाय एवं पश्चिमांम्नाय के सिद्धान्तों में भी काफी साम्य है, परन्तु यह तन्त्र पूर्वांम्नाय को त्रिक परम्परा से स्पष्टतः नहीं जोड़ता, यद्यपि वह बराबर त्रिक तन्त्रों का उल्लेख करता है।

प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया।^{१८} यद्यपि उन समाविष्ट साधकों के लिए भी कुछ विशेष पर्वों में कुल-पूजा व रहस्यचर्या का विधान है, तथापि उनकी साधना प्रक्रिया में सारे विधि-निषेधों को छोड़कर एकमात्र उस तन्मयी भाव तक पहुँचने की प्रक्रिया पर ही प्रधान आग्रह है।^{१९} अतः सारी तान्त्रिक विधियों की अनिवार्य प्रक्रियाएँ – स्नान, अन्तर्याग, होम, न्यास आदि का सम्पादन – यहाँ उसके लिए अपरिहार्य नहीं हैं।^{२०} कुल-चक्र की पूजा का सम्पादन बाह्य की बजाएँ अन्य अधिकरणों पर भी सम्भव है। अभिनवगुप्त के अनुसार ये अधिकरण छह हैं।^{२१} साधक बाह्यतः भू, वस्त्र आदि में, शक्ति में, यामल अर्थात् आद्ययागाधिरूढ़ मिथुन भाव में, देह में, प्राणपथ अर्थात् मध्य नाड़ी में और बुद्धि में इस कुल-पूजा का सम्पादन कर सकता है। कुल-साधक के लिए आवश्यक है कि उसमें इस आवेश के चिह्न लक्षित हों। इस आवेश की प्राप्ति के लिए यहाँ शोध्यशोधक भाव की कल्पना की गई है और तदनुसार आवेश के भी कई स्तर बताए गए हैं। पचास प्रकार के समावेश तो शब्दशः परिगणित हैं ही, पर साथ ही प्रकारान्तर से उनके असंख्य भेद भी कहे गए हैं। वाच्य और वाचक दोनों ही स्तरों पर इस तन्मयी भाव को पाने की प्रक्रिया का यहाँ निरूपण है। कुलचर्या के सम्पादन में भी शक्ति-अनुसंधान की कल्पना पर ही विशेष आग्रह है।^{२२} इस समावेश की स्थिति तक पहुँचने में ज्ञान, क्रिया व योग तीनों ही मार्गों का आश्रय लिया जा सकता है। अन्ततः जब उसमें आनन्द, उद्वेग, कम्प, निद्रा व घूर्णि – इन पाँच लक्षणों का क्रम से या एक साथ उदय होता है, तभी वह पूर्ण समावेश को प्राप्त होता है। इस धारा में कौलिक चर्याविधि को वही महत्त्व प्राप्त है,^{२३} जो अन्यत्र विकसित धाराओं में है। पर उन अनुष्ठानों को यहाँ स्वकाय,^{२४}

८८. भूयोभूयः समावेशं निर्विकल्पमिमं श्रितः।

अभ्येति भैरवीभावं जीवन्मुक्त्यपराधिधम्॥ – तं. ३/२७१

८९. परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा।

उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथ वा क्वचित्॥ – तदेव ३/२७३

९०. स्नानमण्डलकुण्डादि षोढान्यासादि यत्र तत्।

किञ्चिदत्रोपयुज्येत कृतं वा खण्डनाय नो॥ – तदेव २६/८; द्र. ४/२५६-२७३

९१. बहिः शक्तौ यामले च देहे प्राणपथे मलौ।

इति षोढा कुलेज्या स्यात्प्रतिभेदं विभेदिनी॥ – तदेव २६/७

९२. नाहमस्मि न चान्योऽस्ति केवलाः शक्तयस्तत्त्वहम्।

इत्येवं वासनां कुर्यात् सर्वदा स्मृतिमात्रतः॥ – तदेव २६/६४

९३. तन्मुख्यचक्रमुक्तं महेशिना योगिनीवक्त्रम्॥

तत्रैव सम्प्रदायस्तस्मात् संप्राप्यते ज्ञानम्। – तं. २६/१२४ख-१२५क

९४. निजदेहगते धामनि तथैव पूज्यं समभ्यतेत्॥ – तं. २६/१३३क

प्राणवायु^{६५} या स्वसंविन्मात्र^{६६} में भी सम्पादित किया जा सकता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में आदियाग की धारणा का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है, यद्यपि १६वें अधिकार में आए हुए विवरणों के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि योगिनी-मेलन की धारणा उस समय भी कौलिक साधना-विधि का महत्वपूर्ण अंग थी। उसका प्रक्रियात्मक स्वरूप स्पष्टतः क्या था, इसका विवरण अज्ञात है, पर अभिनवगुप्त ने अपने प्रतिपादनों में आदियाग^{६७} को कुल-प्रक्रिया का अनिवार्य घटक माना है।

कश्मीर के पारम्परिक पण्डित गणों के अनुसार यह धारा गृहस्थ शैवों की है। सैण्डर्सन की अगुआई में आधुनिक विद्वान् उसी का अनुवाद करते हुए उसे शैव गृहस्थों में ही प्रचलित परम्परा मानते हैं। उनकी दृष्टि में तान्त्रिक परम्परा के अनुयायी होने पर भी गृहस्थ धर्म में संलग्न होने के कारण जो शैव कापालिक इस परम्परा के पालन में असमर्थ थे, उनके लिए कापालिक परम्परा की अति उग्र साधना विधियों के स्थान पर सामाजिक जीवन में ब्राह्म, मध्यमार्गीय चर्या-विधियों का विधान इस धारा में किया गया है।

उत्तराम्नाय : काली परम्परा में विकसित कुल-धारा को इस आम्नाय के अन्तर्गत रखा जाता है। इसमें मत, क्रम व उत्तराम्नाय नामक सम्प्रदायों में प्ररोह पाई कुल-परम्परा को रखना उचित होगा। विद्यापीठ के वे तन्त्र, जिनमें काली को सर्वोच्च देवी का स्थान दिया गया, इस धारा से सम्बद्ध हैं। अभिनवगुप्त के तन्त्रालोक में इस परम्परा का भी विशेष निरूपण मिलता है, परन्तु वे इसे अलग से एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित करने का प्रयास नहीं करते। यहाँ त्रिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में ही क्रम-सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया गया है। वैसे भी अभिनवगुप्त के तन्त्र-प्रक्रिया रूप वर्गीकरण की व्यापक परिधि में यह सम्प्रदाय स्वतः आ जाता है। कई बार त्रिक या कुल के सिद्धान्तों या प्रक्रिया की चर्चा करते समय वे काली-परम्परा के ग्रन्थों से प्रमाण व उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, जो यही संकेत करता है कि उनकी दृष्टि में क्रम एक विजातीय परम्परा नहीं है। इसीलिए वे इसे त्रिक सिद्धान्तों के सन्दर्भ में निरूपित करते हैं। इस काली-परम्परा में सारी मीमांसाएँ व प्रक्रियाएँ काली^{६८} को केन्द्र में लेकर घटित होती हैं। यहाँ बारह कालियों या बारह

६५. एवं प्राणक्रमेणैव तर्पयेद् देवतागणम्।

अचिरात्तत्प्रसादेन ज्ञानसिद्धीरथाश्नुते॥ - तदेव २६/१८०

६६. संविन्मात्रस्थितं देवीचक्रं वा संविदर्पणात्।

विश्वभोगप्रयोगेण तर्पणीयं विपश्चिता॥ - तदेव २६/१८१

६७. आदीयते यतः सारं तस्य मुख्यस्य चैष यत्।

मुख्यश्च यागस्तेनायमादियाग इति स्मृतः॥ - तदेव २६/१३४

६८. सैव काली महादेवी गीयते लोकवेदयोः।

इतिहासेषु तन्त्रेषु सिद्धान्तेषु कुलेषु च॥ - म.मं.प., पृ. १०४ पर अनाम आगम से उद्धृत

कालियों से घिरी कालसंकर्षिणी की पूजा ही समादृत है। भंगिमान्तर केवल इतना है कि जो त्रिक में मातृसद्भाव है, वही यहाँ कालसंकर्षिणी है;^{६६} और जो त्रिक की बारह शक्तियों का मुख्य चक्र है, वही क्रम सम्प्रदाय में बारह कालियों का रूप धारण करता है।^{१००} इसी प्रकार दूतीयाग आदि चर्या-विधियों में भी एकता है। भेद केवल उस साधना के सम्पादन की दृष्टि से है। यहाँ दृष्टि समग्रता के अनुसंधान पर केन्द्रित न होकर उस साधना के क्रमिक स्तरों पर केन्द्रित है। यहाँ भी बाह्य-पूजा से संवित्-पूजा को उच्चतर माना गया है।^{१०१} संवित् में ही सृष्टि-क्रम, स्थिति-क्रम, संहार-क्रम, अनाख्या-क्रम आदि की पूजा का विधान है। इस धारा का मुख्य तन्त्र है *जयद्रथयामल तन्त्र*, जिसे *तन्त्रराजभट्टारक* भी कहा जाता है। *देवीपञ्चशक्ति* तथा *क्रमसद्भाव तन्त्र* भी इस धारा के प्रतिपादक शास्त्र हैं, जिनमें इस परम्परा का अधिक व्यवस्थित विवेचन है। यहाँ चर्या अपेक्षाकृत अधिक उग्र है और कापालिक धारा के अधिक नजदीक है। पूज्य सिद्ध-क्रम वही है, जो त्रिक परम्परा में मान्य है। शेष कुल-विधि की प्रक्रिया का स्पष्ट विवेचन उपलब्ध नहीं है। अतएव निष्कर्षतः यही कह सकते हैं कि उपर्युक्त भेदों को दृष्टि में रखते हुए *अभिनवगुप्त* द्वारा निरूपित कुल-प्रक्रिया की प्रसक्ति यहाँ भी देखी जा सकती है।

दक्षिणाम्नाय : इस आम्नाय से त्रिपुरा या त्रिपुरसुन्दरी की परम्परा में विकसित कुल-धारा का सम्बन्ध है। यहाँ शक्ति के सौम्य रूप की उपासना की जाती है। इस परम्परा को श्रीविद्या-सम्प्रदाय और सौभाग्य-सम्प्रदाय जैसी संज्ञाओं से भी पुकारा गया है। इस सम्प्रदाय का सबसे प्राचीन तन्त्र *वामकेश्वर तन्त्र* है। इसके अतिरिक्त *तन्त्रराज तन्त्र*, *ज्ञानार्णव तन्त्र* व *शक्तिसङ्ग्रह तन्त्र* को भी उस धारा का तन्त्र कहते हैं। *नित्याषोडशिकार्णव तन्त्र* उसी *वामकेश्वर तन्त्र* का एक भाग है। *वामकेश्वर तन्त्र* के उपलब्ध अंश पर लिखे गए व्याख्या-ग्रन्थों से ही इस धारा का स्वरूप स्पष्ट होता है। इस पर *वामकेश्वरीमतविवरण* नाम से सबसे पहले *जयरथ* द्वारा लिखी हुई व्याख्या प्राप्त होती है, जिसमें इस सम्प्रदाय में विकसित कुल-विधि के स्वरूप को प्रस्तुत करने का स्पष्ट प्रयास है। *जयरथ* के उल्लेखों

६६. देवीयामलशास्त्रे सा कथिता कालकर्षिणी। महाडामरके यागे श्रीपरा मस्तके तथा ॥

श्रीपूर्वशास्त्रे सा मातृसद्भावत्वेन वर्णिता। - तं. ३/७०-७१; द्र., तं. ३/२३४ :

एषा वस्तुत एकैव परा कालस्य कर्षिणी। शक्तिमद्वेदयोगेन यामलत्वं प्रपद्यते ॥

१००. संविदो द्वादश प्रोक्ता यासु सर्व समाप्यते। एतावद्देवदेवस्य मुख्यं तच्छक्तिकचक्रम् ॥

एतावता देवदेवः पूर्णशक्तिः स भैरवः। परामर्शात्मकत्वेन विसर्गाक्षेपयोगतः ॥

इयत्ताकलनाज्ज्ञानात्ताः प्रोक्ताः कालिकाः क्वचित्। - तदेव ३/२५१-२५३क

१०१. पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा।

निर्विकल्पे महाव्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥ - वि. भै. १४७

विज्ञानभैरव की इस कारिका को *महेश्वरानन्द* अपने *परिमल* में (पृ. १०८) प्रमाणतया उद्धृत करते हैं।

से यह स्पष्ट है कि उस धारा की उपस्थिति कश्मीर में उनसे पूर्व भी थी, पर आज उन ग्रन्थों के उपलब्ध न होने के कारण जयरथ द्वारा प्रस्तुत विवरण ही प्रमाण है। जयरथ के बाद *नित्याषोडशिकार्णव* तन्त्र के पूर्व भाग पर शिवानन्द के द्वारा लिखी हुई *ऋजुविमर्शिनी* टीका एवं विद्यानन्द द्वारा रचित *अर्थरत्नावली* टीका तथा उत्तर भाग *योगिनीहृदय* पर भास्करराय द्वारा रचित *सेतुबन्ध* व *अमृतानन्दयोगी* द्वारा रचित *दीपिका* नामक टीकाएँ तथा अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थों — *सौभाग्यसुधोदय*, *कामकलाविलास*, *मातृकाचक्रविवेक* आदि — में इस सम्प्रदाय का विकास दिखाई पड़ता है। विवरणों से ऐसा ज्ञात होता है कि यह सम्प्रदाय सर्वप्रथम कश्मीर के पास ओड्डियान नामक स्थान पर चर्यानाथ के द्वारा स्थापित किया गया और उसी पीठ में दीक्षित ईश्वरशिव ने कश्मीर में इसका अवतारण किया।^{१०२} इस त्रिपुरा धारा का जो पूज्य सिद्ध-क्रम (मित्रनाथ, ओड्डनाथ, षष्ठनाथ, चर्यानाथ) माना गया है, वह इसी मान्यता को पुष्ट करता है। ऋजुविमर्शिनीकार शिवानन्द के अनुसार त्रिपुरा सम्प्रदाय की उत्पत्ति कश्मीर में हुई,^{१०३} परन्तु कश्मीर में इसका अवतारक कौन था, इसकी सूचना वहाँ नहीं मिलती। काश्मीरी विद्वान् जयरथ के अनुसार आचार्य ईश्वरशिव व विश्वावर्त इस सिद्धान्त को कश्मीर लाए थे।^{१०४} इससे लगता है कि जयरथ की सूचना में इसका उत्पत्ति-स्थल कश्मीर से अन्य है। इस आपातिक विप्रतिपत्ति का निदान शायद ऐसे हो सकता है। सम्भवतः मध्य देश, जिसे अभिनवगुप्त “निःशेषशास्त्रसदन” कहते हैं, से यह परम्परा कश्मीर में आयातित हुई और फिर यहाँ से दक्षिण देश में। इस परम्परा को दक्षिणाम्नाय से जोड़ना सम्भवतः दक्षिण देश में ही इसके विशेष संरक्षण व प्रसार को संकेतित करता है। यहाँ पर यह सम्भावना करना भी सर्वथा अस्थाने न होगा कि इसका कोई सम्बन्ध दक्षिण पीठ, जिससे अभिनवगुप्त के गुरु शंभुनाथ का सम्बन्ध था, से भी रहा हो। वैसे इस तरह के भी मत उपलब्ध हैं, जिनमें इस सम्प्रदाय को अन्य आम्नायों से सम्बद्ध किया गया है, जैसे *कुलरत्नोद्योत* इसे पश्चिमात्मनाय से सम्बद्ध करता है। पर विद्यानन्द^{१०५} व *अमृतानन्द*^{१०६} अपनी टीकाओं में इसे “दक्षिणपक्षपातिनी” धारा ही कहते हैं।

१०२. इस सम्प्रदाय के तन्त्रों में आम्नाय-विभाजन का उल्लेख नहीं मिलता, पर यहाँ चार महापीठों के रूप में विभाजन उपलब्ध है। चार महापीठ हैं — कामरूप, जालन्धर, पूर्णगिरि तथा ओड्डियान। अन्तिम को ओड्डियान अथवा ओड्डियान के नाम से भी जाना जाता है। इनको चार स्रोतों के रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

१०३. यदुक्तमस्मत्परमगुरुभिः श्रीमदृजुविमर्शिन्याम् “... सम्प्रदायस्य कश्मीरोद्भूतत्वात् . . .”।

— म.मं.प., पृ. १८६

१०४. वस्तुतो हि अस्य दर्शनस्य एतदेव आचार्यद्वयं कश्मीरेषु अवतारकम्। — वा.म.वि., पृ. ४८

१०५. इयं च विद्या चतुराम्नायसाधारण्यपि दक्षिणपक्षपातिनी। — नि.घो.तं. (अर्थरत्नावली) पृ. ४१

१०६. दक्षिणस्रोतःपक्षपातिन्याः सौभाग्यदेवतायाः। — यो.ह.दी., पृ. १३३-१३४

इस सम्प्रदाय में कुल-धारा विद्यमान थी, इसका स्पष्ट संकेत *वामकेश्वरीमतविवरण*, *योगिनीहृदयदीपिका* आदि ग्रन्थों से मिलता है। सौभाग्यविद्या के विविध अर्थों में कौलिकार्थ की गणना इस दृष्टि को पुष्ट करती है। यहाँ कुल है शरीर।^{१०७} इस शरीर में आठ सूक्ष्म पुर्यष्टक हैं, जिनमें आठ योगिनियाँ स्थित हैं। वैखरी वाणी के आठ वर्ग इन्हीं के रूप हैं। इनकी पूजा यहाँ चक्र-विशेष में करने का विधान है। इसके अतिरिक्त कुलाचार की व्याख्या पराद्वयभावना के प्रकर्ष रूप में ही की गई है^{१०८} और इसका फल खेचररूपता की प्राप्ति कहा गया है।^{१०९} *योगिनीहृदय* में चक्र, देवता, विद्या, गुरु और साधक के ऐक्य का अनुसन्धान ही कौलिक शब्द का अभिधेय है।^{११०} **जयरथ** *वामकेश्वरीमतविवरण* में कुल-ज्ञान को अधराधर शास्त्रों का भी अनुप्राणक मानते हैं।^{१११} उनके अनुसार इसी व्यापक दृष्टि के कारण परा शक्ति कहीं ऊर्मि, कहीं भोगिनी, कहीं कुब्जा, कहीं कुलेश्वरी, कहीं कालकर्षिणी, कहीं त्रिपुरा और कहीं कुण्डलिनी कही गई है।^{११२} *वामकेश्वरीमतविवरण* में परा शक्ति को ही कुण्डलिनी रूप में भी **जयरथ** उसी प्रकार प्रस्तुत करते हैं,^{११३} जैसा उन्होंने **अभिनवगुप्त** के *तन्त्रालोक* की व्याख्या में किया है।^{११४}

वास्तव में इस सम्प्रदाय में प्रकाशात्मक अनुत्तर तत्त्व कामेश्वर तथा इसकी शक्ति कामेश्वरी कही गई है। यही मिथुनस्वरूप विविध चक्रों के क्रम से विकसित होता हुआ श्रीचक्र के रूप से आकार ग्रहण करता है। यह श्रीचक्र कामकला का ही प्रसार है। कामकला है आद्या शक्ति। श्रीचक्र नौ चक्रों — त्रैलोक्यमोहन, सर्वाशापरिपूरक, सर्वसंक्षोभण, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वार्थसाधक, सर्वरसाकर, सर्वरोगहर, सर्वसिद्धिमय और सर्वानन्दमय — की समष्टि है। इस श्रीचक्र की सृष्टि-स्थिति-संहार क्रम से त्रिविध भावना करने पर त्रिपुरा-चक्र का स्वरूप ज्ञात होता है। त्रिपुरा वाग्भव-रूप वागिश्वरी, कामकला-रूप

१०७. कुलं षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकं शरीरं। - तदेव, पृ. ३२०

१०८. कुलाचारक्रमेणेति पराद्वयभावनयेति अर्थः। - वा.म.वि., पृ. ६०

१०९. पूजयेद् रात्रिसमये कुलाचारक्रमेण यः॥

तत्क्षणात् स महेशानि साधकः खेचरो भवेत्। - वा.म.तं. २/७४ख-७५क

११०. कौलिकं कथयिष्यामि चक्रदेवतयोरपि॥

विद्यागुर्वात्मनामैक्यं . .। - यो.ह. २/५१ख-५२क

१११. तत्र कुलज्ञानस्य अधराधरेषु अपि अनुप्राणकत्वमुक्तम्। - वा.म.वि., पृ. २८

११२. ऊर्मिरिति भोगिनीत्यपि कुब्जेति कुलेश्वरीति जगदुर्याम्।

श्रीकालकर्षणीत्यपि कुण्डलिनीत्यपि च नौमि तां देवीम्॥ - तदेव, पृ. २८; और भी द्र. पृ. १०३

११३. तदेव, पृ. १०३-१०६ (वा.म.तं. ४/८-१४ पर)।

११४. तं.वि., २, पृ. ४२८-४३०।

कामराज व पराशक्ति-रूप शक्तिबीज का समग्र है।^{११५} नित्याषोडशिकार्णव में सोलह नित्याओं का वर्णन है। पराशक्ति ही सोलह नित्याओं के रूप में स्फुरित होती है।^{११६}

इस प्रकार इस सम्प्रदाय की विशिष्ट पूजा-पद्धति में कुल-दृष्टि मिश्रित रूप से उपलब्ध होती है। यहाँ कुल-दृष्टि का लक्षण अहन्ता-दृष्टि का ही सर्वत्र विकास है। यही यहाँ वीरभाव है।^{११७}

पश्चिमान्नाय : इसमें कुब्जिका की परम्परा में विकसित कुल-धारा को रखा जाता है। यद्यपि इस परम्परा के ग्रन्थ आज नेपाल में ही उपलब्ध हैं, जिससे ऐसा लगता है कि यह परम्परा वहीं विकसित हुई, पर इन तन्त्रों के अवलोकन से यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इनका प्रचलन एक समय पूरे भारत में था। **अभिनवगुप्त** भी **परात्रिशिकाविवरण** में **कुब्जिकामत** तन्त्र का एक बार उल्लेख करते हैं।^{११८} यहाँ कुब्जिका ही मुख्य देवी है। **कुब्जिकामत** तन्त्र इस परम्परा का मुख्य तन्त्र है। **मार्क डिक्कोप्सकि** **मन्थानभैरवतन्त्र** को भी इसी परम्परा में रखते हैं। यहाँ अधिकांश सिद्धान्त त्रिक मत से ही गृहीत हैं। कई स्थल तो त्रिक तन्त्रों की नकल लगते हैं। पर यहाँ मुख्य भेदक विशेषता यह है कि यह परम्परा शैव भी है और शाक्त भी। कुब्जिका की परमता में जहाँ कोई सन्देह नहीं है, वहीं मन्थानभैरव को भी सर्वोत्तीर्ण तत्त्व के रूप में तेरहवीं काली के स्थान पर स्वीकारा गया है। इस परम्परा में सिद्ध-क्रम वही है, जो त्रिपुरा परम्परा में स्वीकृत है - **मित्रनाथ, ओङ्गनाथ, षष्ठनाथ व चर्यानाथ**। कुण्डलिनी योग इस परम्परा का वैशिष्ट्य है। कुल-प्रक्रिया का यहाँ वही रूप स्वीकृत है, जो त्रिक तन्त्रों में उपलब्ध होता है। कुब्जिका

११५. वागीश्वरी ज्ञानशक्तिर्वाग्भवा मोक्षरूपिणी। कामराजा कामकला कामरूपा क्रियात्मिका ॥
शक्तिबीजा परा शक्तिरिच्छैव विषरूपिणी। एवं देवी व्यक्षरा तु महात्रिपुरसुन्दरी ॥

- वा.म.तं. ४/१७-१८क

११६. तत्रावौ प्रथमा नित्या महात्रिपुरसुन्दरी ॥ ततः कामेश्वरी नित्या नित्या च भगमालिनी।
नित्यक्लित्राभिधा नित्या भेरुण्डा वह्निवासिनी ॥ महाविद्येश्वरी दूति त्वरिता कुलसुन्दरी।
नित्या नीलपताका च विजया सर्वमङ्गला ॥ ज्वालामालिनी चित्रा चेत्येवं नित्यास्तु षोडश।

- नि.षो.तं. १/२५-२८क

११७. 'अहमि प्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः। पराक्रमपरो भुङ्क्ते स्वभावमशिवपहम् ॥'
इति परापञ्चाशिकोक्तरीत्या भेदप्रतीतिसाधनस्य इदन्तारिपोरहमि समराङ्गणे
प्रलयप्रतिपादनपरा वीराः, तैः सह पूजनम्। - यो.ह.वी., पृ. ३४४

११८. तत् कुसुममेव त्रिकोणतया योनिरूपं . . . श्रीकुब्जिकामते खण्डचक्रविचारे अमुमेवार्थं
प्रधानतया अधिकृत्य आदिष्टम् 'भायोपरि महामाया त्रिकोणानन्दरूपिणी' इत्यादि।

- प.त्रि.वि.(का.ग्रं.), पृ. १८३-१८४

कुण्डलिनी के रूप में विशुद्ध आनन्द है, जो शरीर के छह केन्द्रों, जिन्हें चक्र कहते हैं, में छह रूपों में अवस्थित है। चित्-शक्ति के रूप में यह सभी मन्त्रों का स्रोत है। इसके तीन पक्ष हैं — परा, परापरा व अपरा। इस त्रिविध रूप में वह पचास आमर्श वाली मालिनी है, जो सारे विश्व-वैचित्र्य के प्रसार व संहार को प्रतिबिम्बित करती है। यह इच्छा-ज्ञान-क्रिया के त्रिक रूप से भी वाच्य है। इसके लिए जिस त्रिकोण की कल्पना की जाती है, उसके तीन कोणों पर तीन पीठ स्थित हैं — पूर्णगिरि, जालन्धर तथा कामरूप। मध्य में ओड्डियान पीठ है, जहाँ इस कुब्जिका का निवास है। यह कुब्जिका यहाँ अकुल (कुब्जेश्वर) व कुल के संघट्ट रूप से निवास करती है। यही कुल-कुलेश्वरी हैं।

इस प्रकार कुल-मत के इस चतुर्विध विकास के आकलन से यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि इस मत को अभिनवगुप्त के मन्तव्य के अनुगुण, एक “प्रक्रिया” (अर्थात्, कुल-प्रक्रिया) कहना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि इस मत के सारे सन्दर्भ इसकी विशिष्ट प्रक्रिया को केन्द्र में लेकर ही गतिशील होते हैं। विविध दिशाओं में इसका विकास इसके मानक स्वरूप को नहीं बदलता, मात्र पूज्य देवता व देवी चक्र की संज्ञाओं में परिवर्तन आता है। कुण्डलिनी योग तथा आदियाग इस कुल-प्रक्रिया के अनिवार्य सोपान हैं। सर्वत्र निषिद्ध पदार्थों का उपयोग इस साधना का विशेष घटक है। परन्तु इस कुलचर्या के अतिरिक्त यहाँ एक विशिष्ट चिन्तन-प्रणाली भी विद्यमान है, जो इन चर्यागत अनुष्ठानों को सार्थकता प्रदान करती है। अतएव हम उस अभिप्राय को खोजने का प्रयास करेंगे, जो इस सम्प्रदाय के विशिष्ट स्वरूप का आधायक है।

सबसे पहले इस सम्प्रदाय की पारिभाषिक शब्दावली का विश्लेषण आवश्यक है। कुल, अकुल, कौलिकी शक्ति व कौलिकी सिद्धि इस सम्प्रदाय की परिचायक संज्ञाएँ हैं। कुल का अर्थ है एक परिवार या समूह और इस समूह के द्वारा अंगीकृत हर व्यक्ति इसका सदस्य है।^{११६} अतः कुल का अर्थ है — वह तत्त्व जो नानात्व को अंगभाव से स्वीकृत कर अंगीरूप में स्थित है। अकुल तत्त्व वह है, जो इस नानात्व से उत्तीर्ण रहता हुआ स्वात्ममात्र में विश्रान्त होकर स्थित है।^{११७} कौलिकी शक्ति है, इस विश्वरूप कुल को प्रथन करने की सामर्थ्य।^{११८} अकुल व कौलिकी शक्ति का

११६. “कुल संस्थाने बन्धुषु च”। — प.त्रि.वि. (जय.), (धातुशत से सानुमोदन उद्धृत) पृ. ५२

१२०. अनुत्तरस्य आकारस्य परभैरवरूपिणः। — मा.वि.वा. १/८६०; और भी द्र. :-

अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते। — तं. ३/१४३क

१२१. अकुलस्यास्य देवस्य कुलप्रथनशालिनी। कौलिकी सा परा शक्तिरवियुक्ते यया प्रभुः॥ — तं. ३/६७; और भी द्र. :-

अकुलस्य परा येयं कौलिकी शक्तिरुत्तमा॥ — मा.वि.वा. १/८६०

यामलभाव ही वह परम कौल तत्त्व है, जो एक साथ शान्त व उदित दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है।^{१२२} कौलिकी सिद्धि है, इस परम कौल तत्त्व के साथ समावेश की अवस्था।^{१२३} अभिनवगुप्त कुल शब्द की व्याख्या परमेश की शक्ति, सामर्थ्य, ऊर्ध्वता, स्वातन्त्र्य, ओज, वीर्य, पिण्ड, संवित् तथा शरीर की शब्दावली में करते हैं।^{१२४} अन्यत्र वे इसे सूक्ष्म और स्थूल तत्त्वों - प्राण, पञ्चभूत, दश इन्द्रिय आदि का समूह कहते हैं। इस सामूहिक प्रवृत्ति का प्रयोजक या तो कार्यकारण भाव^{१२५} हो सकता है अथवा परम संवित् का आश्यानी भाव।^{१२६} इसी प्रकार भैरव की असंख्य रश्मियों का सामस्य भाव कहकर भी इसे प्रस्तुत किया जाता है।^{१२७} अतः यह कुल तत्त्व वह चरम तत्त्व है, जहाँ सब कुछ निर्गत भी होता है व विश्रान्त भी।^{१२८} इस प्रकार यह उस परम कौल अवस्था का ही पर्याय बन जाता है, जिसके प्रति नमन से *तन्त्रालोक* का प्रारम्भ होता है^{१२९} और जिसकी सब में

१२२. इत्थं यामलमेतद्वलितभिदासंकथं यदेव स्यात्॥

क्रमतारतम्ययोगात्सैव हि संविद्विसर्गसंघट्टः।

तद्ध्रुवधामानुत्तरमुभयात्मकजगदुदारसानन्दम्॥

नो शान्तं नायुदितं शान्तोदितसूतिकारणं परं कौलम्। - तं. २६/११५ख-११७क

१२३. तत्र कुले भवा कौलिकी सिद्धिः तथात्वदाढ्यं परिवृत्य आनन्दरूपं हृदयस्पन्दस्वरूप-
परसविदात्मकशिवविमर्शतादात्म्यम्, तां (सिद्धिं) ददाति, अनुत्तरस्वरूपतादात्म्ये हि कुलं तथा भवति।

- प.वि.वि. (जय.), पृ. ५३-५४

१२४. कुलं च परमेशस्य शक्तिः सामर्थ्यमूर्ध्वता।

स्वातन्त्र्यमोजो वीर्यं च पिण्डः संविच्छरीरकम्॥ - तं. २६/४

जयरथ ने इस कारिका की व्याख्या में मूल आगमों को उद्धृत करते हुए संकेत किया है कि अभिनव ने वस्तुतः इन नौ अर्थों के पुरस्करण में तान्त्रिक अर्थ-वैविध्य का यहाँ संग्रह किया है। - द्र., तं.वि., ७, पृ. ३२६३-६४

१२५. कुलं स्थूल-सूक्ष्म-पर-प्राणेन्द्रिय-भूतादि-समूहात्मतया कार्यकारणभावाच्च।

- प.वि.वि. (जय.), पृ. ५१-५२

१२६. कुलं बोधस्यैव आश्यानरूपतया यथावस्थानात्। - तदेव, पृ. ५२

१२७. . . . इदं परमेश्वरस्य भैरवमानोः रश्मिचक्रात्मकं निजभासास्फारमयं कुलम् उक्तम् . . .।

- तदेव, पृ. ५५

१२८. यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च।

तत्कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिवशक्तिविवर्जितम्॥ - तं.वि., २, पृ. ४२७

१२९. हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात्। - तं. १/१

अनुस्यूति दिखलाकर इस वृहत् ग्रन्थ की दार्शनिक विषय-वस्तु का समापन भी।^{१३०} तान्त्रिक ग्रन्थों में कुल शब्द विविध और विभिन्न माताओं के कुलों का भी वाचक है। ये माताएँ यहाँ वे तान्त्रिक देवियाँ हैं, जिन्हें तन्त्र की भाषा में मातृका, योगिनी, यक्षिणी, शाकिनी व डाकिनी कहा गया है। इनमें से कुछ का रौद्र कर्मों में अधिकार है तो कुछ का सौम्य कर्मों में। इन सभी के अपने-अपने कुल हैं तथा विशिष्ट सिद्धियों को देने का अधिकार है। साधक जिस कुल के साथ एकत्व स्थापित करता है, उसी कुल की अधिष्ठात्री माता उसे अभीष्ट फल प्रदान करती है। कुलेश्वर व कुलेश्वरी के रूप में जिनकी कल्पना की जाती है, वे अकुल तत्त्व तथा कौलिकी शक्ति हैं। यह कौलिकी शक्ति ही क्षुब्ध होने पर विसर्ग रूप में परिणत हो जाती है।^{१३१} वस्तुतः अकुल एवं कौलिकी शक्ति के संघट्ट से ही उस विसर्गरूपता का उद्भव होता है, जिसका परिणाम है यह सारा वाच्य-वाचक रूप जागतिक विस्तार।^{१३२} सर्वप्रथम इससे अनुत्तर-इच्छा-उन्मेष-रूपी त्रिक का उदय होता है और तब उससे अन्य परामर्शों का।^{१३३} इस दार्शनिक सन्दर्भ को चर्याक्रम के आदियाग से समीकृत कर पुष्ट करने का प्रयास भी किया गया है।^{१३४} यह विसर्ग शक्ति आनन्दशक्ति से क्रियाशक्ति पर्यन्त विविध सामर्थ्यों को अभिव्यक्त करती हुई पहले बारह परामर्शों के रूप में परिस्फुटित होती है।^{१३५} ये द्वादश संविद्-देवियाँ भैरव का मुख्य शक्ति-चक्र हैं।^{१३६} तदनु यह बाकी

१३०. पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम्।

यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम्॥ - तं. ३५/३४

जयरथ के प्रमाण से यहां कुल शब्द के प्रयोग में संस्त्यान अर्थ में धात्वर्थ की अनुगति हुई है। शास्त्रमेलन नामक पैतृसर्वे आहिक में तन्त्रालोक के मुख्य विषय-प्रतिपादन का एक प्रकार से उपसंहार होता है। बाद के दो आहिकों का मुख्य प्रयोजन आयातिक्रम और उपादेयता का निरूपण है।

१३१. अस्यान्तर्विसंस्वासासौ या प्रोक्ता कौलिकी परा॥

सैव क्षोभवशादेति विसर्गात्मकतां ध्रुवम्। - तं. ३/१३६ख-१३७क

१३२. विसर्गशक्तिर्या शम्भोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते॥

तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः। - तदेव ३/२०८ख-२०८क

विसर्ग शक्ति की यह विश्वस्फार-सामर्थ्य शैव शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों में भी अभ्युपगत है। इसके निदर्शन के लिए ऐतरेय उपनिषद् में प्रस्तुत विवेचन की ओर अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। - द्र., तं. ३/२२६-२३१

१३३. तदेव ३/२०७-२०८।

१३४. चर्याक्रमेऽपि स्त्रीपुंसयोः संघट्ट एवानन्दोदयाद् विसर्गः। - तं. वि., २, पृ. ४३३

१३५. विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात्।

स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः॥ - तं. ३/१४४

१३६. तदेव ३/२५१; द्र., पा. टि. १००।

परामर्शों का भी उदयकर पचास आमर्शों एवं तद्वाच्य जगत् के रूप में भासित होती है।^{१३७} आगम इस विसर्ग शक्ति को विविध सन्दर्भों में विभिन्न संज्ञाओं से पुकारते हैं। कभी वह शब्दराशि है, कभी वह मातृका और कभी मालिनी।^{१३८} कभी वह एकत्र पराशक्ति के रूप में वर्णित है तो अन्यत्र कालकर्षिणी के रूप में भी निरूपित है।^{१३९} यह विसर्ग शक्ति ही पचास आमर्शों के सम्पुटित रूप “अहम्” आकार में भी भासित है।^{१४०} दार्शनिक निष्कर्षण में इसी अहम्-परामर्श को सबका विश्रान्तिस्थान कहा जाता है। यही विसर्ग शक्ति योग-प्रक्रिया में कुण्डलिनी संज्ञा से कही जाती है। *सिद्धयोगीश्वरीमत* में यह समस्त विश्व का बीज रूप भी है एवं जीव रूप भी।^{१४१} *कुलगुह्यतन्त्र* में यह विसर्ग-शक्ति कामतत्त्वतया या काम-संज्ञा से वर्णित है। काम शब्द यहाँ इच्छा का ही वाचक है।^{१४२} **अभिनवगुप्त** इस विसर्ग शक्ति के योग को अनुत्तर तत्त्व की विश्वरूपता के लिए उत्तरदायी मानते हैं, साथ ही अनुत्तर के स्वाच्छन्द्य और अनुत्तरत्व को भी उसकी इस विश्वरूपता में कारण मानते हैं।^{१४३} पर **जयरथ** के अनुसार विसर्ग शक्ति का योग ही दो कारणों से होता है - स्वाच्छन्द्य के कारण तथा अनुत्तरत्व के कारण।^{१४४}

यह विसर्ग शक्ति अनिवार्यतः स्पन्दनात्मक है, क्योंकि इसका प्रसार उभय दिशाओं में

-
१३७. एवं पञ्चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः ॥
विमर्शात्मक एवान्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिताः ॥ - तदेव ३/१६६ख-१६७क
१३८. एकामर्शस्वभावत्वे शब्दराशिः स भैरवः ।
आमृश्यच्छायया योगात्सैव शक्तिश्च मातृका ॥
सा शब्दराशिसंघट्टाद् भिन्नयोनस्तु मालिनी । - तदेव ३/१६८-२००क
१३९. मालिनी हि परा शक्तिर्निणीता विश्वरूपिणी ॥
एषा वस्तुत एकैव परा कालस्य कर्षिणी । - तदेव ३/२३३-२३४
१४०. परामर्शो निर्भरत्वादहमित्युच्यते विभोः । अनुत्तराद्या प्रसुतिर्हान्ता विश्वस्वरूपिणी ॥
तत्तस्यामिति यत्सत्यं विभुना सम्पुटीकृतिः । तेन श्रीत्रैशिकशास्त्रे शक्तेः सम्पुटिताकृतिः ॥
- तदेव ३/२०४, ३/२०६
- स्पष्ट है, **अभिनवगुप्त** सम्पुटीकरण की प्रेरणा *परात्रिशिका* (श्लोक २६) से लेते हैं।
१४१. निरूपितोऽयमर्थः श्रीसिद्धयोगीश्वरे मते ।
सात्र कुण्डलिनी बीजं जीवभूता चिदात्मिका ॥ - तदेव ३/२२०
१४२. उवाच भगवानेव तच्छ्रीमत्कुलगहरे । इच्छा कामो विषं ज्ञानं क्रिया देवी निरञ्जनम् ॥
- तदेव ३/१६८-१७२ख
१४३. तस्मादनुत्तरो देवः स्वाच्छन्द्यानुत्तरत्वतः ॥
विसर्गशक्तियुक्तत्वात्सम्पन्नो विश्वरूपकः ॥ - तदेव ३/१६५ख-१६६क
१४४. विसर्गशक्तियोगे स्वाच्छन्द्यमनुत्तरत्वं च हेतुः । - *तं.वि.*, २, पृ. ५४१

घटित होता है। बहिःप्रसार व अन्तःसंकोच रूप दो प्रत्यय ही, जिन्हें उन्मेष व निमेष भी कहा जा सकता है, पञ्चकृत्यों की अवधारणा के मूल में हैं। कुल-मत में संवित् की सामस्त्यरूपता के लिए स्वातन्त्र्य को ही अनिवार्य घटक माना गया है, अतः उस स्वातन्त्र्य की प्रक्रिया को घटित करने के लिए ही स्पन्दनात्मक विसर्ग शक्ति की परिकल्पना की गई है। यह विसर्ग ही उस जगदानन्द शब्द से वाच्य पूर्ण अनुत्तर तत्त्व तक पहुँचने का साधन है। इसे **अभिनवगुप्त** हृदयोच्चार की प्रक्रिया के माध्यम से भी प्रस्तुत करते हैं।^{१४५} विसर्ग सबका सार होने के नाते तान्त्रिक शब्दकोश में हृदय भी कहा गया है।^{१४६} विमर्श, विसर्ग, हृदय व स्पन्द परस्पर पर्याय हैं।^{१४७} अतः हृदयोच्चार है विसर्ग का उच्चार। इसे पचास आमर्शों तथा उसके प्रसाररूप में तत्त्व-पद्धति का विस्तार बताकर स्पष्ट किया गया है।^{१४८} हृदयोच्चार के माध्यम से उस जगदानन्द तत्त्व की प्राप्ति के प्रतिपादन के पीछे अद्वैत दृष्टि की उसी मान्यता की स्वीकृति है, जिसमें शक्ति ही शिव तत्त्व को जानने का उपाय बताई गई है। यहाँ विसर्ग को स्पन्दनात्मक हृदय शब्द से भी कहा गया है। उसकी यह स्पन्दनात्मकता मत्स्य के उदर की भाँति सर्वदा स्थायी है।^{१४९}

योगी प्राण के तिर्यक् प्रवाह को रोककर, उसकी कुण्डलता को दूरकर, प्राण व अपान की गति को समीकृत करता हुआ उसे एक सीधे दण्ड के रूप में पहले मध्य धाम में प्रविष्ट कराता है। पुनः उन तीनों नाड़ियों की संयुक्त-रूपी त्रिशूलभूमि को पारकर इच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्ति के समत्व रूप जिस अवस्था की प्राप्ति करता है, वह यह विसर्गभूमि ही है। इसी के माध्यम से उसे भैरवरूपता की प्राप्ति होती है। यहाँ उसे रासभी बडवा के यामल भाव की चरम अवस्था की भाँति ही उस आनन्दावस्था की प्राप्ति होती है, जिससे वह बार-बार भाव-जगत् की लय व सृष्टि करने की सामर्थ्य वाले भैरव-भैरवी के यामल भाव का साक्षात्कार कर लेता है।^{१५०} फलतः उसमें हानोपादानात्मिका वृत्ति को तिरस्कृत कर सर्वापूरणात्मिका दृष्टि का अंकुरण हो जाता है।^{१५१} अब

१४५. तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः॥ - तं. ५/५२ख

१४६. एकीकृतमहामूलशूलवैसर्गिके हृदि॥ - तदेव ५/६०ख

१४७. इह खलु इदमेव संविदः संवित्त्वं यत् पराप्रष्टृत्वं नाम, यस्य विमर्शः स्पन्दो हृदयो विसर्गः इत्यादयो सहस्रशो व्यपदेशाः। - तं. वि., ३, पृ. १००२-१००३

१४८. यतोऽनुत्तरनाथस्य विसर्गः कुलनायिका।

तत्क्षोभः कादिहान्तं तत्प्रसरस्तत्त्वपद्धतिः॥ - तं. ५/६७

१४९. तत्रोर्ध्वकुण्डलीभूमौ स्पन्दनोदरसुन्दरः॥

विसर्गस्तत्र विश्राम्येन्मत्स्योदरदशजुषि। - तदेव ५/५७ख-५८क

१५०. रासभी बडवा यद्वत्त्वधामानन्दमन्दिरम्॥ विकाससङ्कोचमयं प्रविश्य हृदि हृष्यति। . . .

श्रयेद्विकाससङ्कोचरुदभैरवयामलाम्। एकीकृतमहामूलशूलवैसर्गिके हृदि॥ - तं. ५/५८ख-६०

१५१. परस्मिन्नेति विश्रान्तिं सर्वापूरणयोगतः। - तदेव ५/६१

यह बाह्य जगत् को भी अपने स्वरूप-परामर्शतया ही ग्रहण करता है, जिसे यहाँ “अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः” रूप भैरव-मुद्रा कहा गया है।^{१५०} अतः इसी विसर्गरूपा संजीवनी कला का आश्रय लेकर सार्वार्थ्य-प्रतिपत्तिदायक अर्चना आदि करने का विधान किया गया है।^{१५१} इस विसर्ग-भू की प्राप्ति का मार्ग यों तो अति दुष्कर है, पर कुलचर्या में विहित आदियागाधिरूढ़ मिथुनावस्था का ध्यान करने मात्र से या यथाविधि सम्पादन करने से इसकी अनायास ही प्राप्ति हो जाती है।^{१५२} अन्य सभी उपायों से अर्जित विविध आनन्द इसी चरम आनन्दावस्था से ही सार्थकता प्राप्त करते हैं।^{१५३}

इस स्पन्द दशा को प्राप्त साधक की पहचान पाँच लक्षणों से होती है। ये पाँच लक्षण हैं – आनन्द, उद्वेग, कम्प, निद्रा व घूर्णन।^{१५४} यदि ये लक्षण एक साथ उत्पन्न होते हैं तो उसमें महाव्याप्ति का उदय हो जाता है,^{१५५} और यदि क्रम से उदित होते हैं तो चक्रेशत्व अर्थात् तत्सम्बन्धी चक्रों की ईशता प्राप्त होती है।^{१५६} आनन्द का चक्र है वहयश्चि अर्थात् त्रिकोण, जो योगिनीवक्त्र का प्रतीक है। उद्वेग का चक्र है कन्द, कम्प का चक्र है हतु, निद्रा का चक्र है तालु और घूर्णन का चक्र है ऊर्ध्वकुण्डली, जिसका तात्पर्य द्वादशान्त से है।^{१५७}

समस्त उच्चारणों का विश्रान्तिस्थल यह हृदय-परमस्पन्द तीन प्रकार से भासित होता है। इन त्रिविध अवस्थाओं को तांत्रिक भाषा में अव्यक्त लिंग, व्यक्ताव्यक्त लिंग व व्यक्त लिंग कहा गया है।^{१५८} लिंग वह है जिससे विश्व उदित होता है, जिसमें लीन होता है व जिसमें अन्तःस्थ रहता है।^{१५९} यह संज्ञा तान्त्रिक संस्कृति के संस्कार का ही स्मरण दिलाती है। नर-शक्ति-शिव के अविभाग वाला अव्यक्त लिंग वही पूर्ण तत्त्व है, जो अन्यत्र

१५२. अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिः परमं पदमश्नुते ॥ – तदेव ५/८०ख

१५३. विष्णुगुणदेहान्तर्बहिर्द्वयमयीमिमाम् ।

अर्चयेज्जुहुयाद् ध्यायेदित्यं संजीवनी कलाम् ॥ – तदेव ५/६८

१५४. तदेव ५/७०-७२ ।

१५५. यदनुकल्पनया पुनरन्यत्र आनन्द उपचर्यते येन तदपि परसंविदनुप्रवेशे निमित्ततां यायात् । – तं.वि., ३, पृ. ६६७

१५६. आनन्द उद्वेगः कम्पो निद्रा घूर्णश्च पञ्चकम् ॥ – तं. ५/१०७ख

१५७. तदेव ५/१००-१०७ ।

१५८. प्रदर्शितेऽस्मिन्नानन्दप्रभृतौ पञ्चके यदा ॥

योगी विशेत्तदा तत्तच्चक्रेशत्वं हठाद् व्रजेत् । – ५/१०८ख-१०८क

१५९. आनन्दचक्रं वहन्यश्चि कन्द उद्वेग उच्यते ।

कम्पो हत्तालु निद्रा च घूर्णः स्यादूर्ध्वकुण्डली ॥ – तदेव ५/१११

१६०. तदेव ५/११२-११३, ११५ख-११७क ।

१६१. अत्र विश्वमिदं लीनमन्त्रान्तःस्थं च गम्यते ॥ – तं. ५/११३ख

शिव-शक्ति के यामल भाव की शब्दावली में कहा गया है। व्यक्ताव्यक्त लिंग नर-शक्ति प्रधान है तथा व्यक्त लिंग नर-प्रधान है। अतः भैरव के साथ ऐकात्म्य की प्राप्ति के लिए इस अव्यक्त लिंग की ही पूजा का उपपादन किया गया है।

आनन्द का सारा पसारा इसी विसर्ग शक्ति से माना जाता है।^{१६२} अकुल व कौलिकी शक्ति के संघट्ट से उद्भूत आनन्दावस्था ही वह सामर्थ्य है, जिससे सारे विश्व की सृष्टि होती है।^{१६३} इस विश्व को भी “आनन्दरसविभ्रम” कहकर इसी बात को आग्रहपूर्वक पुष्ट किया गया है।^{१६४} वस्तुतः कुल-मत में आनन्द की धारणा केन्द्रीभूत है।^{१६५} यहाँ इसके विविध स्तरों की कल्पना को अनुत्तर के विकास की विविध अवस्थाएँ कहा गया है, यद्यपि इन सबका पर्यवसान अन्ततः जगदानन्द में माना गया है।^{१६६} अतः चर्यात्मक स्तर पर इस आनन्द तत्त्व का अनुसंधान यहाँ एकमात्र लक्ष्य है और इसी आनन्द के माध्यम से उस चरम आनन्द के सन्दोह रूप कुल-तत्त्व को पाने का सतत प्रयास ही परम साध्य है।^{१६७}

१६२. अभिनवगुप्त की यह विशेषता है कि उनकी अखण्ड दृष्टि सारे सन्दर्भों की एकसूत्रता का सर्वत्र अनुसंधान कर लेती है। कलात्मक सर्जनशीलता और सहृदय के आनन्द बोध का स्रोत भी वह इसी आनन्द शक्ति या विसर्ग शक्ति को मानते हैं :-

विसर्गशक्तिर्या शंभोः सेत्थं सर्वत्र वर्तते॥

तत एव समस्तोऽयमानन्दरसविभ्रमः। - तं. ३/२०८ख-२०८क

आनन्द की स्थिति की परिभाषा करते हुए अभिनवगुप्त इसे हृदय की वह स्पन्दनावस्था बताते हैं, जिसमें सारे माध्यस्थ्यों का विलय होकर शुद्ध एकतानता की स्थिति शेष रहती है :

तथाहि मधुरे गीते स्पर्शे वा चन्दनादिके॥

माध्यस्थ्यविगमे यासौ हृदये स्पन्दमानता।

आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतः सहृदयो जनः॥ - तदेव; द्र., तं. ३/२०८ख-२१०क

१६३. तयोर्यद्यामलं रूपं स सङ्घट्ट इति स्मृतः।

आनन्दशक्तिः सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते॥ - तदेव ३/६८

१६४. द्र., पा.टि. १६२।

१६५. आनन्द की यहाँ इतनी महिमा है कि अभिनवगुप्त इस सम्प्रदाय को आनन्दयोग की विशेष विधा का प्रवर्तक मान लेते हैं :

यत्रैवानन्दयोगः क्वचन ननु भवेत्तत्र पूर्णः स्वभावो। - मा.वि.वा.२/११८

एवमानन्दयोग एव हृदयपूजा। - प.त्रिं.वि.(का.ग्रं.), पृ. २२३

१६६. अभिन्ना वाद्य भिन्ना वा भिन्नाभिन्ना अथापि वा॥

भावा निजादिकानन्ददशापञ्चकयोजिताः।

जायन्ते जगदानन्दसमुद्गमदशाजुषः॥ - मा.वि.वा. २/३३ख-३४

१६७. आनन्दनाडीयुगलस्पन्दनावहितौ स्थितः।

एनां विसर्गनिष्पन्दसौधभूमिं प्रपद्यते॥ - तं. ५/७०

साथ ही, जो दार्शनिक दृष्टि विकसित हुई है, उसमें भी आनन्द को मूल में रखकर सारी विश्वरूपता के विकास का निरूपण किया गया है। दीक्षादि अनुष्ठानों में भी इस आनन्दावस्था के स्तरों के माध्यम से ही उस कुल तत्त्व के साथ एकतानता की प्रगाढता को मापा गया है।^{१६८} इसी दृष्टि से यहाँ चर्या को अधिक सुखकर बनाने का प्रयास दिखाई देता है।

अब कुल-विधि को रहस्य-विधि कहने का प्रयोजन खोजने की यदि चेष्टा करें तो हम पाते हैं कि यहाँ इस प्रक्रिया विशेष को अतिगोप्य बनाए रखने की भावना अत्यन्त प्रबल है। इसके पीछे हर कुल वर्ग की अंतरङ्ग निजता को सुरक्षित बनाए रखने का प्रयास तो है ही, साथ ही इसके विशिष्ट सन्दर्भों को भी बचाए रखना मुख्य लक्ष्य है। यह कुल-प्रक्रिया अन्य प्रक्रियाओं, विशेषतः तन्त्र-प्रक्रिया, से मुख्यतः चार कारणों से भिन्न है -
प्रथम, अधिकारिभेद के कारण।^{१६९}

द्वितीय, मन्त्रसामर्थ्य के भेद के कारण।^{१७०}

तृतीय, अधिकरण के भेद के कारण।^{१७१}

चतुर्थ, इतिकर्तव्यता के भेद के कारण।^{१७२}

तन्त्र-प्रक्रिया जहाँ सामान्य अधिकारी के लिए है, वहीं कुल-प्रक्रिया मात्र धाराधिरूढ शिष्यों के लिए ही है। तन्त्र-प्रक्रिया में प्रयुक्त मन्त्र इतने प्रभावी नहीं हैं, जितने प्रभावी कुल-प्रक्रिया में प्रयुक्त मन्त्र हैं : कुल-प्रक्रिया में प्रयुक्त मन्त्र स्वभावदीप्त तथा सद्यः प्रत्ययकारक हैं। तन्त्र-प्रक्रिया में याग का अधिकरण केवल बाह्यतः ही सम्भव है, जबकि कुल-प्रक्रिया में छह अधिकरण सम्भव हैं - बहिः, शक्ति, यामल, देह, प्राणपथ व बुद्धि।

१६८. अनया शोध्यमानस्य शिष्यस्यास्य महामतिः।

लक्षयेच्चिह्नसंघातमानन्दादिमादरात्॥

आनन्द उद्भवः कथो निद्रा घूर्णितश्च पंचमी। - मा.वि.तं. ११/३४ख-३५

मालिनीविजय के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में स्पष्ट करते हैं :-

अनया शोध्यमानस्य शिशोस्तीव्रादिभेदतः। शक्तिपाताच्चित्तव्योमप्राणानन्तर्बहिस्तनूः॥

आविशन्ती रुद्रशक्तिः क्रमात्सूते फलं त्विदम्। आनन्दमुद्रवं कम्पं निद्रां घूर्णितं व देहगाम्॥

- तं. २६/२०७-२०८

१६९. तं.वि., ७, पृ. ३२६२।

१७०. तं. २६/३; तं.वि., ७, पृ. ३२६२-६३।

१७१. तं. २६/७; तं.वि., ७, पृ. ३२६५।

१७२. तं. २६/८; तं.वि., ७, पृ. ३२६६।

तन्त्र-प्रक्रिया में स्नान, मण्डल, कुण्ड, न्यास आदि अनुष्ठान अनिवार्य हैं, पर कुल-प्रक्रिया में इनका सम्पादन साधक की इच्छा पर निर्भर है - वह चाहे तो करे या न करे।

क्रमरहस्य में सामान्य कुल-प्रक्रिया के तीन रहस्य कहे गए हैं -

अर्घमात्र, यागधाम तथा दीप।^{१७३} जयरथ वस्तुतः यही अर्थ लेते हैं।^{१७४} परन्तु जयरथ के अनुसार अभिनव-सम्मत त्रिक कुल-परम्परा में अर्घमात्र की अपेक्षा अर्घ की ही प्रधानता है।^{१७५} ये अर्घ-द्रव्य क्या हों, इस विषय में अभिनव का प्रयोग द्वयर्थक है। एक ओर गुरु शम्भुनाथ के वचन प्रमाण हैं, तो दूसरी ओर आगम-वचन प्रमाण हैं यह अर्थ भी सम्भव है। इनके विषय में किसी भी प्रकार की आशंका करना उचित नहीं है, क्योंकि शंका कुल-प्रक्रिया में सबसे बड़ा विघ्न है।^{१७६} कुल-तत्त्व का साक्षात्कार उसी व्यक्ति के द्वारा सम्भव है, जिसकी सारी शंकाएँ ध्वस्त हो गई हों।^{१७७} कारण, कुल-तत्त्व तो सभी विरोधों का एकात्म भाव है। अतः सारे विधि एवं निषेधों से मुक्त है। अर्घ-द्रव्य मुख्यतः आद्ययाग में शक्ति-संगम अर्थात् दूती-संगम से प्राप्त कुण्डगोलक नामक (शुक्र-शोणितरूप) द्रव्य विशेष है, जिसे वीरद्रव्य, वामामृत आदि नामों से भी पुकारा गया है।^{१७८} जहाँ तक यागधाम का प्रश्न है वह भू, वस्त्र, काय और पीठ में से कोई भी हो सकता

१७३. श्रीमत्क्रमरहस्ये च न्यरूपि परमेशिना। अर्घपात्रं यागधाम दीप इत्युच्यते त्रयम्॥ रहस्यं कौलिके यागे . . .। - तं. २६/१४

१७४. नातो विचिकित्सितव्यम् इत्यर्थः। - तं. वि., ७, पृ. ३३०५

१७५. यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि तन्त्र-प्रक्रिया भी अन्ततः कुल-प्रक्रिया में विश्रान्त होती है। अतः कम या शास्त्रान्तर की दृष्टि से कौलिक साधक के लिए कुल-प्रक्रिया के तीन वैशिष्ट्य हैं - अर्घमात्र, यागधाम और दीप। जयरथ का साफ़ मन्तव्य है कि अभिनव का यहाँ क्रमरहस्य को उद्धृत करना इस सामान्य कौलिक विधि को बताना है-- "एवमस्य प्राधान्येऽपि अवांतरवस्त्वपेक्षया शास्त्रान्तरेऽन्यदपि किञ्चित्प्रधानतया उक्तमित्याह 'श्रीमत्क्रमरहस्येऽपि . . . इत्युच्यते त्रयम्।' - तं. वि., ७, पृ. ३३०४। किन्तु जहाँ तक अभिनव की अपनी निजन्धर कुल-प्रक्रिया का प्रश्न है, वहाँ अर्घमात्र के बजाय अर्घ की ही प्रधानता है, अन्य पदार्थ, अर्थात् यागधाम तथा दीप, उसी के अनुगुण मान्य हैं - "अस्मद्दर्शने हि अर्घस्य प्राधान्यमिति तदुचितान्येव द्रव्यान्तराण्यपि परमेश्वरः समादिक्षत्, तत् ततस्तेभ्यो वा न शक्तित्वम्।" - तदेव, पृ. ३३०५

१७६. तदेव १२/२०ख-२१क, १२/२४-२५क, २६/१७ख।

१७७. ध्वस्तशङ्कासमूहस्य यागस्तादृश एव सः॥ - तदेव २६/५ख

१७८. अर्घ-द्रव्य के सन्दर्भ में सैण्डर्सन की टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार विद्यापीठ के प्राचीन तन्त्रों में शक्ति-संगम से प्राप्त विशेष अर्घ-द्रव्य को बुभुक्षु साधक देवी को अर्पित करते थे और स्वयं भी उसका पान करते थे, जबकि मुमुक्षु मात्र उसे देवी को ही अर्पित करते थे। इसके विपरीत कुल-सम्प्रदाय के अन्तर्गत इस द्रव्य के बजाय उसके पूर्व की चरम उत्तेजना

है, पर इनमें क्रम से बाद वाला उत्कृष्ट माना जाता है।^{१९६} दीप का प्रयोग कुल-अनुष्ठानों में विविध देवियों के प्रतीक महापशु के प्रतिनिधि के रूप में होता है।^{१९७} इस कुल-प्रक्रिया में उन पदार्थों का, जो अन्यत्र निषिद्धतया वर्णित हैं, का अनिवार्यतः प्रयोग किया जाता है।^{१९८} सम्भवतः वह इसी दृष्टि से कि यहाँ तो सब कुछ संविद्रूप है, अतः कुछ भी निषिद्ध नहीं है; को पुष्ट करने के लिए है।^{१९९} साथ ही यह स्वीकृति यह भी बताती है कि जीवन में इस देह के द्वारा प्राप्य सभी स्तरों के आनन्द उस परम आनन्द तक पहुँचने में सोपान बन जाते हैं। जो भी पदार्थ आनन्द मात्र के जनक हैं, वे कुल-पूजा में उपयोगी हैं।^{२००} अतः मद्य, माँस, मैथुन - ये सभी कुल-मार्ग के अनुयायियों द्वारा अनिवार्यतः सेव्य हैं।^{२०१}

आदियाग (आद्ययाग) या दूतीयाग कुल-प्रक्रिया का अनिवार्य घटक है। इसके बिना

→ (औरगैः) को ही महत्त्वपूर्ण माना गया। कारण यह था कि यह स्थिति चेतना के आनन्दात्मक स्फार की प्रतीक है, जिसमें साधक की अहन्ता पूर्णतया विलीन हो जाती है। वस्तुतः इस मन्त्र्य की पृष्ठभूमि में तं. २६/१२६-१२८क और उस पर जयरथ की व्याख्या है।

१७६. भूवस्त्रकायपीटाख्यं धाम चोत्कर्षभाक् क्रमात् ॥ - तं. २६/१५ख
जयरथ इसकी प्रक्रिया या इतिकर्तव्यता का निर्देश आगे करते हैं। द्र०, तं. वि., ७, पृ. ३३८२।

१८०. अध्याष्टकेऽपि हि विधौ नानानामप्रपञ्चिते बहुधा।
विधिरथ एव विहितस्तत्संख्या दीपमाला स्यात् ॥ - तदेव २६/५४

जयरथ की टिप्पणी है - “इह तावत् . . . अवश्यकार्यं कुलक्रमे तर्पणम्। तत्र च महापशुप्रतिनिधित्वात् दीपचरोरेव प्राधान्यमिति तदेव उपहर्तव्यतया अभिधत्ते तत्संख्या दीपमाला स्यादिति।” - तं. वि., ७, पृ. ३३२६

१८१. अत्र यागे च यद्द्रव्यं निषिद्धं शास्त्रसन्ततौ।
तदेव योजयेद्धीमान् वामामुतपरिप्लुतम् ॥ - तं. २६/१०

१८२. अतश्च संविन्मात्रसारत्वात् सर्वस्य शुद्धयशुद्धी अपि वास्तवे न स्तः इति कटाक्षयितुम् . . .।
- तं. वि., ७, पृ. ३२६७

१८३. नन्दहेतुफलैर्द्रव्यैर्घृषपात्रं प्रपूरयेत्। - तं. २६/२२क

१८४. आनन्दो ब्रह्म परमं तच्च देहे त्रिधा स्थितम् ॥

उपकारि द्वयं तत्र फलमन्यतदात्मकम्।

ओष्ठ्यान्तत्रितयासेवी ब्रह्मचारी स उच्यते ॥ - तं. २६/६७ख-६८क

इन पञ्च मकारों के प्रयोग के समय उच्चरित मन्त्रों में संकेतित भैरवावेश को पाना ही इस प्रक्रिया का ध्येय है। कुलचर्या में पञ्च मकारों में से मद्य, मैथुन व मुदा का ही विशेषतः वर्णन मिलता है। माँस व मत्स्य सम्भवतः “मद्य” संज्ञा से ही आक्षिप्त हैं : “एवमेतत् कुलमार्गानुप्रविष्टेन सर्वथा स्वात्मानन्दव्यञ्जकतामात्रपरतया सेव्यं, न तु तदर्थेन। तथात्वे हि अस्य लौकिकेभ्यः को विशेषः स्यात्।” - तं. वि., ७, पृ. ३३५७

कुल-साधना सम्पन्न नहीं होती।^{१८५} पर इस अनुष्ठान के पीछे रिरंसा (रमण करने की इच्छा) निमित्त नहीं है, वरन् परम संवित् के अनवच्छिन्न स्वरूप में आविष्ट होने की उत्सुकता ही इसकी प्रयोजक है।^{१८६} फलतः दूती एवं साधक के बीच किसी लौकिक यौन अथवा अलौकिक ज्ञानात्मक सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक गहरे स्तर पर तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने पर अधिक बल है।^{१८७} इस दूतीयाग में दूती व साधक में परस्पर औन्मुख्य के साथ-साथ स्वरूपविश्रान्ति के भी अव्याहत रहने के कारण सृष्टि तथा संहार दोनों की ही स्थितियाँ विद्यमान रहती हैं। अतः यह कुल-मत की दृष्टि में उत्तम मेलक है, जो परम पद से तादात्म्य की प्राप्ति कराने वाला है।^{१८८} यही मेलक, यामल व संघट्ट शब्दों के द्वारा भी व्यक्त किया गया है। इसी को शिव-शक्ति का सामरस्य रूप जगदानन्द भी कहा जाता है। यही परम कौल तत्त्व है।^{१८९} यही सृष्टि का सहज स्वारसिक आदियाग है। सम्भवतः इस आद्ययाग के कारण भी यह प्रक्रिया रहस्य-विधि कही गई है। ऐसा अनुष्ठान निर्विकल्प चित्तवृत्ति वाले साधकों के द्वारा ही सम्पाद्य है। इसके पीछे जयरथ यह तर्क देते हैं कि निर्विकल्प चित्तवृत्ति को प्राप्त ज्ञानी जन इस याग का सम्पादन केवल इसी उद्देश्य से करते हैं ताकि वे जान सकें कि उनका चित्त संविदद्वैत में एकाग्र हुआ है या नहीं।^{१९०} परन्तु अन्यत्र मुख्य चक्र का पूजन कुल-पूजा का अनिवार्य अंग कहा गया है। साथ ही कुल-अनुष्ठानों का मुख्य अधिकरण योगिनी वक्त्र को बताया गया है।^{१९१} इससे यह बात

१८५. साकं बाह्यस्थया शक्त्या यदा त्वेष समर्चयेत्। तदायं परमेशोक्तो रहस्यो भण्यते विधिः॥

— तं. २६/६६; इस पर जयरथ की टिप्पणी है : “नित्योदिता परा शक्तिर्यद्यप्येषा तथापि तु। बाह्यचर्याविहीनस्य दुष्प्रापः कौलिको विधिः॥” इत्याद्युक्त्या बाह्यचर्या तावदवश्यभाष्यम्।

— तं. वि., ७, पृ. ३३५३

१८६. सत्यं, किन्तु अत्र लौकिकवत् न प्रवृत्तिः रिरंसया, अपितु वक्ष्यमाणदृशा अनवच्छिन्नपरसंवित्स्वरूपावेश-समुत्सुकतयेत्येवं परमेतदुक्तम्। — तदेव, ७, पृ. ३३६२

१८७. . . . यतोऽत्र अस्या लौकिकात् यौनादलौकिकात् ज्ञानीयाच्च सम्बन्धादधिकं तादात्म्यम्।

— तदेव, पृ. ३३६२

१८८. द्वाभ्यां तु सृष्टिसंहारौ तस्मान्मेलकमुत्तमम्। — तं. २६/१०४क

१८९. इत्थं यामलमेतद् गलितभिदासंकथं यदेव स्यात्॥

क्रमतारतम्ययोगात् सैव हि संविद्विसर्गसंघट्टः।

तद्भुवधामानुत्तरमुभयात्मकजगदुदारसानन्दम्॥

नो शान्तं नाप्युदितं शान्तोदितसृत्तिकारणं परं कौलम्। — तं. २६/११५ख-११७क

१९०. एवं चात्र निर्विकल्पवृत्तीनां महात्मनां ज्ञानिनामेव अधिकारः येषां स्ववृत्तिप्रतिक्षेपेण संविदद्वैत एव किमेकाग्रीभूतं चेतो न वेति प्रत्यवेक्षामात्रे एव अनुसंधानम्। — तं. वि., ७, पृ. ३३६३-६४

१९१. पिबुवक्त्राद्यपरपर्यायं योगिनीवक्त्रमेव मुख्यचक्रमुक्तम्। तत्रैव एष उक्तो वक्ष्यमाणो वा सम्प्रदायो अनुष्ठेयो यतस्तस्मात् ज्ञानं संप्राप्यते परसंवित्समावेशोऽस्य जायते। — तं. वि., ७, पृ. ३३७६

उजागर होती है कि कुल-परम्परा में इस अनुष्ठान को उत्तर काल में एक तार्किक अर्थवत्ता और उपपत्ति से मण्डित करने की चेष्टा की गई, जबकि प्रारम्भ में यह विशुद्ध अभिधात्मक अभिप्राय में ही यहाँ गृहीत हुआ था।

इस कुल-मत का एक अन्य भेदक वैशिष्ट्य है काययाग। अभिनवगुप्त *तन्त्रालोक* में कुल-मत को “देहे विश्वात्मताविदे” विशेषण^{१६२} के द्वारा प्रस्तुत कर त्रिक, सिद्धान्त आदि सम्प्रदायों से इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त विशेष स्वरूप को सामने लाते हैं। कुल शब्द का एक अर्थ देह भी है, साथ ही देह को यहाँ याग का अधिकरण भी कहा गया है।^{१६३} अतः स्वदेह में ही साधक सारी विश्वात्मता का दर्शन कर उसे कुलाकार देख सकता है और इस प्रकार उस कुल-तत्त्व के साथ समावेश प्राप्त कर सकता है। विश्व के शुद्ध से शुद्ध अंश को उस बृहत् कुल का सदस्य बनाना तो यहाँ अन्तिम लक्ष्य है ही, साथ ही उन अंशों का भी उस बृहत् कुल भाव से भरित रूप में चिन्तन करना ही इस समग्र दृष्टि का आपादक है। इसी दृष्टि से यहाँ हर तत्त्व शोध्य भी है तथा शोधक भी। यही शोध्यशोधक भाव सारे द्वैत की वैयक्तिकता का परिहार कर और उसे समग्रता भाव से अभिषिक्त कर उस कुल-चेतना की प्राप्ति का पथ प्रशस्त कर देता है।

इस कुल-विधि के सम्पादनार्थ विहित छह अधिकरणों में प्राण-वायु तथा बुद्धि या मति से गृहीत स्वसंवित् भी गिनी गई है। प्राण-वायु के विविध व्यापारों के माध्यम से मध्य नाड़ी में प्रवेश कर सुप्त आत्मशक्ति को जगाना ही कुल-साधना है,^{१६४} जिसे कुण्डलिनी-योग की तान्त्रिक शब्दावली में व्यक्त किया गया है। इसी प्रकार स्वसंवित् मात्र में ही सारी पूजा-विधि का सम्पादन भी कुल-साधना-विधि का एक प्रकार है।^{१६५} इन सभी अधिकरणों के भी अनेक भेद सम्भव हैं। अतः नाना कुल-विधियों के परिकल्पन की सम्भावनाएँ खुल जाती हैं, जैसाकि आगमों में प्राप्त उल्लेखों से स्पष्ट है।

कुल-प्रक्रिया में चक्र की धारणा को भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। धात्वार्थानुगम की दृष्टि से चक्र शब्द चार अभिप्रायों को व्यक्त करता है। “कसी विकासे”, “चक तृप्ती”, “कृती च्छेदने” तथा “डुकृञ् करणे”^{१६६} इन चार धातुओं से इसकी

१६२. तं. ४/२५६।

१६३. निजदेहगते धाम्नि तथैव पूज्यं समभ्यस्येत्। - तदेव २६/१३३क

१६४. एवं प्राणक्रमेणैव तर्पयेद् देवतागणम्।

अचिरात् तत्प्रसादेन ज्ञानसिद्धीरथाश्नुते।।। - तं. २६/१८०

१६५. संविन्मात्रस्थितं देवीचक्रं वा संविदर्पणात्।

विश्वाभोगप्रयोगेण तर्पणीयं विपश्चिता। - तं. २६/१८१

१६६. विकासात्तुप्तिः पाशोत्कर्तनात्कृतिशक्तिः।।

चक्रं कसेश्चक्रः कृत्या करोतेश्च किलोदितम्। - तदेव २६/१०६ख-१०७क

निष्पत्ति की जा सकती है। ये चार अर्थ हैं — विकास, तृप्ति, छेदन और करण। अतः चक्र वह है; जो विकसित होता है, तृप्त होता है, (पाश) कतर देता है और करता है (अर्थात् क्रिया करने में समर्थ है)। इस धारणा के पीछे छिपी है शक्ति के स्पन्दनात्मक स्वरूप की चेतना। शक्ति सदैव गत्यात्मक है और वह गति यहाँ चक्राकार या चक्रात्मक है। इसी दृष्टि को लेकर मुख्य चक्र व अनु चक्रों की कल्पना की जाती है।^{१९७} चेतना का जो भी प्रवाह है, वह इसी गति से सदैव गतिमान् है। जहाँ भी इसकी गति में अवरोध आता है, इसका सहज प्रसार रुक जाता है। साधना-प्रक्रिया में इसी अवरोध को हटाकर चेतना के सहज प्रवाह को बनाए रखना ही परम अभीष्ट है। विविध अभिप्रायों व प्रसंगों में गति के विभिन्न रूपाकारों के आधार पर इस चक्रात्मक प्रवाह को विविध नाम दिए गए हैं, जैसे — सहस्रार, षोडशार, द्वादशार, अष्टार, षडर, आदि। अतः प्राणयोग के सन्दर्भ में चक्र की धारणा साधना-प्रक्रिया का विशेष अंग है।

कुल-प्रक्रिया के इस अवधारणात्मक विश्लेषण से यह प्रश्न सहज रूप से उठता है कि अभिनवगुप्त इस प्रक्रिया का सम्बन्ध शांभवोपाय से क्यों जोड़ते हैं? वह तन्त्रालोक में चतुर्विध उपायों की जो आनुपूर्वी प्रस्तुत करते हैं, उसमें कुल-प्रक्रिया अनुपाय का अंग इसलिए नहीं बनती, क्योंकि अनुपाय में चेतना के प्रकाश पक्ष पर ही विशेष बल है, स्वातन्त्र्य पक्ष पर नहीं;^{१९८} शाक्तोपाय (और आणवोपाय) में स्वातन्त्र्य पक्ष है, पर उसका उन्मेष विकल्प के सन्दर्भ में होता है। शाक्तोपाय में विकल्प का संस्कार क्रमशः साधनान्तर की अपेक्षा न करता हुआ सम्पन्न होता है^{१९९} और आणवोपाय तो उन नाना विधियों का संग्रह है, जिनसे निर्विकल्प भावना की प्राप्ति हो सकती है। यहाँ क्रम भी है और उपायान्तरसापेक्षत्व भी।^{२००} कुल-प्रक्रिया में क्रम का किसी स्तर पर कोई स्थान नहीं है। सर्वत्र कुलवादी (समग्रतावादी) दृष्टि की ही प्रधानता है। साथ ही इसका पात्र वही हो सकता है, जो निर्विकल्प भाव में अधिरूढ हो चुका है।^{२०१} अतः शांभवोपाय ही वह उचित स्तर है, जिससे इस कुल-प्रक्रिया को जोड़ा जा सकता है। यहाँ चेतना की विश्वात्मता एवं

१९७. यदेवानन्दसन्धोहि संविदो ह्यन्तरङ्गकम् ॥

तत्प्रधानं भवेच्चक्रमनुचक्रमतोऽपरम् । - तं. २६/१०५ख-१०६क

१९८. प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तं भैरवीयं परं महः ।

तत्र स्वतन्त्रतामात्रमधिकं प्रविचिच्यते ॥ - तदेव ३/१

१९९. विकल्पः कस्यचित् स्वात्मस्वातन्त्र्यादेव सुस्थिरः ।

उपायान्तरसापेक्षवियोगेनैव जायते ॥ - तं. ५/३

२००. कस्यचित् विकल्पोऽसौ स्वात्मसंस्करणं प्रति। उपायान्तरसापेक्षस्तत्रोक्तः पूर्वको विधिः ॥ . . . निश्चयो बहुधा चैष तत्रोपायाश्च भेदिनः। अणुशब्देन ते चोक्ता दूरान्तिकविभेदतः ॥

- तदेव ५/४-६

२०१. तथा धाराधिरूढेषु गुरुशिष्येषु योचिता ॥ - तं. २६/२क

स्वतन्त्रता दोनों की समभाव से प्रधानता है।^{१०२} अर्थात् प्रकाश पक्ष तथा स्वातन्त्र्य पक्ष समान भाव से उत्पन्न हैं। यह तीव्र शक्तिपात को प्राप्त साधकों द्वारा अनुसृत मार्ग है। प्रातिभ ज्ञान या जिसे इस सम्प्रदाय की शब्दावली में सांख्यिक ज्ञान कहते हैं, का इस स्तर पर विशेष महत्त्व है।^{१०३} इस सहज अनौपदेशिक स्वतःस्फूर्त ज्ञान के उदित होने से उस भेदात्मक चेतना के संस्कार का भी नाश हो जाता है।^{१०४} अतः प्रातिभज्ञानवान् साधक तीव्र शक्तिपात के पात्र हैं तथा वे ही कुल-साधना में अधिकारी हैं।

शांभवोपाय के विवेचन में अभिनवगुप्त ने भैरवैकात्म्य-सिद्धि के लिए जिन तरीकों का निर्देश किया है, उनके आधार पर डॉ. कान्तिचंद्र पाण्डेय इस प्रक्रिया के अनुयायी साधकों की तीन कोटियों का निर्धारण करते हैं।^{१०५} पहली कोटि में वे साधक आते हैं, जो अभी निर्विकल्प अनुभव के निम्न स्तर पर हैं। ये साधक पचास वर्णों के द्वारा प्रस्तुत जगत् के प्रत्येक तत्त्व को एक-एक कर विश्वात्मक रूप से ग्रहण करते हुए उसे स्वात्मसंविद् के प्रतिबिम्ब रूप से देखते हुए परम कुल-तत्त्व के साक्षात्कार में संलग्न हैं।^{१०६} दूसरी कोटि में वे साधक हैं, जो इनसे एक सोपान आगे हैं। उन्हें व्यवहार के स्तर पर भी सब कुछ स्वसंविद्वर्षण में भैरवाकार या अकल्पित भाव से प्रतिबिम्बित दिखाई देता है।^{१०७} तीसरी कोटि में वे साधक हैं, जो इन दोनों से निम्नतर स्थिति में हैं। इन्हें किसी प्रकार की निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति नहीं हुई है, पर रुद्र में अविचल भक्ति ही उनमें विद्यमान वह विशेषता है, जो उन्हें उस तीव्र शक्तिपात का अधिकारी बना देती है। इन्हीं साधकों के लिए कुल-दीक्षा का विधान है।^{१०८}

२०२. इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीयचिदम्बरे ।

प्रतिबिम्बममलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः ॥

अनन्यापेक्षिता यास्य विश्वात्मत्वं प्रति प्रभोः ।

तां परां प्रतिभां देवीं संगिरन्ते ह्यनुत्तराम् ॥ - तदेव ३/६५-६६

२०३. तदेव १३/१३१ख-१३३ ।

२०४. यदा प्रतिभया युक्तस्तदा मुक्तश्च मोचयेत् ॥

परशक्तिनिपातेन ध्वस्तमायामलः पुमान् । - तं. १३/१६६ख-१६७क

२०५. अभिनवगुप्त०, पृ. ६०५-०६ ।

२०६. निर्विकल्पे परामर्शे शांभवोपायनामनि ।

पञ्चाशद्रेदतां पूर्वसूत्रितां योजयेद् बुधः ॥

धरामेवाविकल्पेन स्वात्मनि प्रतिबिम्बिताम् ।

पश्यन्भैरवतां याति जलादिष्वयं विधिः ॥ - तं. ३/२७४-२७५

२०७. तदप्यकल्पितोदारसंविदर्पणबिम्बितम् ।

पश्यन्विकल्पविकलो भैरवीभवति स्वयम् ॥ - तदेव ३/२७७

२०८. अथासौ तादृशो न स्याद् भवभक्त्या च भावितः ॥ तं चाराधयते भावितादृशानुग्रहेरितः ।

तदा विचित्रं दीक्षादिविधिं शिक्षेत कोविदः ॥ - तदेव ३/२८१ख-२८२

डॉ. पाण्डेय कुल-प्रक्रिया के अनुष्ठानों को भी दो वर्गों में बाँटते हैं — बाह्यचर्या व रहस्यचर्या।^{२०६} बाह्यचर्या जहाँ इस साधना-विधि में प्रवेश की अधिकारिता प्रदान करती है, वहीं रहस्यचर्या उस निर्विकल्प अनुभव की प्रगाढता को मापने में मदद करती है। यह रहस्यचर्या उन्हीं साधकों के द्वारा अनुष्ठेय है, जो निर्विकल्पानुभूति में पूर्णतः प्रसूढ़ हो चुके हों। उपलब्ध विवरणों में इस रहस्यचर्या के एक अन्य उद्देश्य का भी आभास मिलता है, वह है योगिनीभूत्व की प्राप्ति।^{२१०} जयरथ के अनुसार अभिनवगुप्त के वक्तव्य का निहितार्थ है — स्वयं को आद्ययागाधिरूढ यामल भाव की सन्तान कहना।^{२११} इससे यही संकेतित होता है कि अभिनवगुप्त के माता-पिता इस कुल-प्रक्रिया की आनुष्ठानिक साधना-विधि में पारंगत भी थे और समर्पित भी। अभिनवगुप्त की स्वयं इन तान्त्रिक अनुष्ठानों के विशदीकरण में दक्षता के पीछे निहित कारणों में यह भी एक महत्वपूर्ण कारण है, जिसका अहसास वे अनुत्तरत्रिक को लक्षित कर लिखे गए अपने ग्रन्थों में एक ही मंगल श्लोक की सार्वत्रिक आवृत्ति द्वारा प्रारम्भ में ही करा देते हैं।^{२१२}

२०६. अभिनवगुप्त०, पृ. ६०१।

२१०. तादृङ्मेलकलिकाकलिततनुः कोऽपि यो भवेद्गर्भे ॥

उक्तः स योगिनीभूः स्वयमेव ज्ञानभाजन रुद्रः।

श्रीवीरावलशिखे बालोऽपि च गर्भगो हि शिवरूपः ॥ — तं. २६/१६२ख-१६३

२११. विमलकलाश्रयाभिनवसृष्टिमहा जननी भरिततनुश्च पञ्चमुखगुप्तरुचिर्जनकः।

तदुभययामलस्फुरितभावविसर्गमयं हृदयमनुत्तरामृतकुलं मम संस्फुरतात् ॥ — तदेव १/१

जयरथ की टिप्पणी है : “तदेवम् एवंविधसिद्धयोगिनीप्रायपितृमेलकसमुत्पत्तया . . . स्वात्मनि निरुत्तरपदाद्वयज्ञानपात्रतामभिदधता ग्रन्थकृता।” — तं.वि., २, पृ. १४-१५

२१२. अभिनवगुप्त अनुत्तर त्रिक को विकसित करने के लिए मुख्यतः तीन ग्रन्थों की रचना करते हैं — मालिनीविजयवार्तिक, परात्रिंशिका-विवरण तथा तन्त्रालोक। अन्तिम के भी क्रमिक सारतया उपस्थापित ग्रन्थ तीन हैं — तन्त्रसार, तन्त्रोच्चय तथा तन्त्रवटधानिका। इनमें से अन्तिम तन्त्रवटधानिका को छोड़कर पाँचों ग्रन्थों में एक जैसा ही मंगल-श्लोक उपलब्ध होता है। तन्त्रवटधानिका को अभिनवगुप्त की कृति न मानने में कुछ आधुनिक विद्वान् इस मंगलाचरण के अभाव का उपयोग एक हेतु के रूप में करते हैं, जबकि उपर्युक्त पाँच को छोड़कर उनके अन्य सभी ग्रन्थों में अलग-अलग मंगल-श्लोक मिलते हैं। इससे यही ध्वनित होता है कि सम्भवतः उपर्युक्त पाँचों ग्रन्थों की एकात्मता दिखलाना ही यहाँ उनका लक्ष्य है। जयरथ इस श्लोक की तीन तरह से व्याख्याएँ प्रस्तुत करते हैं — प्रथम परम त्रिक के सन्दर्भ में, द्वितीय क्रम-दर्शन के सन्दर्भ में तथा तृतीय योगिनीभूत्व के सन्दर्भ में। अभिनवगुप्त इस मंगल-श्लोक में सम्भवतः पूरी तान्त्रिक विधा के मूल प्रतिपाद्य को उपस्थित कर रहे हैं, अतः वे “अधुष्टसंततिश्रोतःसार” की उपलब्धि रूप अपने लक्ष्य की पूर्वपीठिका का ही यहाँ उपनिबन्धन करते हैं।

प्रश्न है कि कुल-प्रक्रिया का वास्तविक स्वरूप है क्या? उचित होगा कि अभिनवगुप्त के विवेचन के आलोक में कुल-प्रक्रिया का जो प्ररूप स्पष्ट होता है, उसी को मानक बनाकर हम यह विचार करें। अभिनवगुप्त के अनुसार कुल-प्रक्रिया है, कुल-याग का सम्पादन।^{२९३} कुल-याग शब्द में कुल “याग” का कर्म भी हो सकता है, करण भी और अधिकरण भी। कुल तो परमेश्वर की शक्ति या सामर्थ्य है, जिसमें सामस्य भाव से सब कुछ अवस्थित है। फलतः कुल के इस अभिप्राय को आकार प्रदान करने वाली विसर्गात्मिका कौलिकी शक्ति का यहाँ विशेष माहात्म्य है। इसी विसर्ग को हृदय रूप से सबका सार कहा गया है, तथा स्पन्दनात्मक हृदय की प्राप्ति को ही पराद्वैत की प्राप्ति का सोपान बतलाया गया है। याग का अर्थ है समस्त भाव-वैचित्र्य को निःशंक होकर उस कुल-रूप से देखना।^{२९४} इस रूप को प्ररूढ़ करने के लिए कुलसाधक मन, वाक् तथा काय के मार्गों से जो जो आचरण करता है,^{२९५} वह सब कुलयाग कहा जाता है।^{२९६} इस प्रकार कुलयाग का सम्पादन तीन मार्गों से सम्भव है :-

१. *मन के मार्ग से* - यह सम्भवतः ज्ञानियों का मार्ग है, जो वक्ष्यमाण कुल-प्रक्रिया का सम्पादन बाह्यतया न कर स्वसंविद् में ही सारी कुलार्चा सम्पादित कर कौल तत्त्व का शान्त व उदित दोनों रूपों में युगपत् सतत ध्यान करते हैं।
२. *वाक् के मार्ग से* - यह प्राणयोग, मन्त्रयोग है। जप आदि के सम्पादन द्वारा कुलयाग का अनुष्ठान करने की प्रणाली है।
३. *काय के मार्ग से* - यह चर्चा-प्रधान दृष्टि वाले साधकों द्वारा अनुसरणीय मार्ग है। इसके अन्तर्गत देह के माध्यम से सम्पाद्य विविध अनुष्ठानों की प्रधानता है।

इस कुलयाग के छह आधारों की जो चर्चा अभिनवगुप्त करते हैं,^{२९७} उनमें इन तीनों ही प्रणालियों के अनुरूप अधिकरणों को सम्मिलित किया गया है। इस कुलयाग का साध्य

२९३. कुलप्रक्रियया उपासेति, कुलयाग इत्यर्थः। - तं.वि., ७, पृ. ३२६२

२९४. तथात्वेन समस्तानि भावजातानि पश्यतः।

ध्वस्तशंकासमूहस्य यागस्तादृश एव सः॥ - तं. २६/५

२९५. ये मन, वाक् और काय के प्रत्यय ध्यानमयी बुद्धि, उच्चारणात्मक प्राण तथा इन्द्रिय-विषय-प्राण के एकीभाव रूप देह के प्रतिनिधि हैं। आणवोपाय के अन्तर्गत अभिनव इन तीनों का उस निर्विकल्प तत्त्व तक पहुँचने के उपाय रूप से वर्णन करते हैं : “तत्र बुद्धौ तथा प्राणे देहे चापि प्रमातरि। अपारमार्थिकेऽयस्मिन् परमार्थः प्रकाशते॥” - तदेव ५/७

२९६. तादृगृपनिरूढयर्थं मनोवाक्कायवर्त्मना।

यद्यत्समाचरेद्वीरः कुलयागः स स स्मृतः॥ - तदेव २६/६

२९७. तं. २६/७, उद्धरण के लिए, द्र. पा.टि. ६१।

है, उसी शान्तोदित परम कौल तत्त्व की प्राप्ति। इस कुलयाग की विधि इस प्रकार है – सबसे पहले गन्ध-धूप से सुगन्धित तथा मन्त्रों से शुद्ध यागसदन में प्रवेश कर साधक अपने शरीर को मन्त्रों के प्रयोग से अनुलोम व विलोम क्रम से शुद्ध करे।^{२१८} इस शुद्धि में दहन व आप्यायन दोनों ही कृत्य सम्मिलित हैं। साथ ही इन मन्त्रों के द्वारा शक्ति का अनुसन्धान^{२१९} करने से ही यह शुद्धि सम्पन्न होती है और देह में दिव्य भाव का आपादन होता है। इस देह में सारी देवियाँ जागृत होकर स्थित हो जाती हैं, उस समय उनका विधिवत् तर्पण करना चाहिए।^{२२०} इस प्रकार साधक में स्वरश्मियों का समूह पूर्णतया विकसित हो जाता है। यही कुलयाग है। यह यागविधि ऊपर वर्णित छह अधिकरणों में किसी पर भी सम्पादित की जा सकती है। यहाँ उपलक्षणार्थ केवल देह का वर्णन किया गया है।^{२२१}

कुल-साधक समस्त स्वशक्तियों के जागृत हो जाने पर पूर्णता के आनन्द से उच्छलित होता हुआ बाहर जगत् में भी उसी पूर्णता के दर्शन हेतु बाहर से (बाह्यतः) भी अर्चना करता है।^{२२२} इस “बाह्यतः” अर्चना के कई उपादान हैं जैसे – लाल वस्त्र, धरा, नारिकेल पात्र, मण्डल, मद्य से भरा पात्र, आदि।^{२२३} इन सभी पर एक साथ भी पूजा-विधि सम्पाद्य है या किसी एक पर पृथक् रूप से भी की जा सकती है। अब क्रम से गणेश-पूजा, बटुक-पूजा, गुरु-पूजा, सिद्ध-पूजा, योगिनी-पूजा तथा पीठ-पूजा को विविध दिशाओं में सम्पादित करके मुख्य कुल चक्र में कुलेश्वर व कुलेश्वरी की यामल भाव से या मात्र एक की पृथक् भाव से पूजा सम्पादनीय है। इस कुल चक्र में विविध देवियों से घिरी हुई कुलेश्वरी की कल्पना की जाती है।^{२२४}

२१८. तं. २६/१८-१९।

२१९. मन्त्रों के प्रयोग के समय सदैव यही भावना करनी चाहिए कि मैं तथा पर की चेतना निःसार है, जो कुछ भी है वह सब भैरव की शक्ति मात्र है। यही शक्ति-अनुसंधान है। (द्र. तं. २६/२२ख) यही भैरवात्म्यापादन है। इसका स्वरूप तं. २६/६४ में बताया गया है : “नाहमस्मि न चान्योऽस्ति केवलाः शक्तयस्त्वहम्। इत्येवंवासनां कुर्यात् सर्वदा स्मृतिमात्रतः॥”

२२०. तेन निर्भरमात्मानं बहिश्चक्रानुचक्रगम्।

विप्रुड्भिरूर्ध्वाधरयोरन्तःपीत्या च तर्पयेत्॥ – तं. २६/२३

२२१. देह एव परं लिङ्गं सर्वतत्त्वात्मकं शिवम्।

देवताचक्रसंजुष्टं पूजाधाम तदुत्तमम्॥ – तदेव २६/१७१

२२२. तं. २६/२४।

२२३. अर्काङ्गुलेऽथ तद्द्वित्रिगुणे रक्तपटे शुभे। व्योम्नि सिन्दूरसुभगे राजवर्तभृतेऽथवा॥
नारिकेलात्मके काद्ये मद्यपूर्णंऽथ भाजने। यद्वा समुदिते रूपे मण्डलस्थे च तादृशि॥
यागं कुर्यात् मतिमांस्तत्रायं क्रम उच्यते॥ – तं. २६/२५-२७क

२२४. मन्त्रसिद्धप्राणसंविक्करणात्मनि या कुले॥

चक्रात्मके चितिः प्रभ्वी प्रोक्ता सेह कुलेश्वरी। – तं. २६/४६ख-४७क

ये देवियाँ उस रश्मि चक्र का ही विविध प्रकार से प्रतिनिधित्व करती हैं।^{२२५} अतः कहीं बारह रूपों में, कहीं चौंसठ रूपों में एवं कहीं चार रूपों में उनकी कल्पना कर उनके प्रतीक रूप से कुलानुष्ठान में उतने ही दीपों का प्रयोग किया जाता है।^{२२६} इस प्रकार सर्वत्र भैरव-रश्मियों का ही दर्शन करते हुए साधक का कुलयाग पूरा होता है। तन्त्र-प्रक्रियावत् इस कुलयाग के लिए कोई विशेष समय या स्थान अपेक्षित नहीं है।^{२२७} यहाँ तो सब कुछ भैरव-रूप होने के कारण कहीं किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं है।

देह तथा बहिः रूप आधार के अतिरिक्त शक्ति अर्थात् दूती में, आद्ययागाधिरूढ यामल भाव में, प्राणपथ अर्थात् मध्य नाडी में, तथा बुद्धि में भी इसका सम्पादन मन, वाक् व काय में से किसी एक मार्ग से किया जा सकता है। पर सारे कुलयाग में मूल दृष्टि दो ही लक्ष्यों पर केन्द्रित है - शक्ति का अनुसन्धान करना तथा समस्त शक्ति चक्र (अनुचक्र) को मुख्य चक्र का अन्तरङ्ग बना देना।^{२२८} उसका पर्यन्त साध्य है जगदानन्द की प्राप्ति।^{२२९}

कुलयाग में अकुल व कुल के जिस यामल भाव का सतत अनुसन्धान किया जाता है, वह इस कुलरूपता के यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए है। मन्त्र, ध्यान, जप, होम, व्रत, ज्ञान, आदि साधनों से जिस कुल-सामान्य की चेतना उदित होती है, उसी के माध्यम में उस पूर्ण कौल तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को समझा जाता है। दार्शनिक शब्दावली में कौलिक सिद्धि यही है।^{२३०}

२२५. महाप्रकाशरूपायाः सविदो विस्फुलिङ्गवत् ।

यो रश्म्योद्यस्तमेवात्र पूजयेद्देवतागणम् ॥ - तदेव २६/५०

२२६. तदेव २६/५१-५४ ।

२२७. क्रमो नाम न कश्चित्स्यात् प्रकाशमयसंविदि ।

चिदभावो हि नास्त्येव तेनाकालं तु तर्पणम् ॥

अत्र क्रमे भेदतरोः समूलमुन्मूलनादासनपक्षचर्चा ।

पृथङ्न युक्ता परमेश्वरो हि स्वशक्तिधाम्नीव विशंश्रमीति ॥ - तदेव २६/८०-८१

२२८. तदेव २६/१३८ख-१३९; द्र. तं. २६/११३ख-१११क :

अनुचक्रदेवतात्मकमरीचिपरिपूर्णाधिगतवीर्यम् ॥

तच्छक्तिशक्तिमद्युगमन्योन्यसमुन्मुखं भवति ।

२२९. यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ॥ यदनाहतसंविक्तिपरमामृतबृंहितम् ।

यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि सङ्गतिः ॥ तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरुचिवान् ।

- तं. ५/५०ख-५२क

२३०. मातृमण्डलसम्बोधात् संस्कारात्तपसः प्रिये ॥

ध्यानाद्योगाज्जपाज्ज्ञानान् मन्त्राराधनतो व्रतात् ।

सम्प्राप्यं कुलसामान्यं ज्ञानं कौलिकसिद्धिदम् ॥ - तदेव ४/५७ख-५८

इसे खेचरीसाम्य^{२३९} की तान्त्रिक शब्दावली में भी व्यक्त किया गया है।

इस कुल-प्रक्रिया का स्वरूप-लक्षण है आदियाग। अक्सर इस सम्प्रदाय को इसी लक्षण से इंगित किया जाता है। वस्तुतः इस आदियाग के द्वारा कुल-मत के मुख्य सार तत्त्व को हृदयंगम करना अत्यन्त सुगम है, इसी कारण यहाँ इसका विशेष महत्त्व है। इस याग में सम्पाद्य अनुष्ठान में दूती के साथ संघट्ट-वेला में अहं भाव के न्यग्भाव से जिस पूर्णता की अनुभूति होती है, उसके माध्यम से उस परम कौल तत्त्व रूप यामल के तात्त्विक स्वरूप को आत्मसात् किया जा सकता है। इसी कारण इस संघट्ट-मुद्रा या षडर-मुद्रा को यहाँ परम-मुद्रा व खेचरी-मुद्रा भी कहते हैं। इस पूर्णता के आनन्द से तृप्त होकर सारी अनुचक्र-रूप करणेश्वरियाँ जैसे विश्रान्त हो जाती हैं, वैसे ही सारा शक्ति चक्र इस कौल तत्त्व में विश्रान्त रहता है।

इस प्रकार कुल-प्रक्रिया के सम्पादन में वे ही अधिकारी हैं, जो निर्विकल्प दशा में रूढ़ हो चुके हैं, जिनका लक्ष्य विशुद्ध आध्यात्मिक है, जो जब चाहें इच्छा मात्र से अपने चित्त को विषयों से हटा सकते हैं, एवं प्राण-वायु को सुषुम्णा में प्रवेश करा सकते हैं। इन्द्रियों से उद्धृत आनन्द को वे, जो कि परम हृदय हैं, परमानन्द की प्राप्ति का माध्यम बनाते हैं और अनासक्त भाव से उन पदार्थों का भोग करते हैं, ताकि उस इन्द्रियज आनन्द की चरमावस्था पर पहुँचकर इन्द्रिय-सम्पर्क से हटकर वे उस आत्म-तत्त्व के साथ ऐक्य का अनुभव कर सकें। अतः कहना होगा कि यह प्रक्रिया असाध्य न होने पर भी एक दुःख साधना-पद्धति है। अन्य तान्त्रिक विधियाँ जब विकल्प का संस्कार कर निर्विकल्प भाव की प्राप्ति कराकर कृतार्थ हो जाती हैं, तब कुल-विधि के द्वारा उस स्वात्मचमत्कारात्मक संवित् का उदय होता है जो पूर्णता, आनन्द तथा स्वातन्त्र्य का सम्पुटी भाव है। इसी वैशिष्ट्य के कारण अद्वयवादी दृष्टि का पार्यन्तिक सार होने पर भी कुल-विधि मठिका-विभाजन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र स्रोत से जोड़कर प्रस्तुत की गई है।

इस कुल-परम्परा के उद्विकास-क्रम की प्रवृत्तियों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मूल शैव तन्त्रों व परवर्ती शैव साहित्य में कुछ विशिष्ट प्रत्यय (जिन्हें यहाँ कुल-धारा की ही मौलिक अवधारणाएँ कहा गया है) विविध सम्प्रदायों के अन्तर्गत समभाव से क्यों उपलब्ध होते हैं? रहस्यचर्या, कुण्डलिनी योग, पञ्चमकार का प्रयोग, आनन्द की धारणा, स्वसंवेदन का सर्वतोशायी माहात्म्य, योगिनीमेलन आदि प्रत्यय क्रम-ग्रन्थों के भी अविभाज्य

२३९. खेचरी में ख वर्ण ब्रह्म या अनुत्तर का वाचक है। अतः ख में चरण करने वाली शक्ति है, खेचरी। यह शक्ति कौलीकी शक्ति है, जिसे अनुत्तरा भी कहा गया है। खेचरीसाम्य है विश्वावभासरूपा अनुत्तरा को अनुत्तर से एकात्मतया ग्रहण करना।

अंग बनकर सम्मुख आते हैं तथा त्रिपुरा-सम्प्रदाय के ग्रन्थों के भी। इसी व्यापक दृष्टि को रखकर **अभिनवगुप्त** अपने *तन्त्रालोक* में चार मठिकाओं में विकसित सम्पूर्ण तान्त्रिक विचारधारा को नाना सम्प्रदायों में वर्गीकृत न कर केवल दो ही वर्गों में बाँटते हैं - तन्त्र-प्रक्रिया व कुल-प्रक्रिया। विविध सम्प्रदायों में भेद प्रायः उस परतत्त्व के रूप एवं नाम को लेकर ही है। कुछ सिद्धान्तों को अपनी दृष्टि से कहीं कुछ नए नाम दे दिए गए हैं। पर मुख्यतः ये दोनों ही दृष्टियाँ पूरी तान्त्रिक परम्परा का सार हैं। इस प्रकार **अभिनवगुप्त** अपने ग्रन्थों में जिस पराद्वैत को विकसित करने का प्रयास करते हैं, कुल सिद्धान्त उसका आत्म-तत्त्व ही है, क्योंकि वे पराद्वैत से सम्बद्ध अपने ग्रन्थों के प्रारम्भ में कुल का ही नमन करते हैं। साथ ही अन्त में कुल को ही विविध सम्प्रदायों और शास्त्रों का सार बतलाते हैं। पर यह “कुल” उस “कुल-सम्प्रदाय” से भिन्न है, जिसकी वे *तन्त्रालोक* के चतुर्थ आह्निक में आलोचना करते हैं। सम्भवतः यह वही सम्प्रदाय है, जो यत्र-तत्र उपलब्ध अज्ञात स्रोत वाले उद्धरणों में नाना सम्प्रदायों की आनुपूर्वी में परिगणित है। **अभिनवगुप्त** अपने अनुत्तर त्रिक नामक सिद्धान्त में इसी कुल की अद्वैतप्रधान दृष्टि को परिष्कृत करके पूर्णता व आनन्द की धारणाओं से समन्वित कर त्रिक के सन्दर्भ में विकसित करते हैं।

विविध सम्प्रदायों को यहाँ एक विशिष्ट आनुपूर्वी में रखने के पीछे कई प्रयोजन हैं। कहीं विविध दृष्टियों को साधक की जीवनचर्या के साथ समन्वित करने का प्रयास है,^{२३२} कहीं कुल को सर्वोत्कृष्ट दिखाने की चेष्टा है,^{२३३} और कहीं त्रिक को कुल तथा कौल से भी ऊपर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।^{२३४} वस्तुतः हर तन्त्र अपने द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त-विशेष को सर्वोत्कृष्ट कहता है। इसी कारण त्रिक-तन्त्र त्रिक को सबसे ऊपर रखते हैं तथा कुल-तन्त्र कुल को। पर वास्तव में मानक रूप में **अभिनवगुप्त** का ही अनुसरण कर तन्त्र-प्रक्रिया व कुल-प्रक्रिया रूप वर्गीकरण ही स्वीकरणीय है। यह वर्गीकरण सारी तान्त्रिक परम्पराओं में लागू किया जा सकता है, फलतः कुल-मत अद्वैत

२३२. अन्तः कौलो बहिः शैवो लोकाचारे तु वैदिकः।

सारमादाय तिष्ठेत नारिकेलफलं यथा॥ - *तं.वि.*, ३, पृ. ८६४ पर उद्धृत

२३३. सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदेभ्यो वैष्णवं परम्।

वैष्णवादुत्तमं शैवं शैवाद् दक्षिणमुत्तमम्॥

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमनुत्तमम्।

सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं न हि॥ - *कु.तं.* २/७-८

२३४. वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।

ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥ - *तं.वि.*, २, पृ. ४६ पर उद्धृत

साधना-पद्धतियों के साररूप में विकसित दृष्टि है, इस बात को अभिनवगुप्त के ही शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम् ।

यथा तथैव शास्त्राणां कुलमन्तः प्रतिष्ठितम् ॥ - तं. ३५/३४

क्रम-मत

क्रम सम्प्रदाय की स्वतन्त्र सत्ता - कश्मीर में उद्भूत व विकसित - कश्मीर से बाहर प्रसार - ऐतिहासिक विवरण के स्रोत - ओघगत वर्गीकरण : दिव्यौघ, सिद्धौघ, मानवौघ - महेश्वरानन्द द्वारा उपात्त सूत्र - गीता : आयाति-क्रम - अवतरण-क्रम भैरव-भैरवी (इच्छाशक्ति/मंगला देवी) - शितिकण्ठ द्वारा उपात्त सूत्र - शिवानन्द - सिद्धौघ - मानवौघ - शिष्यौघ - देवीपञ्चशक्तिक में प्राप्त गुरु-क्रम - कश्मीर के शिवाद्वयवादी प्रस्थानों में प्राचीनतम - क्रम सम्प्रदाय का उद्भव काल - रचनात्मक काल (नौवीं से बारहवीं शती) - क्रम सम्प्रदाय की विविध संज्ञाएँ : क्रमनय, महार्थ, महानय, देवीनय, कालीनय - क्रम सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थकार और उनका साहित्य - वातूलनाथ, गन्धमादन, निष्क्रियानन्दनाथ, विद्यानन्दनाथ, शक्त्यानन्दनाथ, शिवानन्दनाथ, वसुगुप्त, शिवानन्द की तीन शिष्याएँ : केयूरवती/ककारदेवी, मदनिका व कल्याणिका; कल्लट, गोविन्दराज, भानुक, एरक, प्रद्युम्न भट्ट, सोमानन्द, उज्जट, उत्पल, उद्भट्ट, सिद्धनाथ, भास्कर, लक्ष्मणगुप्त, भट्ट उत्पल, भूतिराज (प्रथम), भट्ट दामोदर, अभिनवगुप्त, क्षेमराज, वरदराज, देवभट्ट/ देवपाणि - क्रम-दर्शन की समानान्तर परम्परा : हस्वनाथ, चक्रभानु, चक्रपाणि, प्रबोधनाथ, जैयक, पंकक, नाग, अर्णासिंह, ईशाना/कोविदा, नन्दक, सज्जन, सोमेश्वर/सोमराज, भोजराज, श्रीवत्स, रम्यदेव, शिवानन्द (द्वितीय), महाप्रकाश, जयरथ, महेश्वरानन्द, शितिकण्ठ, अनन्तशक्तिपाद, भट्टारक, शिवोपाध्याय - क्रम-तत्त्वों के प्रतिपादक सामान्य आगम : मालिनीविजयोत्तर, सर्वज्ञानोत्तर, ब्रह्मयामल, तन्त्रराज, किरणागम आदि - क्रम-आगम : पञ्चशक्तिक/देवी-पञ्चशक्तिक, सार्धशक्तिक, क्रमरहस्य, क्रमसद्भाव, कालिका-क्रम, क्रमसिद्धि - उल्लेखों व उद्धरणों के रूप में उपलब्ध क्रम-ग्रन्थ : क्रमसूत्र, सिद्धसूत्र, महानयपद्धति, क्रमोदय, आमावस्यात्रिंशिका, संवाद, राजिका - क्रम : एक तान्त्रिक सम्प्रदाय - क्रम सम्प्रदाय में द्विविध प्रवृत्तियाँ - शांभव व शाक्त/उत्तरी व दक्षिणी स्कूल - क्रम सम्प्रदाय का सैद्धान्तिक पक्ष : शाक्तोपाय, भेदाभेद, क्रममुक्ति, उपायमण्डल; उपाय वैविध्य (का ऐतिहासिक पक्ष) - शाक्तोपाय के मुख्य प्रमेयों का नवधा वर्गीकरण : शक्त्याविष्करण - क्रमचतुष्टयार्थ - पञ्चार्थ - मध्यविकास - शक्तिचक्र विकास - सृष्टि-चक्र, स्थिति-चक्र, संहार-चक्र,

अनाख्या-चक्र/संविच्चक्र, भासा-चक्र, नव-चक्र - क्रम-पूजा - अक्रम-पूजा - जीवन्मुक्ति - विकल्पसंस्क्रिया : शाक्तोपाय की मौलिक पद्धति - देह का क्रम-साधना में असाधारण महत्त्व : चार उपस्कारक पद्धतियों का केन्द्र देह - पीठनिकेतन - वृन्द-चक्र - पञ्चवाह : व्योमवामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी, भूचरी - नेत्रत्रितय (प्रकाश, आनन्द, मूर्ति) - क्रम तथा अन्य शिवाद्वयवादी सम्प्रदाय - क्रम तथा सजातीयेतर सम्प्रदाय - अवान्तर काल में विकसित उपवर्ग : साहस उपवर्ग, छुम्मा उपवर्ग - सम्प्रदाय के अन्दर उपलब्ध विविध मत-मतान्तर : परतत्त्व - शिव/शक्ति, द्वादश काली/त्रयोदश काली, पञ्चार्थ का सिद्धान्त/चतुष्टयार्थ का सिद्धान्त, अन्य विचारभेद - समापन।

काश्मीर में पल्लवित शिवाद्वयवाद की परम्परा में, मुख्यतः उस परम्परा में जिसे अभिनवगुप्त ने तन्त्र-प्रक्रिया के अन्तर्गत रखा है, क्रम-दर्शन प्राचीनतम सम्प्रदाय है। कुल, स्पन्द, प्रत्यभिज्ञा और त्रिक सम्प्रदायों के साथ इसकी भी एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में यहाँ गणना की गई है। तन्त्रालोक की विषय-वस्तु में इस सम्प्रदाय के अतिरिक्त महत्त्व को संकेतित करने के लिए ही जयरथ तन्त्रालोक के मंगल-श्लोक की क्रमपरक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।^१ इस क्रम-सम्प्रदाय का काश्मीर शिवाद्वयवाद के ग्रन्थों में विविध संज्ञाओं से संकीर्तन हुआ है। इस क्रम-दृष्टि का बहुविध नामोल्लेख होने पर भी इसके स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में अस्तित्व के विषय में अक्सर विद्वान् सन्देह व्यक्त करते हैं,^२ क्योंकि एक

१. द्र., तं.वि., २, पृ. ८-११।

२. क्रम सम्प्रदाय की स्वतन्त्र स्थिति को लेकर जिन आधुनिक विद्वानों ने सन्देह व्यक्त किया है, उनमें तून गूड्रियान, आन्द्रे पदु, लिलियन सिलबर्न तथा मार्क डिक्कोप्सकि आदि प्रमुख हैं। ये सभी विद्वान् एक स्वर से क्रम को एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय मानने से इनकार करते हैं। उनकी दृष्टि में क्रम कुल-धारा का ही एक अवान्तर वर्ग है। मार्क इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त एवं जयरथ के द्वारा प्रस्तुत विवरणों में कुछ ऐसे स्थलों का उल्लेख करते हैं, जिनमें क्रम-सिद्धान्तों व क्रम-ग्रन्थों की कुल-सन्दर्भों में ही चर्चा की गई लगती है। पर यह स्थिति काश्मीर में पल्लवित तान्त्रिक विचारधारा के उस पक्ष का प्रतीक है, जहाँ कई जीवित परम्पराएँ सहज भाव में एक-दूसरे को प्रभावित करती हुई तथा एक-दूसरे से प्रभावित होती हुई विकसित हो रही थीं। इसी कारण तन्त्रालोक पूर्ण तान्त्रिक दृष्टि का प्रतिनिधि होकर उन सभी परम्पराओं को उसी परस्परानुप्रवेशी सजीव परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करता है। फलतः यहाँ त्रिक, क्रम व कुल सम्प्रदायों के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ सिद्धान्त, मत आदि सजातीय, भर्तृहरि आदि सदृशजातीय और बौद्ध आदि विजातीय मतों का भी विशिष्ट सन्दर्भों में उल्लेख मिलता है। सम्भवतः आगमोत्तर काल में क्रम पर कुल-दृष्टि का इतना प्रभाव है कि क्रम-ग्रन्थों में कुल-तत्त्वों का सन्निवेश बहुतायत से दिखाई पड़ता है, परन्तु क्रम से सम्बद्ध सामग्री के सूक्ष्म विश्लेषण से यह निश्चित हो जाता है कि क्रम की एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में स्थिति निर्विवाद रूप से है। अग्रिम विवेचन में आशा है कि यह बात उभरकर आ सकेगी।

साधना-विधि के रूप में ही उसकी चर्चा प्रायः मिलती है। अतः इसकी स्वतन्त्र स्थिति की मान्यता गवेषणीय हो जाती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन करने पर इस सम्प्रदाय के स्वतन्त्र अस्तित्व के पक्ष में कई प्रमाण प्राप्त होते हैं। **मंख** अपने काव्य *श्रीकण्ठचरित* में महानय के नाम से एक दार्शनिक सम्प्रदाय का उल्लेख करते हैं,^३ जिसमें, उनके टीकाकार **जोनराज** के अनुसार, संहार के बाद सृष्टि की स्थिति मान्य है।^४ महानय क्रम की ही अपर संज्ञा है और इस सम्प्रदाय में परम सत् को क्रमात्मक माना गया है। अतः ग्यारहवीं शती में दार्शनिक क्षेत्र से बाहर एक साहित्यिक ग्रन्थ में क्रम सम्प्रदाय का उल्लेख यही बताता है कि क्रम सम्प्रदाय उस समय पर्याप्त प्रचलन में था। **अभिनवगुप्त** भी *मालिनीविजयवार्तिक* में क्रम का एक स्वतन्त्र स्रोत या सम्प्रदाय के रूप में उल्लेख करते हैं।^५ *तन्त्रालोक* में भी क्रम की स्वतन्त्र सत्ता का उल्लेख है।^६ *विवेक* में कई स्थलों पर **जयरथ** इसी तथ्य को रेखांकित करते हैं।^७ *महानयप्रकाश* के रचयिता बार-बार इस सम्प्रदाय की स्वतन्त्र स्थिति पर बल देते हैं।^८ **महार्थमंजरीकार** प्रत्यभिज्ञा तथा क्रम को दो स्वतन्त्र सम्प्रदायों के रूप में स्वीकार कर उनकी अत्यन्त भिन्नता को नकारते हुए इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।^९

इन तथ्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमाण भी हैं, जो इसको स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में स्थापित करते हैं। जैसे इस मत का अपना अलग उद्गम है, अलग इतिहास है और अलग

३. प्राङ्निग्रहं विरचयन्वपुषः स्वरूपं पश्चादनुग्रहदृशा च दिशन्नशेषम्।

यः सर्गसंहतिविपञ्चनक्रमेण चक्रे महानयविदां प्रथमः स्मरस्य॥

— *श्रीकण्ठचरित* ५/४०

४. यतो महानयविदां दर्शनज्ञानामाद्यः। तस्मिन्दर्शने हि संहारानन्तरं सृष्टिः।

— *श्रीकण्ठचरित-वृत्ति*, पृ. ६६

५. अतिमार्गक्रमकुलत्रिकस्रोतोऽन्तरादिषु॥ — *मा.वि.वा.* १/१६२ख

६. अथ यथोचितमन्त्रकदम्बकं त्रिककुलक्रमयोगि निरूप्यते। — *तं.* ३०/१क

७. एता एव द्वादशापि संविदः . . . क्रमदर्शनादौ अन्यर्थेनापि अभिधानेन दर्शिताः।

— *तं.वि.*, २, पृ. ५८७;

तदत्र क्रमनयसमानकक्ष्यत्वविवक्षायाम् . . .। — तदेव, ३, पृ. ८०५;

इह क्रमदर्शने . . .। — तदेव, ३, पृ. ८०६;

न केवलमेताः क्रमदर्शनादावेवोक्ता यावदस्मन्नयसहोदरेषु शास्त्रेष्वपि। — तदेव, २, पृ. ५८७

८. क्रमे सर्वज्ञपर्यन्तं प्रत्यक्षा कापि या स्थिता। — *म.प्र.(त्रि.)* ७/१३०;

कुलकौलादिकाम्नायशाक्तत्रिकमतादिषु. . . व्यापको हि महानयः। — तदेव १/३०-३१

९. अनेन श्रीमहार्थत्रिकदर्शनयोरन्योन्यं नात्यन्तं भेदप्रथेति व्याख्यातम्। — *म.मं.प.*, पृ. ६२

साहित्य है। जैसे प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त के अवतारक हैं **सोमानन्द**, स्पन्द/त्रिक के अवतारक हैं **वसुगुप्त** और कुल के अवतारक हैं **मच्छन्द**, उसी प्रकार क्रम के अवतारक हैं **शिवानन्द**। स्पन्द मत की तरह इस सम्प्रदाय का उद्गम स्थल कश्मीर ही है, अन्य सम्प्रदायों की भाँति यह यहाँ बाहर किसी प्रान्त से आयात नहीं है। साथ ही इस सम्प्रदाय का अपना विपुल साहित्य है, जिसका संक्षिप्त विवरण हम आगे प्रस्तुत करेंगे।

कश्मीर से सम्बद्ध विविध सम्प्रदायों में से केवल क्रम ही कश्मीर की भूमि में उत्पन्न एवं विकसित सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय को “औत्तर क्रम” की संज्ञा देना इसी बात को पुष्ट करता है। ऐसा उल्लेख मिलता है कि इस सम्प्रदाय के प्रथम अवतारक **शिवानन्दनाथ** ने उत्तरपीठ अर्थात् कश्मीर में इस सम्प्रदाय की शिक्षा ग्रहण की। वस्तुतः **अभिनव** की **क्रमकेलि** के प्रमाण से यह सूचना हमें **जयरथ** द्वारा मिलती है।^{१०} **महेश्वरानन्द ऋजुविमर्शिनी** के कथन को उद्धृत करते हुए अन्त में इस सम्प्रदाय को कश्मीर में ही उद्भूत बताते हैं।^{११} पर कश्मीर में उद्भूत होकर भी यह सम्प्रदाय कश्मीर में ही सीमित नहीं रहा, वरन् चोलदेश (आधुनिक तमिलनाडु-कर्नाटक) तक फैल गया। क्रम-सम्प्रदाय को विविध पीठों – ओड्डियान,^{१२} पूर्ण-पीठ^{१३} आदि – से जोड़ना भी कश्मीर से बाहर इसके प्रसार को इंगित करता है। यदि इन पीठों की भौगोलिक स्थिति का आज हमें सही-सही ज्ञान हो जाए तो निःसन्देह इसके प्रसार की विस्तृत परिधि का हम सही-सही अनुमान कर सकेंगे।

वस्तुतः क्रम-सम्प्रदाय के उद्विकास के विविध स्तरों के ज्ञापक सूत्र विविध आध्यात्मिक, साधनापरक विवेचनों में अन्तर्निहित हैं। वृन्द-चक्र के अन्त में गुरुसन्तति विषयक पूजा की क्रम-दृष्टि^{१४} इस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक इतिवृत्त के सन्दर्भ में कई महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ देती है। इसी तरह सामान्य तान्त्रिक विश्वास कि पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक अपने गुरुओं का स्मरण करे, के द्वारा भी स्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टि विकसित करने में सहायता मिलती है। पर इसके बावजूद कई प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।

१०. उत्तरपीठलब्धोपदेशात् श्रीशिवानन्दनाथात् . . . । – तं.वि., ३, पृ. ८०८

११. . . . सम्प्रदायस्य काश्मीरोद्भूतत्वात् . . . । – म.मं.प., पृ. १८६

१२. म.प्र.(शि.), पृ. ५०, ६०; म.मं.प., पृ. ८३, ६२, ६६।

वे लोग जो ओड्डियान को स्वात घाटी से जोड़ते हैं, उनकी दृष्टि में क्रम का उद्भव उत्तरपीठ या कश्मीर में ही माना जाएगा।

१३. वि.ग.च. ४/१२८; म.मं.प., पृ. ६६।

१४. अतो वृन्दक्रमस्यान्ते पूज्यते गुरुसन्ततिः। – म.प्र.(त्रि.) ८/३; म.मं., गाथा ३६ भी द्रष्टव्य

क्रम-धारा में सर्वप्रथम तीन ओघों का वर्णन मिलता है। ओघ का सामान्य अर्थ है बाढ़, धारा, प्रवाह। लक्षणा से अर्थ है सन्तति, परिपाटी या परम्परा। ये ओघ हैं - दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ।^{१५} इनमें द्वितीय व तृतीय का ऐतिहासिक सन्दर्भ में विशेष महत्त्व है। ये तीन ओघ एक ओर तो क्रम-सम्प्रदाय के क्रमिक विकास के तीन चरणों के प्रतिनिधि हैं, वहीं तीन प्रकार के सृष्टिकर्मों को भी निदर्शित करते हैं।^{१६} पर इन तीन ओघों की परम्परा का स्फुट विवेचन कहीं नहीं मिलता। *क्रमकेलि* को आधार बनाकर **महेश्वरानन्द** का कहना है^{१७} कि सम्पूर्ण *गीता* में कृष्ण अर्जुन को क्रम-दर्शन का ही उपदेश देते हैं।^{१८} उनके अनुसार *गीता* के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में क्रम-सम्प्रदाय के ही इतिहास का विवेचन है।^{१९} अर्जुन को क्रम-रहस्यों की शिक्षा देते समय कृष्ण कालसंकर्षिणी की परम अवस्था में प्रवेश करते हैं।^{२०} इस प्रकार **महेश्वरानन्द** *गीता* को क्रम-सम्प्रदाय के परिदृश्य में प्रस्तुत करने की पर्याप्त चेष्टा करते हैं। वह क्रम की एक अन्य परम्परा का भी उल्लेख करते हैं, जिसमें तीनों ओघों के विकास को दर्शाया गया है। इस सम्प्रदाय का प्रथम प्रकाशन भैरव से भैरवी, जो इच्छा-शक्ति रूपा है, के प्रति हुआ।^{२१} कालान्तर में उनके द्वारा यह ज्ञान **शिवानन्द** को उपदिष्ट होकर, फिर उनसे अन्य बहुत से आचार्यों में संक्रान्त होता हुआ अन्ततः **महेश्वरानन्द** को प्राप्त हुआ^{२२}। पर **महेश्वरानन्द** भी स्पष्टतः इस विवेचन को ओघों से सम्बद्ध करके नहीं दिखलाते। अन्य स्थलों पर अपनी गुरु-पंक्ति के विवेचन

-
१५. क्रमेण तच्च नाथानां परिपाट्या भुवः स्थलम्।
दिव्यसिद्धमनुष्यौघप्रविभागादवातरत्। - *म.मं.प.*, पृ. १६०
१६. अत्र ओघसंघट्टशब्दाभ्यां सृष्टिस्थित्योः . . .। - *भावोपहार-विवरण*, पृ. ८
१७. एतद् वितत्य विख्यातैः क्रमकेलौ कुलागमे।
नाथाभिनवगुप्तार्यैः पर्यालोचितमादरात्॥ - *म.मं.प.*, पृ. १८३
१८. एनमेव महार्थं युद्धारम्भे पाण्डुपुत्रस्य।
षोडशसहस्रशक्तिर्देव उपदिशति माधव इति शिवम्॥ - *म.मं.*, गाथा ७०
१९. माधवः पाण्डुपुत्रायोपदिशतीति गुरुशिष्यभावोद्भावेन, “इमं विवस्वते योगम् . . . रहस्यं होतुत्तमम्”
इति गुरुपर्वक्रमात्मनः सम्बन्धस्यावश्यानुसंधेयता द्योत्यते। - *म.मं.प.*, पृ. १८०
२०. कालग्रासैकरसिकां कालसंकर्षिणीं कलाम्।
अनुप्रविश्य योगेन खेचरीखचितौजसा॥ - तदेव, पृ. १८१
२१. तथा तथा शिवस्तस्याश्चैतन्यमुपबृंहयन्।
अर्थतत्त्वमुपादिक्षदौत्तराम्नायसंविदाम्॥ - तदेव, पृ. १८६
२२. अथ सा कालयोगेन शिवानन्दस्य धीमतः। शिष्यस्योपादिशद् देवी चिदद्वैतस्य निश्चयम्॥
क्रमेण तच्च नाथानां परिपाट्या भुवः स्थलम्। दिव्यसिद्धमनुष्यौघप्रविभागादवातरत्॥
अवतीर्णाप्यसौ विद्या महार्थक्रमगर्भिणी। - तदेव, पृ. १६०

में भी वह इस प्रकरण में ज्यादा कुछ नहीं कहते, बस इच्छाशक्ति के स्थान पर मंगला देवी का नामोल्लेख भर करते हैं।^{२३} केवल एक स्थान पर अपनी गुरु-परम्परा का स्मरण करते हुए वह आनुपूर्वी प्रदर्शित करते हैं, जिसमें सबसे पहले शिवानन्द, फिर महाप्रकाश और तब महेश्वरानन्द की गणना है।^{२४} यह शिवानन्द उन शिवानन्द से भिन्न है, जो इस सम्प्रदाय के प्रथम अवतारक कहे गए हैं, जिन्हें सुविधा के लिए क्रमशः शिवानन्द प्रथम तथा प्रकृत शिवानन्द को शिवानन्द द्वितीय कहा जा सकता है। उनके विवरण में भैरव-भैरवी को दिव्यौघ में तथा शिवानन्द आदि को मानवौघ में रखने पर भी सिद्धौघ का विवरण अविवेचित रह जाता है कि उसमें किसका ग्रहण किया जाए। यदि अन्य ग्रन्थों में प्रस्तुत सिद्ध-परम्परा को आधार बनाएँ तो अभिनवगुप्त द्वारा प्रस्तुत विवरण का विशेषतः संज्ञान लेना होगा। अभिनवगुप्त तन्त्रालोक में जिस सिद्ध-सन्तति का उल्लेख करते हैं, वह खगेन्द्रनाथ से प्रारम्भ होकर मीननाथ तक जाती है।^{२५} इस सिद्ध-सन्तति की उपासना का विधान महेश्वरानन्द के अनुसार स्थितिक्रम में है।^{२६} चार युगनाथों की यह परम्परा महेश्वरानन्द के गुरु शिवानन्द (द्वितीय) कृत महानयप्रकाश में भी स्वीकृत है।^{२७} पर इस सम्प्रदाय के अन्य विद्वान् जैसे अभिनवगुप्त, शितिकण्ठ आदि इस मान्यता का समर्थन नहीं करते। अभिनवगुप्त तो क्रम-दृष्टि में सिद्ध-सन्तति की ऐसी किसी सम्भावना से इनकार करते हुए इसे पूर्णतया कुल-दृष्टि से जोड़ते हैं।^{२८} शितिकण्ठ का

२३. स तु भगवती श्रीमङ्गलादेवीमारभ्य श्रीमहेश्वरानन्दपर्यन्तं पृथक् प्रथमानानां गुरुनाथानाम् . . . ।

— तदेव, पृ. ६८

आरभ्य मङ्गलादीप्तिशिवानन्दादिकं क्रमम् । — तदेव, पृ. ६५

२४. श्रीशिवानन्दमहाप्रकाशमहेश्वरानन्दप्रभृतिभिर्योगीन्द्रैः सम्भूयवादेन उपभुज्यमानत्वात् ।

— म.मं.प., पृ. १२६

२५. युगक्रमेण कूर्माद्या मीनान्ता सिद्धसन्ततिः । — तं. ४/२६७क

जयरथ इस पर अपनी टीका में कहते हैं :-

आद्यशब्दस्तन्त्रेण व्याख्येयः, तेन कूर्मस्य त्रेतायुगावतारकस्य श्रीकूर्मनाथस्याद्यः कृतयुगावतारकः श्रीखगेन्द्रनाथः स आद्यो यस्याः सा । — तं.वि., ३, पृ. ६१३

२६. शक्तयश्च ताः शिरश्चक्रे युगनाथाश्चत्वारः . . . । — म.मं.प., पृ. ६८

२७. म.प्र.(त्रि.) ८/१४-१७ ।

२८. एवं क्षेत्रप्रवेशादिसन्ताननियमान्ततः ।।

नास्मिन्विधीयते तद्धि साक्षान्नौपयिकं शिवे ।

न तस्य च निषेधो यत्र तत् तत्त्वस्य खण्डनम् ।। — तं. ४/२७०ख-२७१; इस पर जयरथ की सारगर्भित टिप्पणी है :-

सिद्धक्रमेति सिद्धानां कृतयुगादिक्रमेण श्रीखगेन्द्रनाथादीनां क्रमे तत्परम्परागतायां कुलप्रक्रियायामित्यर्थः ।

— तं.वि., ७, पृ. ३२६२-६३

भी यही विचार है। उनके अनुसार यह दृष्टि इस परम्परा में बाहर से आरोपित है। वस्तुतः स्थितिक्रम में वृन्द-चक्र के अन्तर्गत परिगणित चार सिद्ध-समूह — ज्ञान, मन्त्र, मेलाप व शाक्त — ही पूज्य हैं।^{१६} आपाततः इस सिद्ध-क्रम में उपासनात्मक दृष्टि ही प्रधान है, अतः उसका ऐतिहासिक महत्त्व गौण हो जाता है। लेकिन शितिकण्ठ महेश्वरानन्द की इस मान्यता को स्वीकार करते हैं कि मंगला देवी इस सम्प्रदाय की प्रथम गुरु हैं।^{१७} यह मंगलादेवी या मकारदेवी उस आद्या शक्ति का ही रूप हैं, जो दिव्यौघ में सक्रिय होती है।^{१८}

ओघों की संख्या को लेकर शितिकण्ठ का मत भिन्न है। वह पाँच ओघों का उल्लेख करते हैं^{१९} — परोघ, दिव्यौघ, महौघ, सिद्धौघ और मानवौघ। लेकिन विचार करने पर इनमें से प्रथम तीन दिव्यौघ में ही अन्तर्भूत किए जा सकते हैं। इस तरह तीन ओघों का प्राचीन विभाजन ही अंततः स्वीकरणीय लगता है।

सिद्धौघ मकारदेवी से प्रारम्भ होता है।^{२०} इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य उल्लेखों में कुछ नाम मिलते हैं, जिन्हें इस परम्परा में रखा जा सकता है। जैसे शितिकण्ठ के महानयप्रकाश में ज्ञाननेत्रनाथ का उल्लेख आता है,^{२१} जिन्होंने सीधे मकारदेवी या मंगलादेवी से इस सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण की। वहीं पर एक जगह श्रीनाथ का उल्लेख भी मिलता है।^{२२} इसी तरह महानयप्रकाश(त्रि.) भी एक जगह अन्तर्नेत्रनाथ का उल्लेख करता है।^{२३}

२६. अन्यत्र दर्शनान्तरे कुलाकुलक्रमेण एतत्खगेन्द्रादिनामैव व्यवहियमाणाश्चत्वारः खगेन्द्राद्याः . . . इह पूज्यतया आरोप्यन्ते, इति पापात्पापेयं वाचोयुक्तिः। — म.प्र.(शि.), पृ. ११५-१६;
तत्र कोऽवकाशः कनिष्ठकस्य गुरुक्रमस्य पूज्यतायाम्, इति चतुर्भिरेव ज्ञानसिद्धैः स्थितिक्रमः पार्यते।
— तदेव, पृ. ११६

३०. श्रीमकारदेवी आदिगुरुरूपा जीयात्। — तदेव, पृ. ५

३१. तथापि सुप्रबुद्धश्रीमङ्गलारूपेण आदिदेवतैव विवृता। — तदेव, पृ. ५

३२. तदेव, पृ. १४४

३३. मकारदेवी . . . सा हि महौघमतिक्रम्य भिन्ना सिद्धौघे पूज्यते। — तदेव, पृ. १०४

३४. श्रीमन्मकारदेव्याः पीठवरे प्राप्तादेशेन श्रीज्ञाननेत्रनाथेन . . . यत्साक्षात्कृतं तदेव भूतदयाविष्टेन सता क्रमार्थतया कथनपूजनाभ्यां वान्तम् . . . तदेव प्रस्तूयते। — तदेव, पृ. ४६

३५. आदिपीठादिष्टश्रीनाथस्तु देवगुरुभागव्यवस्थामेकस्य अखण्डचित्स्वरूपस्य यदादिदेश . . .। — म.प्र.(शि.), पृ. ७३

प्राप्त विवरणों का विश्लेषण करने पर यह श्रीनाथ शिवानन्द से अभिन्न सिद्ध किए जा सकते हैं, यद्यपि स्पष्टतः ऐसा कहीं नहीं कहा गया है।

३६. अत्रान्तर्नेत्रनाथस्य प्रकटानुभवोऽभवत्।।

ततो ध्यानं तु तत्पीठं सर्वपीठोत्तमं बहिः।

योगिनीसिद्धसंसेव्यमुत्तरस्यां दिशि स्थितम्।। — म.प्र.(त्रि.), २/३६ख-३७

अर्थसाम्य की दृष्टि से अन्तर्नेत्रनाथ व ज्ञाननेत्रनाथ शब्द पर्याय हो सकते हैं तथा एक ही व्यक्ति को इंगित कर सकते हैं।

मानवौघ हस्वनाथ से प्रारम्भ होकर चक्रनाथ तक जाता है।^{३७} शितिकण्ठ में प्राप्त विवरण की अन्य प्रकार से भी व्याख्या सम्भव है। इसके अनुसार मंगला देवी सिद्धौघ की घटक हैं और (ज्ञान/अन्तः) नेत्रनाथ, केयूरवती (राज्ञी और ककारदेवी के नाम से भी प्रसिद्ध) तथा हस्वनाथ इन तीनों से मानवौघ की प्रवृत्ति होती है, जो चक्रभानु में समाप्त होती है। इस मानवौघ का एक अन्य उपवर्ग भी मिलता है, जिसे शिष्यौघ कहा गया है।^{३८} इसका प्रारम्भ चक्रभानु से होता है। चक्रभानु के आठ शिष्य थे जिनमें से ईशानी नामक राज्ञी से जो उपशाखा फैलती है, वह आकर शितिकण्ठ में समाप्त होती है। इस प्रकार शिष्यौघ की अन्तिम कड़ी शितिकण्ठ बनते हैं। इस मानवौघ (एतदर्थ शिष्यौघ) का क्रम-सम्प्रदाय के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान है और इन्हीं के विवेचनों के आधार पर इस धारा के स्वरूप को आज समझा जाता है।

वास्तव में इस सम्प्रदाय के व्यवस्थित इतिहास को जानने का प्रमुख साधन जयरथ द्वारा तन्त्रालोकविवेक में दी गई सामग्री है। जयरथ का यह विवेचन अभिनवगुप्त रचित क्रमकेलि पर आधारित है,^{३९} और जिसके सम्यक् दोहन द्वारा महेश्वरानन्द से छूट गए रिक्त स्थानों को भी भरने का प्रयास किया जा सकता है। क्रमकेलि टीका इस सम्प्रदाय का प्रथम अवतारक शिवानन्द को ही मानती है और उत्तरपीठ में उन्हें ज्ञान की उपलब्धि हुई, इसका उल्लेख करती है। शिवानन्द से यह ज्ञान उनकी तीन साक्षात् शिष्याओं — केयूरवती, मदनिष्ठा और कल्याणिका — को प्राप्त होता है, और इन तीनों से क्रमशः गोविन्दराज, भानुक और एरक को।

इनमें से गोविन्दराज और भानुक क्रम-सम्प्रदाय की दो भिन्न-भिन्न धाराओं के प्रवर्तक हैं। सोमानन्द का संबंध गोविन्दराज की धारा से है। उन्होंने गोविन्दराज से क्रम की शिक्षा ग्रहण की। प्रत्यभिज्ञा की धारा के समानान्तर उसी गुरु-क्रम — उत्पल, लक्ष्मणगुप्त — से होती हुई यह अभिनवगुप्त तक पहुँचती है। दूसरी धारा के प्रवर्तक भानुक की

३७. श्रीमद्भलैव पीठदिशामवतारपात्रम् . . . सा च सिद्धौघरूपा, मानवौघ(घे) नेत्र-राज्ञी-हस्वनाथेति कुलारणिः . . . कुलस्य ओवल्लीविशेषस्य . . . उत्पत्तिस्थानम्, ततश्च मानवौघस्यान्ते शिष्यौघाग्रणीर्भानुपादः अष्टानां शिष्याणां प्रभुः, यन्मध्याद् राज्ञी ईशानाख्या स(म)दन्तं पारम्पर्यनिदानम्॥

— म.प्र.(शि.), पृ. १०७

३८. मानवौघशिष्यौघयोरेक्येन गुरुक्रमाः। — तदेव, पृ. १४०; द्र. पिछली पा.टि. भी

३९. तं.वि., ३, पृ. ८०७-१६।

शिष्य-परम्परा में उज्जट और उद्भट आते हैं। इनमें से उद्भट, कालबिन्दु की दृष्टि से, प्रसिद्ध आलंकारिक उद्धट से अभिन्न जान पड़ते हैं। उस दूसरी धारा से ही जयरथ का भी सम्बन्ध है। तीसरे एरक का अपना कोई सन्तति कुल नहीं बना, वह अकेले ही क्रम-ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं। जयरथ के ही विवेचन के आधार पर इस सम्प्रदाय के प्रथम अवतारक शिवानन्दनाथ के तीन पूर्ववर्ती आचार्यों की परम्परा का भी पता चलता है। देवीपञ्चशतिक के आधार पर उल्लिखित विवेचन में इस गुरु-क्रम का अपनी दूतियों के साथ निरूपण इस प्रकार है^{४०} -

निष्क्रियानन्द	=	ज्ञानदीप्ति
विद्यानन्द	=	रक्ता
शक्त्यानन्द	=	महानन्दा
शिवानन्द	=	समया

यहाँ पर उल्लिखित शिवानन्द इस सम्प्रदाय के अवतारक के रूप में स्मृत शिवानन्द से यदि अभिन्न मान लिए जाएँ, तो इस सम्प्रदाय के शिवानन्द से पूर्व अस्तित्व में भी कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस प्रकरण में एक प्रमाण यहाँ पर सन्दर्भित देवीपञ्चशतिक स्वयं है, साथ ही वातूलनाथसूत्र के टीकाकार अनन्तशक्तिपाद^{४१} तथा विज्ञानभैरव-उद्योत के रचयिता शिवोपाध्याय^{४२} के द्वारा निष्क्रियानन्द के नाम से एक मत का प्रस्तुत किया जाना भी इस सन्दर्भ में दूसरा प्रमाण है। वातूलनाथसूत्रटीका में गन्धमादन नामक सिद्ध का भी उल्लेख मिलता है, जिन्होंने निष्क्रियानन्दनाथ पर अनुग्रह कर शास्त्र प्रदान किया।^{४३}

इस प्रकार क्रम-सम्प्रदाय कश्मीर में विकसित शिवाद्वयवादी सम्प्रदायों में सबसे प्राचीन सिद्ध होता है। जहाँ अन्य सभी सम्प्रदाय कश्मीर में नौवीं शताब्दी के आस-पास ही प्रस्फुटित होते दिखाई पड़ते हैं, क्रम के उदय एवं स्थिति के प्रमाण उससे बहुत पहले से

४०. ननु श्रीदेवीपञ्चशतिकादौ

“निष्क्रियानन्दनाथश्च ज्ञानदीप्त्या सहैकतः।

विद्यानन्दश्च रक्ता च द्वितीयं कथितं तव॥

शक्त्यानन्दो महानन्दा तृतीयं सिद्धपूजितम्।

शिवानन्दस्तथा ज्ञेया समया तच्चतुर्थकम्॥”

इत्याद्युक्त्या अन्येऽपि सपत्नीका गुरवः उक्ताः . . । - तदेव, ७, पृ. ३३२१

४१. वा.सू.वृ., पृ. ४।

४२. वि.भै.वि., पृ. ६७-६८।

४३. वा.सू.वृ., पृ. ४।

प्राप्त होने लगते हैं। अवन्तिवर्मा के समकालीन नौवीं शताब्दी के कवि रत्नाकर अपने महाकाव्य *हरविजय* में परम सत् को संकर्षिणी की संज्ञा से पुकारते हैं,^{४४} जो क्रम-सम्प्रदाय का प्रातिस्विक प्रत्यय है।^{४५} यह साक्ष्य यही सिद्ध करता है कि उस समय क्रम-सम्प्रदाय पर्याप्त प्रचलन में था। जयरथ के विवेचन के आधार पर शिवानन्द तथा सोमानन्द के मध्य दो आचार्यों की गणना है - केयूरवती और गोविन्दराज। यदि दो पीढ़ियों के मध्य पच्चीस साल का अन्तराल रखें तो शिवानन्द का समय नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का प्रारम्भिक काल (८००-८५० ई.) सिद्ध होता है। गन्धमादन, जो शिवानन्द से चार पीढ़ी प्राचीन ठहरते हैं, का समय आठवीं शती के पूर्वार्द्ध का आदि या सातवीं शती के उत्तरार्द्ध का अन्तिम काल निकलकर आता है। अतः क्रम-सम्प्रदाय के बीज उससे भी प्राचीन हैं, ऐसी निःसंदिग्ध रूप से सम्भावना बनती है।

क्रम-सम्प्रदाय के रचनात्मक काल में विविध आचार्यों की गिनती की जा सकती है, जैसे सिद्धनाथ, प्रद्युम्न भट्ट, उत्पल, उत्पल वैष्णव (भट्ट उत्पल), लक्ष्मणगुप्त, भास्कर, आदि। इसी क्रम में अभिनवगुप्त, क्षेमराज तथा रम्यदेव का भी योगदान विशेषतः उल्लेखनीय है। यह रचनात्मक प्रवाह देवभट्ट पर आकर रुकता है। कुछ मध्यान्तर के बाद पुनः शिवानन्द द्वितीय, जयरथ व महेश्वरानन्द के रूप में प्रवाहित होता हुआ तेरहवीं शताब्दी में पहुँचता है। इस परम्परा के समानान्तर एक और परम्परा चल रही है, जहाँ कई आचार्य और सम्मिलित होते हैं। वे हैं चक्रभानु, ह्रस्वनाथ, भोजराज, सोमराज और श्रीवत्स। यदि अर्णसिंह के *महानय-प्रकाश*, जिसका दूसरा नाम सम्भवतः *कालिकाक्रमपरामर्श(?)* है, को प्रमाण माना जाए तो चक्रभानु से दो शिष्य-परम्पराएँ प्रवृत्त होती हैं। एक है— चक्रभानु → ईशानी/कोविदा → नन्दक → सज्जन → सोमेश्वर। दूसरी है — चक्रभानु → प्रबोध → जैयक → पंकक → नाग →

४४. प्राप्ताभिसन्धिपरतामनुवृत्तिलग्नौणस्थितिः स्थितसितातिशयादभीक्ष्णम्।

विवेति सर्वबहुलाखिलदृष्टिसंज्ञा संकर्षणी निगदिता किल शासने त्वम्॥ - *हरविजय* ४७/५५

कुछ आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में यहां प्रयुक्त “संकर्षणी” शब्द “संकर्षिणी” का पर्याय नहीं माना जा सकता। इस आधार पर इसे क्रम से जोड़ना उचित नहीं होगा। यह तर्क शिथिल लगता है। स्वयं क्रम-ग्रन्थों में कई जगह संकर्षणी का प्रयोग मिलता है (उदाहरणार्थ द्र. *वा.म.वि.*, पृ. २८), इसके अतिरिक्त अर्थ-साम्य में तो विप्रतिपत्ति का कोई अवकाश है नहीं। विस्तृत चर्चा उचित अवसर पर।

४५. संकर्षिणी सप्तदशाक्षरा। यदुक्तं श्रीदेव्यायामले-त्रिदशैरपि सम्पूज्या विद्या सप्तदशाक्षरा। कालसंकर्षिणी नाम्ना . . .। - *तं.वि.*, ७, पृ. ३३३६

अर्णसिंह^{४६} चक्रभानु की पहली शिष्य-परम्परा में सोम (सोमराज/सोमेश्वर), सोमपुत्र और चिद्गगनचन्द्रिका के रचयिता श्रीवत्स आते हैं। और, जैसाकि हम ऊपर देख चुके हैं, शितिकण्ठ भी ईशानी के माध्यम से इसी दूसरे सन्तति-क्रम में आते हैं। इनके अतिरिक्त भी कई अन्य आचार्यों का इस परम्परा को विकसित करने में योगदान रहा है, जिसका बस कहीं-कहीं उल्लेख भर मिलता है, पर उनके ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। इस प्रकार यह समृद्ध परम्परा नौवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक लगातार प्रवाहित रही है। यद्यपि तेरहवीं शताब्दी में जयरथ व महेश्वरानन्द के बाद इस धारा में एक शून्य नज़र आता है, पर सन् १५७५-१६२५ में शितिकण्ठ तथा १७२५-७५ में शिवोपाध्याय के द्वारा यह धारा पुनः आविर्भूत होती है। उसी काल में वातूलनाथसूत्राणि की वृत्ति के रचयिता अनन्तशक्तिपाद तथा छुम्मा-सम्प्रदाय के लेखक को भी रखा जा सकता है। उसके बाद धीरे-धीरे यह परम्परा प्रचलन से बाहर होती गई या एक निश्चित वर्ग में ही सिमट गई।

नौवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य का समय सबसे ज्यादा सर्जनात्मक है। इस काल में न केवल नए ग्रन्थों की रचना हुई, वरन् इस सम्प्रदाय का अन्य सहगामी सम्प्रदायों पर पर्याप्त प्रभाव भी पड़ा। इस काल के आचार्यों का योगदान जहाँ इस सम्प्रदाय को समझने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, वहीं गुरु-सन्तति-परम्परा व वंश-परम्परा की भी इस काल में स्थिति पूर्णतया स्पष्ट है। इस काल में साधनापरक चिन्तन के स्थान पर विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि का विकास हुआ। जयरथ के द्वारा अपने विरोधियों की गुरु-क्रम या परम्परा का सही ज्ञान न रखने वालों के रूप में आलोचना यही प्रमाणित करती है कि उस समय यह परम्परा कश्मीर में जीवित रूप से प्रचलन में थी।

विविध ग्रन्थों में क्रम-दर्शन की भिन्न-भिन्न अन्यर्थ संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। यह भी इसके लोक-समादर का बड़ा प्रमाण है। क्रमनय इस सम्प्रदाय की सर्वाधिक प्रचलित संज्ञा है।

४६. अर्णसिंह की कृति की मूल नेवारी पाण्डुलिपि के नागरी में रूपान्तरित पाठ के लिए लेखक तन्त्र-विद्या और काश्मीरी शैव दर्शन के प्रामाणिक विद्वान् मार्क डिकोप्सकि का अत्यन्त कृतज्ञ है। टंकित प्रतिकृति में ग्रन्थ का नाम त्रुटित है। इसके पारायण से लगता है कि महेश्वरानन्द ने दोनों महानयप्रकाशों (त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित - शिवानन्द द्वितीय की कृति के रूप में हमारे द्वारा सम्भाविततया गृहीत -), और अर्णसिंह की प्रकृत उल्लेखाधीन कृति) को अक्सर अविविक्त रूप से उद्धृत किया है। अर्णसिंह का वह कहीं नामोल्लेख नहीं करते, परन्तु उनके द्वारा उद्धृत (द्रष्टव्य म.मं.प., पृ. ८३, ८४, ८५, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८, ९९, १००, १०१, १०२, १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९, ११०, १११, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३०, १३१, १३२, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६३, १६४, १६५, १६६, १६७, १६८, १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १७७, १७८, १७९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६, १९७, १९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०५, २०६, २०७, २०८, २०९, २१०, २११, २१२, २१३, २१४, २१५, २१६, २१७, २१८, २१९, २२०, २२१, २२२, २२३, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९, २४०, २४१, २४२, २४३, २४४, २४५, २४६, २४७, २४८, २४९, २५०, २५१, २५२, २५३, २५४, २५५, २५६, २५७, २५८, २५९, २६०, २६१, २६२, २६३, २६४, २६५, २६६, २६७, २६८, २६९, २७०, २७१, २७२, २७३, २७४, २७५, २७६, २७७, २७८, २७९, २८०, २८१, २८२, २८३, २८४, २८५, २८६, २८७, २८८, २८९, २९०, २९१, २९२, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, २९८, २९९, ३००, ३०१, ३०२, ३०३, ३०४, ३०५, ३०६, ३०७, ३०८, ३०९, ३१०, ३११, ३१२, ३१३, ३१४, ३१५, ३१६, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२१, ३२२, ३२३, ३२४, ३२५, ३२६, ३२७, ३२८, ३२९, ३३०, ३३१, ३३२, ३३३, ३३४, ३३५, ३३६, ३३७, ३३८, ३३९, ३४०, ३४१, ३४२, ३४३, ३४४, ३४५, ३४६, ३४७, ३४८, ३४९, ३५०, ३५१, ३५२, ३५३, ३५४, ३५५, ३५६, ३५७, ३५८, ३५९, ३६०, ३६१, ३६२, ३६३, ३६४, ३६५, ३६६, ३६७, ३६८, ३६९, ३७०, ३७१, ३७२, ३७३, ३७४, ३७५, ३७६, ३७७, ३७८, ३७९, ३८०, ३८१, ३८२, ३८३, ३८४, ३८५, ३८६, ३८७, ३८८, ३८९, ३९०, ३९१, ३९२, ३९३, ३९४, ३९५, ३९६, ३९७, ३९८, ३९९, ४००, ४०१, ४०२, ४०३, ४०४, ४०५, ४०६, ४०७, ४०८, ४०९, ४१०, ४११, ४१२, ४१३, ४१४, ४१५, ४१६, ४१७, ४१८, ४१९, ४२०, ४२१, ४२२, ४२३, ४२४, ४२५, ४२६, ४२७, ४२८, ४२९, ४३०, ४३१, ४३२, ४३३, ४३४, ४३५, ४३६, ४३७, ४३८, ४३९, ४४०, ४४१, ४४२, ४४३, ४४४, ४४५, ४४६, ४४७, ४४८, ४४९, ४५०, ४५१, ४५२, ४५३, ४५४, ४५५, ४५६, ४५७, ४५८, ४५९, ४६०, ४६१, ४६२, ४६३, ४६४, ४६५, ४६६, ४६७, ४६८, ४६९, ४७०, ४७१, ४७२, ४७३, ४७४, ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४७९, ४८०, ४८१, ४८२, ४८३, ४८४, ४८५, ४८६, ४८७, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९२, ४९३, ४९४, ४९५, ४९६, ४९७, ४९८, ४९९, ५००, ५०१, ५०२, ५०३, ५०४, ५०५, ५०६, ५०७, ५०८, ५०९, ५१०, ५११, ५१२, ५१३, ५१४, ५१५, ५१६, ५१७, ५१८, ५१९, ५२०, ५२१, ५२२, ५२३, ५२४, ५२५, ५२६, ५२७, ५२८, ५२९, ५३०, ५३१, ५३२, ५३३, ५३४, ५३५, ५३६, ५३७, ५३८, ५३९, ५४०, ५४१, ५४२, ५४३, ५४४, ५४५, ५४६, ५४७, ५४८, ५४९, ५५०, ५५१, ५५२, ५५३, ५५४, ५५५, ५५६, ५५७, ५५८, ५५९, ५६०, ५६१, ५६२, ५६३, ५६४, ५६५, ५६६, ५६७, ५६८, ५६९, ५७०, ५७१, ५७२, ५७३, ५७४, ५७५, ५७६, ५७७, ५७८, ५७९, ५८०, ५८१, ५८२, ५८३, ५८४, ५८५, ५८६, ५८७, ५८८, ५८९, ५९०, ५९१, ५९२, ५९३, ५९४, ५९५, ५९६, ५९७, ५९८, ५९९, ६००, ६०१, ६०२, ६०३, ६०४, ६०५, ६०६, ६०७, ६०८, ६०९, ६१०, ६११, ६१२, ६१३, ६१४, ६१५, ६१६, ६१७, ६१८, ६१९, ६२०, ६२१, ६२२, ६२३, ६२४, ६२५, ६२६, ६२७, ६२८, ६२९, ६३०, ६३१, ६३२, ६३३, ६३४, ६३५, ६३६, ६३७, ६३८, ६३९, ६४०, ६४१, ६४२, ६४३, ६४४, ६४५, ६४६, ६४७, ६४८, ६४९, ६५०, ६५१, ६५२, ६५३, ६५४, ६५५, ६५६, ६५७, ६५८, ६५९, ६६०, ६६१, ६६२, ६६३, ६६४, ६६५, ६६६, ६६७, ६६८, ६६९, ६७०, ६७१, ६७२, ६७३, ६७४, ६७५, ६७६, ६७७, ६७८, ६७९, ६८०, ६८१, ६८२, ६८३, ६८४, ६८५, ६८६, ६८७, ६८८, ६८९, ६९०, ६९१, ६९२, ६९३, ६९४, ६९५, ६९६, ६९७, ६९८, ६९९, ७००, ७०१, ७०२, ७०३, ७०४, ७०५, ७०६, ७०७, ७०८, ७०९, ७१०, ७११, ७१२, ७१३, ७१४, ७१५, ७१६, ७१७, ७१८, ७१९, ७२०, ७२१, ७२२, ७२३, ७२४, ७२५, ७२६, ७२७, ७२८, ७२९, ७३०, ७३१, ७३२, ७३३, ७३४, ७३५, ७३६, ७३७, ७३८, ७३९, ७४०, ७४१, ७४२, ७४३, ७४४, ७४५, ७४६, ७४७, ७४८, ७४९, ७५०, ७५१, ७५२, ७५३, ७५४, ७५५, ७५६, ७५७, ७५८, ७५९, ७६०, ७६१, ७६२, ७६३, ७६४, ७६५, ७६६, ७६७, ७६८, ७६९, ७७०, ७७१, ७७२, ७७३, ७७४, ७७५, ७७६, ७७७, ७७८, ७७९, ७८०, ७८१, ७८२, ७८३, ७८४, ७८५, ७८६, ७८७, ७८८, ७८९, ७९०, ७९१, ७९२, ७९३, ७९४, ७९५, ७९६, ७९७, ७९८, ७९९, ८००, ८०१, ८०२, ८०३, ८०४, ८०५, ८०६, ८०७, ८०८, ८०९, ८१०, ८११, ८१२, ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७, ८१८, ८१९, ८२०, ८२१, ८२२, ८२३, ८२४, ८२५, ८२६, ८२७, ८२८, ८२९, ८३०, ८३१, ८३२, ८३३, ८३४, ८३५, ८३६, ८३७, ८३८, ८३९, ८४०, ८४१, ८४२, ८४३, ८४४, ८४५, ८४६, ८४७, ८४८, ८४९, ८५०, ८५१, ८५२, ८५३, ८५४, ८५५, ८५६, ८५७, ८५८, ८५९, ८६०, ८६१, ८६२, ८६३, ८६४, ८६५, ८६६, ८६७, ८६८, ८६९, ८७०, ८७१, ८७२, ८७३, ८७४, ८७५, ८७६, ८७७, ८७८, ८७९, ८८०, ८८१, ८८२, ८८३, ८८४, ८८५, ८८६, ८८७, ८८८, ८८९, ८९०, ८९१, ८९२, ८९३, ८९४, ८९५, ८९६, ८९७, ८९८, ८९९, ९००, ९०१, ९०२, ९०३, ९०४, ९०५, ९०६, ९०७, ९०८, ९०९, ९१०, ९११, ९१२, ९१३, ९१४, ९१५, ९१६, ९१७, ९१८, ९१९, ९२०, ९२१, ९२२, ९२३, ९२४, ९२५, ९२६, ९२७, ९२८, ९२९, ९३०, ९३१, ९३२, ९३३, ९३४, ९३५, ९३६, ९३७, ९३८, ९३९, ९४०, ९४१, ९४२, ९४३, ९४४, ९४५, ९४६, ९४७, ९४८, ९४९, ९५०, ९५१, ९५२, ९५३, ९५४, ९५५, ९५६, ९५७, ९५८, ९५९, ९६०, ९६१, ९६२, ९६३, ९६४, ९६५, ९६६, ९६७, ९६८, ९६९, ९७०, ९७१, ९७२, ९७३, ९७४, ९७५, ९७६, ९७७, ९७८, ९७९, ९८०, ९८१, ९८२, ९८३, ९८४, ९८५, ९८६, ९८७, ९८८, ९८९, ९९०, ९९१, ९९२, ९९३, ९९४, ९९५, ९९६, ९९७, ९९८, ९९९, १०००, १००१, १००२, १००३, १००४, १००५, १००६, १००७, १००८, १००९, १०१०, १०११, १०१२, १०१३, १०१४, १०१५, १०१६, १०१७, १०१८, १०१९, १०२०, १०२१, १०२२, १०२३, १०२४, १०२५, १०२६, १०२७, १०२८, १०२९, १०३०, १०३१, १०३२, १०३३, १०३४, १०३५, १०३६, १०३७, १०३८, १०३९, १०४०, १०४१, १०४२, १०४३, १०४४, १०४५, १०४६, १०४७, १०४८, १०४९, १०५०, १०५१, १०५२, १०५३, १०५४, १०५५, १०५६, १०५७, १०५८, १०५९, १०६०, १०६१, १०६२, १०६३, १०६४, १०६५, १०६६, १०६७, १०६८, १०६९, १०७०, १०७१, १०७२, १०७३, १०७४, १०७५, १०७६, १०७७, १०७८, १०७९, १०८०, १०८१, १०८२, १०८३, १०८४, १०८५, १०८६, १०८७, १०८८, १०८९, १०९०, १०९१, १०९२, १०९३, १०९४, १०९५, १०९६, १०९७, १०९८, १०९९, ११००, ११०१, ११०२, ११०३, ११०४, ११०५, ११०६, ११०७, ११०८, ११०९, १११०, ११११, १११२, १११३, १११४, १११५, १११६, १११७, १११८, १११९, ११२०, ११२१, ११२२, ११२३, ११२४, ११२५, ११२६, ११२७, ११२८, ११२९, ११३०, ११३१, ११३२, ११३३, ११३४, ११३५, ११३६, ११३७, ११३८, ११३९, ११४०, ११४१, ११४२, ११४३, ११४४, ११४५, ११४६, ११४७, ११४८, ११४९, ११५०, ११५१, ११५२, ११५३, ११५४, ११५५, ११५६, ११५७, ११५८, ११५९, ११६०, ११६१, ११६२, ११६३, ११६४, ११६५, ११६६, ११६७, ११६८, ११६९, ११७०, ११७१, ११७२, ११७३, ११७४, ११७५, ११७६, ११७७, ११७८, ११७९, ११८०, ११८१, ११८२, ११८३, ११८४, ११८५, ११८६, ११८७, ११८८, ११८९, ११९०, ११९१, ११९२, ११९३, ११९४, ११९५, ११९६, ११९७, ११९८, ११९९, १२००, १२०१, १२०२, १२०३, १२०४, १२०५, १२०६, १२०७, १२०८, १२०९, १२१०, १२११, १२१२, १२१३, १२१४, १२१५, १२१६, १२१७, १२१८, १२१९, १२२०, १२२१, १२२२, १२२३, १२२४, १२२५, १२२६, १२२७, १२२८, १२२९, १२३०, १२३१, १२३२, १२३३, १२३४, १२३५, १२३६, १२३७, १२३८, १२३९, १२४०, १२४१, १२४२, १२४३, १२४४, १२४५, १२४६, १२४७, १२४८, १२४९, १२५०, १२५१, १२५२, १२५३, १२५४, १२५५, १२५६, १२५७, १२५८, १२५९, १२६०, १२६१, १२६२, १२६३, १२६४, १२६५, १२६६, १२६७, १२६८, १२६९, १२७०, १२७१, १२७२, १२७३, १२७४, १२७५, १२७६, १२७७, १२७८, १२७९, १२८०, १२८१, १२८२, १२८३, १२८४, १२८५, १२८६, १२८७, १२८८, १२८९, १२९०, १२९१, १२९२, १२९३, १२९४, १२९५, १२९६, १२९७, १२९८, १२९९, १३००, १३०१, १३०२, १३०३, १३०४, १३०५, १३०६, १३०७, १३०८, १३०९, १३१०, १३११, १३१२, १३१३, १३१४, १३१५, १३१६, १३१७, १३१८, १३१९, १३२०, १३२१, १३२२, १३२३, १३२४, १३२५, १३२६, १३२७, १३२८, १३२९, १३३०, १३३१, १३३२, १३३३, १३३४, १३३५, १३३६, १३३७, १३३८, १३३९, १३४०, १३४१, १३४२, १३४३, १३४४, १३४५, १३४६, १३४७, १३४८, १३४९, १३५०, १३५१, १३५२, १३५३, १३५४, १३५५, १३५६, १३५७, १३५८, १३५९, १३६०, १३६१, १३६२, १३६३, १३६४, १३६५, १३६६, १३६७, १३६८, १३६९, १३७०, १३७१, १३७२, १३७३, १३७४, १३७५, १३७६, १३७७, १३७८, १३७९, १३८०, १३८१, १३८२, १३८३, १३८४, १३८५, १३८६, १३

यद्यपि अभिनवगुप्त अपने *तन्त्रालोक* में क्रम शब्द का प्रयोग करते हैं, पर कतिपय विरल स्थलों को छोड़कर सामान्यः वह इसे सम्प्रदाय का वाचक मात्र नहीं मानते। सर्वप्रथम जयरथ इसको “क्रमः चतुष्टयार्थः”^{४७} कहकर परिभाषित करते हैं, पर यह जयरथ की मौलिक दृष्टि नहीं है। उनसे पहले उत्पल वैष्णव भी इसी रूप में क्रम को उपस्थित कर चुके हैं।^{४८} क्षेमराज भी सृष्टि, स्थिति, संहार के संविच्यक्रों के क्रम को ही इस क्रम शब्द का वाच्य बताते हैं।^{४९} वह *क्रमसूत्र* के शब्दों, क्रम-मुद्रा तथा मुद्रा-क्रम, की व्याख्या करते समय इस क्रम शब्द की व्याख्या क्रम-सम्प्रदाय के सन्दर्भ में ही करते हैं। यह क्रम इसलिये है, क्योंकि सृष्टि आदि क्रम को वह आभासित करता है। साथ ही वह क्रम इसलिए भी है, क्योंकि उन क्रमिक सृष्टि आदि आभासों का वह स्वरूप है।^{५०} इस प्रकार इस सम्प्रदाय में क्रम की यह धारणा केन्द्रीभूत है,^{५१} जिसका मुख्य लक्ष्य सत् के गतिशील चक्रात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करना है।^{५२} भेद केवल क्रम की चतुष्टयार्थ व पञ्चार्थ रूप अवधारणा को लेकर है। इन्हीं दो दृष्टियों को लेकर यहाँ दो भिन्न-भिन्न सिद्धान्त विकसित हुए हैं। इसी को संविक्रम एवं महाक्रम कहकर भी प्रस्तुत किया गया है।^{५३} क्रम को सामान्य कश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि के प्रभाव में पदार्थों का अवभासन-अनवभासन रूप काल-क्रम कहकर भी निरूपित किया गया है।^{५४} देखा जाए तो क्रम का यह प्रत्यय बौद्ध पदार्थ है। इस दृष्टि

४७. तं.वि., २, पृ. १५०।

४८. एष एव अतिरहस्यक्रमार्थविदाम् उद्योगावभासचर्वणविलापनरूपः क्रमचतुष्को क्रमोऽत्रैव युक्त्यैवोक्तः।

— स्पं.प्र. (इस्लामपुरकर), पृ. ४८

इस्लामपुरकर का संस्करण अब उपलब्ध नहीं है। संस्कृत विश्वविद्यालय के मुद्रित पाठ में (पृ. १२२) “क्रमो” के स्थान पर “अक्रमो” पाठ है। पर यह चिन्त्य है। *महानय-प्रकाश* (त्रि.) भी क्रम को ठीक ऐसे ही परिभाषित करता है —

सर्गावतारसंहाराः क्रमात्मानो व्यवस्थिताः। अनाख्यमक्रममपि क्रमात्तैव तदाश्रयात्॥

— म.प्र. (त्रि.) ६/१६

४९. अत्रायमर्थः सृष्टिस्थितिसंहतिसंविच्यक्रात्मकं क्रमम् . . .। — प्र.ह. (जय.), पृ. ६२

५०. क्रमः अपि सृष्ट्यादिक्रमाभासकत्वात् तत्क्रमाभासरूपत्वात् च क्रम इत्यभिधीयते। — तदेव, पृ. ६४

५१. सृष्ट्यादिचतुष्टयमेव क्रमार्थं प्रतिज्ञायते। इह नये चतुष्टयार्थपरिभाषा प्रतिज्ञाता इति महाक्रमश्चतूरूप एव। — म.प्र. (शि.), पृ. ४३

५२. भेदैश्चतुर्भिरकस्यां शक्तौ यत्क्रमणं क्रमात्। सृष्टिस्थितिलयानाख्यैः स क्रमः परिकीर्तितः।

— तत्रैव (अनाम आगम से उद्धृत), पृ. ४५

५३. . . . विश्वमयी संवित् भासते। . . . सा वक्ष्यमाणवर्त्मानुगुण्येन सर्वथा क्रमभाजनं भवति, स एव महाक्रम इति नयविद्विगीयते। — तदेव, पृ. ३६

५४. कालो भावानामवभासनानवभासात्मा क्रमः। — म.मं.प., पृ. ४८

से इसे विकल्प से एकाकार माना जा सकता है। पारमार्थिक दृष्टि से इसे शक्ति (काल-शक्ति) के प्रत्यय से समीकृत किया जा सकता है। फलतः इस अर्थ में क्रम को काल नामक प्रमातृ-कञ्चुक (सीमित प्रमातृत्व के उपोद्बलक शक्तिपञ्चक में से एक) से भी समीकृत करना बहुत उचित न होगा। पर इसी कारण यह “कालाख्यः क्रमः” क्रम के साम्प्रदायिक प्रतिविशिष्ट स्वरूप का वाचक नहीं है। इसके अतिरिक्त यहाँ अनुत्तर-क्रम,^{५५} अनुपाय-क्रम,^{५६} देवता-क्रम,^{५७} महार्थ-क्रम,^{५८} औत्तर-क्रम^{५९} आदि अभिधानों में भी इस क्रम शब्द का प्रयोग विशेष्य या उत्तर पद के रूप में मिलता है। इन प्रयोगों में सम्प्रदाय के एक पक्ष-विशेष या सिद्धान्त-विशेष पर बल दिया गया है। निदर्शनार्थ, औत्तर-क्रम संज्ञा इसके उत्तरपीठ से सम्बन्ध को लक्षित करती है। इसी सन्दर्भ में इसे उत्तराम्नाय^{६०} से भी जोड़ा जाता है।^{६१}

क्रम-सम्प्रदाय की एक अन्य सुप्रचलित एवं सार्थक संज्ञा महार्थ या महार्थनय है। महार्थ शब्द का प्रयोग सबसे पहले **क्षेमराज** करते हैं।^{६२} उत्तरकालीन विकास में इस संज्ञा का ही प्रयोग बहुतायत से मिलता है। यह शब्द एक ओर तो सम्प्रदाय का अभिधान करता है तथा दूसरी ओर उस लक्ष्य की ओर संकेत करता है, जो इस सम्प्रदाय का चरम प्राप्य

५५. श्रीमदनुत्तरक्रमप्रणयनप्रवीणस्य परमेश्वरस्य परमकारुण्यमात्रोपपादितेयमास्माकीना यामली सिद्धिः।

— तदेव, पृ. १६५

५६. युक्तिचर्यादिविशेषवासनाक्षोभवर्जितः।

अनुपायक्रमः सोऽयं यस्य रूढ(स्य? सः) योगिराट्॥ — म.प्र.(त्रि.) १/१३

५७. खण्डितैतरसमस्तगर्भगौ यस्त्रिपञ्चविसराश्रयो क्रमः।

देवताक्रम उदेत्यनारतं तस्य हि त्वमसि देवजन्मभूः॥ — वि.ग.व. ४/११३

५८. चतुष्टयार्थरूपो वा महाक्रमो महार्थो ज्ञेयः। — म.प्र.(त्रि.), पृ. ५६;

महार्थक्रमस्य सर्वस्रोतोऽतिशायी कोऽपि श्लाघ्यत्वोत्कर्षो ध्वन्यते। — म.मं.प., पृ. १७२

५९. आशंकोत्तरचर्चाभिरन्यैश्च गमकैः क्रमैः।

प्रकाशयद्विर्विश्वस्य प्रतिष्ठामौत्तरं क्रमम्॥ — तदेव, पृ. १८३

६०. आम्नाय-विभाजन विशेषतः कुल-सम्प्रदायगत वर्गीकरण है। पर कुल-दृष्टि से जिस आम्नाय के अन्तर्गत क्रम-धारा में विकसित कुल-मत को रखा गया है, उसे उत्तराम्नाय संज्ञा दी गई है। इसी कारण कुछ आचार्य इस क्रम-धारा को उत्तराम्नाय से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं।

६१. तथा पर्यन्तवर्तिनामाम्नायानां यः पर उत्कृष्ट उत्तराम्नायः ततोऽपि षट्त्रिंशदभिन्नाद्यः पर्यन्तः प्रान्तवर्ती नवचक्रसम्प्रदायः सोऽयं महार्थः . . .। — म.प्र.(शि.), पृ. १५

६२. ननु श्रीमन्महार्थदृष्ट्या। — स्य.नि., पृ. ६;

श्रीमन्महार्थदृष्ट्या दृगादिदेवीप्रसरणक्रमेण . . .। — प्र.ह.(जय.), पृ. ६४;

दिव्यमहार्थदृष्ट्याविष्टास्तेभ्यो नमो नमः . . .। — शि.स्तो.वृ., पृ. ३४६

है। यह उस महार्थ को भी सूचित करता है, जो सारे वाचकों का वाच्य है। महानयप्रकाशकार शितिकण्ठ अपने ग्रन्थ के पहले तथा तीसरे अध्याय (उदय) में महार्थ के अभिप्राय की ही विविध सम्भावनाओं का विवेचन करते हैं। उनके अनुसार महार्थ है चिदद्वयदशा का आवेश तथा अखण्ड चिद्रूपता का सर्वत्र अवस्थान।^{६३}

महानय व महासार संज्ञाएँ भी परवर्ती क्रम-ग्रन्थों में उपलब्ध होती हैं। महानयप्रकाश नाम से तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। कालिक आनुपूर्वी पर यदि ध्यान न दिया जाए तो इनमें से पहला शिवानन्द द्वितीय(?) तथा दूसरा शितिकण्ठ के द्वारा रचित मिलता है। तीसरा अर्णसिंह के द्वारा रचित है। इसके अतिरिक्त जयरथ^{६४} तथा अनन्तशक्तिपाद^{६५} भी इस संज्ञा का उल्लेख करते हैं। इसका अर्थ है महान् मार्ग, पक्ष या सम्प्रदाय। महासार संज्ञा का प्रयोग भी एक जगह क्षेमराज महार्थ के पर्याय रूप में करते हैं।^{६६} क्रम-सम्प्रदाय की एक अन्य संज्ञा अतिनय नाम से मिलती है। इसका प्रयोग जयरथ करते हैं।^{६७} शितिकण्ठ भी इस प्रयोग का अनुवदन करते हैं।^{६८} यह अतिनय अन्यत्र उपलब्ध अतिमार्ग शब्द से वाच्य सम्प्रदाय से भिन्न है। जयरथ एक अन्य संज्ञा देवीनय का भी क्रम-सम्प्रदाय के सन्दर्भ में उल्लेख करते हैं।^{६९} इसी को महानयप्रकाशकार देवतानय भी कहते हैं।^{७०} इस संज्ञा में उस अंतिम तत्त्व का संकेत है, जिससे सृष्टि आदि का यह सारा क्रम उद्भूत व जिसमें विश्रान्त होता है। इसी प्रकार इस नय को कालीनय की संज्ञा से भी अभिहित किया गया है,^{७१} जो सम्भवतः इस सम्प्रदाय के परम तत्त्व को ही केन्द्र में रखकर परिकल्पित संज्ञा है।

६३. अथ कोऽयं महार्थो नाम किं चक्रचक्रेश्वरीसंनिवेशविशेषस्मरणमात्रम् ? नैतत्, महान् चिदद्वयदशावेशो महार्थ इति ब्रूमः। - म.प्र.(शि.), पृ. ३६;

इति - सर्वप्रकारमास्थितस्य अद्वैतस्य सर्वास्ववस्थासु चिदद्वयाविप्रमोषो नाम महार्थशब्दव्यपदेश्योऽस्तु।
- तदेव, पृ. ३७

६४. प्रकृतमहानयशिष्याः प्रथितास्त्रयः सर्वशास्तु। - तं.वि., ३, पृ. ८११

६५. इत्थं महानयोक्तविशा। - वा.सू.वृ., पृ. ५

६६. श्रीमन्महासारोक्तिमयेऽमुत्र स्तोत्रे। - शि.स्तो.वृ., पृ. ३०२

६७. सन्ततयोऽतिनयस्य प्रथिता इह षोडशैवेत्यम्। - तं.वि., ३, पृ. ८११

६८. अस्मिंश्चातिनयसारसर्वस्वे क्रमार्ये। - म.प्र.(शि.), पृ. १२६

६९. . . . देवीनये कृताः शिष्याः। - तं.वि., ३, पृ. ८१२

७०. सा देवी कथ्यते तस्या नयोऽसौ देवतानयः। - म.प्र.(त्रि.) ३/१०६

७१. अभिनवगुप्तस्य गुरोर्यस्य हि कालीनये गुरुता। - तं.वि., ३, पृ. ८०६

प्रसंगतः अवसर है क्रम सम्प्रदाय के साहित्य व मुख्य आचार्यों के कृतित्व की चर्चा का। प्राप्त विवरणों में सबसे प्राचीन स्थिति पर आते हैं **वातूलनाथ** (६७५-७२५ ई.)। यद्यपि वह सिद्ध कहे गए हैं, पर यह निश्चित कहना कठिन है कि उनको सिद्धौघ में रखा जाए या मानवौघ में। वह क्रम के साहस-सम्प्रदाय के प्रथम प्रवक्ता हैं और पूज्य, पूजक व पूजन के भेद का परिहार कर इनमें अद्वैत दृष्टि का विकास करने पर ही विशेष बल देते हैं।^{७२} उसके बाद **गन्धमादन** (७००-५० ई.) की स्थिति आती है, जिनका नाम-कीर्तन मात्र एक उल्लेख^{७३} के द्वारा हुआ है। इसके अनुसार उन्होंने **निष्क्रियानन्द** पर विशेष अनुग्रह कर उन्हें अकृतक (अर्थात् दिव्य या प्रातिभ?) पुस्तक प्रदान की। उसी की शिक्षाओं के आधार पर **वातूलनाथसूत्र** नामक कृति अस्तित्व में आई। **निष्क्रियानन्द** (७२५-७५ ई.) **देवीपञ्चशतिक** में निरूपित आचार्य-क्रम में प्रथम हैं।^{७४} उनसे साहस-सम्प्रदाय के दो ग्रन्थ जोड़े जाते हैं - **छुम्मा-सम्प्रदाय** और **वातूलनाथसूत्राणि**। **शिवोपाध्याय** के द्वारा प्रस्तुत विवेचन के अनुसार **निष्क्रियानन्द** की मुख्य मान्यताएँ हैं^{७५} - वामेश्वरी को प्रथम तत्त्व मानना तथा वृन्द-चक्र में चौसठ कलाओं या घटकांशों के अस्तित्व को स्वीकार करना। उनके मत में पैसठवाँ तत्त्व समग्र सत्ता का वाचक है, जिसकी संज्ञा रौद्रेश्वरी है। उनके बाद **पञ्चशतिक** के विवरण के आधार पर **विद्यानन्दनाथ** (७५०-८०० ई.) तथा **शक्त्यानन्दनाथ** (७७५-८२५ ई.) का उनकी दूतियों के साथ उल्लेख मिलता है, इनके विषय में अन्य कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। **शिवानन्द** (८००-५० ई.) इनके बाद आते हैं, जो इस सम्प्रदाय के प्रथम अवतारक के रूप में सर्वमान्य हैं। उन्होंने उत्तरपीठ में क्रम का ज्ञान प्राप्त किया^{७६} तथा कामरूप में **जया** नामक देवियों से कुल की दीक्षा ली।^{७७} उनके किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता, केवल अनाख्या चक्र में पूज्य कालियों की संख्या के सन्दर्भ में ही उनके मत का उल्लेख उपलब्ध है।^{७८} परन्तु उन्होंने निश्चय ही कुछ कृतियों

७२. श्रीमद्वातूलनाथस्य हृदयाम्बोधिसंभवम्।

पूज्यपूजकपूजाभिः प्रोज्झितं यत्रमामि तत् ॥ - वा.सू.वृ., पृ. १

७३. श्रीमन्निष्क्रियानन्दनाथानुग्रहसमये श्रीगन्धमादनसिद्धपादैरकृतकपुस्तकप्रदर्शनेन या परपदे प्राप्तिरुपदिष्टा सैव वितत्य निरूप्यते। - तदेव, पृ. ४

७४. तं.वि., ७, पृ. ३३२१।

७५. वि.शै.वृ., पृ. ६७-६८।

७६. उत्तरपीठलब्धोपदेशात् श्रीशिवानन्दनाथात् - तं.वि. ३, पृ. ८०८

७७. जयाद्येन रूपेण उदिता . . . अयं च प्रथममेताभिरेव कामरूपे चरुकप्रदा(धा?)नेनानुगृहीतः इति गुरवः। - तदेव, पृ. ८१६-१७

७८. तदेव, पृ. ८१३।

का प्रणयन किया होगा, इसमें सन्देह नहीं है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों ने^{१८} *कालिकास्तोत्र* तथा *कालीकुलपञ्चशक्ति* का उनकी कृतियों के रूप में स्मरण किया है। *कालिकास्तोत्र* के कई श्लोक जयरथ ने ग्रन्थ के नामोल्लेख बिना उद्धृत किए हैं, जिनका सम्बन्ध अनाख्या-चक्र की कालियों से है।^{१९} *कालिकास्तोत्र* का सम्भवतः दूसरा नाम *हस्तनय* था, ऐसी जयरथ के विवरण से सम्भावना होती है।^{२०} यह उन शिवानन्द से भिन्न हैं, जिन्हें महेश्वरानन्द की साक्षात् गुरु-परम्परा में गिना गया है। यह हम ऊपर देख चुके हैं। महानयप्रकाशों में जिन अन्तर्नेत्रनाथ^{२१} व ज्ञाननेत्रनाथ^{२२} की चर्चा आती है, वे इन्हीं शिवानन्द के पर्याय हैं। इसी प्रकार क्षेमराज द्वारा उल्लिखित श्रीनाथ^{२३} भी सम्भवतः इन्हीं शिवानन्द के नामराशि हैं।

इस सम्प्रदाय के वर्तमान साहित्य का रचनात्मक विकास वसुगुप्त (८००-५० ई.) से प्रारम्भ होता है। यद्यपि वसुगुप्त मुख्यतः त्रिक और स्पन्द आचार्य के रूप में ही प्रतिष्ठित हैं, पर उनके ग्रन्थों के सूक्ष्म विश्लेषण से उनका क्रम-सम्प्रदाय के विकास में भी स्पष्ट योगदान सिद्ध होता है। निश्चय ही हमारे मन्तव्यों का आधार *शिवसूत्रों* पर क्षेमराज द्वारा रची गई *विमर्शिनी टीका* है।^{२४} क्षेमराज *शिवसूत्रों* को तीन उपायों के अनुसार तीन भागों में बाँटते हैं। द्वितीय भाग को शाक्तोपाय की चर्चा से सम्बद्ध कर इसकी व्याख्या में क्रम सिद्धान्तों को भी प्रस्तुत करते हैं, साथ ही यह भी निर्धारित करते हैं कि इन सूत्रों का

७६. इन दोनों कृतियों की ओर ध्यान दिलाने के लिए मैं फ्रेंच विद्वान् आन्द्रे पदु तथा मार्क डिच्चोप्सकि का कृतज्ञ हूँ। लिलियन सिलबर्न ने *कालिकास्तोत्र* को प्रकाशित कर दिया है और मार्क ने *कालीकुलपञ्चशक्ति* की नेपाल में उपलब्ध पाण्डुलिपि का पूरा विवरण बेजने का उपकार किया है। इनमें से द्वितीय में अनेक क्रम आचार्यों की कृतियों का संकलन है। इस संकलन की द्वितीय कृति ज्ञाननेत्रपाद-कृत *स्तोत्र* है, जिसके श्लोक *कालिकास्तोत्र* के पद्यों से मिलते हैं। इस प्रकार सम्भवतः दोनों कृतियाँ अभिन्न लगती हैं।

८०. *द्र., तं.वि., ३, पृ. ८१३, ८१४, ८१५, ८१६, ८१७।*

८१. “सदसद्विभेदसूत्रे ... जयसि जयाद्येन रूपेण” इत्यादिना श्रीहस्तनयभ्युदितेन जयाद्येनापि रूपेण त्वमेव परिस्फुरिता इत्युक्तम्। - तदेव, पृ. ८१५-१६

चूँकि उपर्युक्त वाक्य की अन्यथा व्याख्या भी की जा सकती है, अतः अन्तिम रूप से निष्कर्ष निकालना कठिन होगा।

८२. अत्रान्तर्नेत्रनाथस्य प्रकटानुभवोऽभवत्(न?)॥ - *म.प्र.(त्रि.)*, २/३६ख

८३. श्रीमन्मकारदेव्याः पीठवरे प्राप्तादेशेन श्रीज्ञाननेत्रनाथेन . . .। - *म.प्र.(शि.)* पृ. ४६

८४. यदुक्तं श्रीश्रीनाथपदैः “श्रयेत्स्वातन्त्र्यशक्तिं स्वां सा श्रीकाली परा कला”। - *शि.सू.वि.*, पृ. ६२

८५. क्षेमराज का क्रम के प्रति झुकाव विदित है, अतः इन निर्णयों में पक्षपात की गन्ध सम्भव है। परन्तु परम्परा-निष्ठता इस प्रकार के पक्षपातों को नितान्त निराधार नहीं रहने देती।

तत्तु विशिष्ट सन्दर्भों में क्या मन्तव्य है। शिवानन्द की तीन शिष्याओं - केयूरवती, मदनिका व कल्याणिका (८२५-७५ ई.), का बस इतना ही उल्लेख मिलता है कि उन्होंने क्रम-सम्प्रदाय का ज्ञान गोविन्दराज, भानुक और एरक को संक्रान्त किया।^{८६} केयूरवती का ककारदेवी के नाम से भी उल्लेख आता है। इस बात को लेकर मतभेद था कि उनके कितने शिष्य थे। जो भी हो यह निश्चित है कि उनके कुछ अन्य शिष्य भी थे, जिनका नाम और पूर्वापर-क्रम आज अज्ञात है।^{८७} इसके बाद आते हैं कल्लट (८२५-७५ ई.), जो स्पन्दशास्त्र के प्रवर्तक होकर भी क्रम सिद्धान्तों को भी अपने ग्रन्थ में आसूत्रित करते हैं। पहले की तरह हमारे इस मन्तव्य का आधार भी क्षेमराज व भट्ट उत्पल के द्वारा प्रस्तुत विवेचन ही हैं। गोविन्दराज, भानुक व एरक (८५०-६०० ई.) का आज कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, केवल एरक के द्वारा रचित दो स्तोत्रों को जयरथ अपने विवेक में उद्धृत करते हैं।^{८८} पीछे आए हुए विवरण को हम यहाँ अवश्य दुहरा सकते हैं कि गोविन्दराज व भानुक से क्रम-सम्प्रदाय में दो धाराएँ निर्गत हुईं। गोविन्दराज ने सोमानन्द को क्रम की शिक्षा दी और भानुक ने उज्जट व उद्भट्ट जैसे आचार्यों की परम्परा की नींव रखी। यद्यपि जयरथ भी भानुक के आयातिक्रम में आते हैं, परन्तु गोविन्दराज की परम्परा की मान्यताओं से वह पूरी तरह अभिन्न थे।^{८९}

कल्लट के शिष्य प्रद्युम्न भट्ट (८५०-६०० ई.) कृत तत्त्वार्थस्तोत्र को भी क्रम-परक रचना माना जाता है। इसका उल्लेख सोमानन्द से क्षेमराज तक सभी आचार्य अपने ग्रन्थों में करते हैं। सोमानन्द शिवदृष्टि में प्रद्युम्नभट्ट को शक्तिवादी आचार्य के रूप में याद करते हैं और इसी कारण उनको शैव मानने में संकोच होता है।^{९०} तन्त्रालोकविवेक के एक विवरण के आधार पर सोमानन्द गोविन्दराज के सीधे शिष्य थे। गोविन्दराज ने उन्हें क्रम-सिद्धान्तों में प्रवेश कराया।^{९१} अभिनवगुप्त ने देवीपञ्चशतिका का ज्ञान इन सोमानन्द (८७५-६०० ई.) से ही परम्परया उत्पल व लक्ष्मणगुप्त के माध्यम से प्राप्त किया था।^{९२} इस प्रकार

८६. तं.वि., ३, पृ. ८०८।

८७. तदेव, पृ. ८११-१२।

८८. श्रीमान् एरकस्तु . . . निजभावगतरहस्योपदेशं स्तोत्रमुखेनापि तावत् प्रसारयन्। - तं.वि., ३, पृ. ८०६; और भी द्र., पृ. ८१२

८९. यदधिकारेण श्रीगोविन्दराजादीनामुपदेशः प्रवृत्तो योऽस्मत्पर्यन्तमपि प्राप्तः। - तदेव, पृ. ८१४

९०. शि.दृ. ३/६; द्र., शि.दृ.वृ., पृ. ६४, ६८-१०२

९१. स चेदं रहस्यं श्रीसोमानन्दाभिधानाय गुरवे सञ्चारयाम्बभूव। - तं.वि., ३, पृ. ८०८

९२. श्रीदेवीपञ्चदशिकेऽपि अस्य श्रीसोमानन्दभट्टपादेभ्यः प्रभृति त्रिकदर्शनवदेव गुरवः।
- तदेव, पृ. ८१०

स्पष्ट अभ्युपगम के न होने पर भी **सोमानन्द** का सम्बन्ध क्रम-परम्परा से जुड़ जाता है। इसी तरह **भानुक** की परम्परा में आए **उज्जट** (८७५-९२५ ई.) की भी गणना क्रमधारा के आचार्यों में मिलती है^{६३}। इनके विषय में और कोई विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। **उत्पल** (९००-५० ई.) का प्रत्यभिज्ञा-सम्प्रदाय से सीधा सम्बन्ध होने पर भी **जयरथ** द्वारा **अभिनवगुप्त** के क्रम-गुरुओं में उनका उल्लेख उन्हें इस क्रम-धारा के आचार्यों में सम्मिलित कर देता है।

उद्भट (९००-५० ई.) या **उद्भट्ट भानुक** की शिष्य परम्परा में आते हैं। सन्तति-क्रम में यह **उज्जट** के अनुवर्ती थे। यद्यपि क्रम-सम्प्रदाय के विकास में उनके योगदान का प्रामाणिक लेखा-जोखा हमारे पास नहीं है, तथापि क्रम-धारा को **जयरथ** तक सुरक्षित बनाए रखने में बीच की कड़ी के रूप में उनका आवश्यक योगदान मालूम होता है। स्तोत्रकार **सिद्धनाथ** (९००-५० ई.) का **क्रमस्तोत्र** वह पहली रचना है, जो शब्दतः क्रम से सम्बद्ध है और **तन्त्रालोकविवेक** में लगभग पूर्ण रूप में उपलब्ध भी है। ऐसा लगता है कि इसमें कुछ श्लोक और भी थे, जो आज अनुपलब्ध हैं। **जयरथ** के द्वारा प्रस्तुत विवरण^{६४} से ऐसा प्रतीत होता है कि उसके सामने इस **क्रमस्तोत्र** की दो तरह की व्याख्याएँ उपलब्ध थीं। एक के अनुसार कालियों की संख्या बारह थी तथा दूसरी के अनुसार यह संख्या तेरह थी^{६५}। क्रम में अब **भास्कर** (९२५-७५ ई.) आते हैं, जो स्पन्द शाखा के ही आचार्य हैं, परन्तु **सिद्धनाथ** के प्रत्यक्ष शिष्य होने के नाते क्रम-परम्परा को आगे बढ़ाने में उनका योगदान मानना चाहिए। **लक्ष्मणगुप्त** (९२५-७५ ई.) त्रिक के साथ-साथ क्रम-परम्परा में भी **अभिनवगुप्त** के गुरु हैं। उनके कृतित्व का यद्यपि कहीं स्फुट उल्लेख नहीं मिलता, पर प्राप्त विवरणों से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने कुछ क्रम-परक ग्रन्थों की रचना अवश्य की थी, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। **श्रीशास्त्र** के नाम से उनकी एक रचना का उल्लेख मिलता है, जो प्राप्त सामग्री के आधार पर **लक्ष्मणदेशिकेन्द्र** विरचित **शारदातिलक** तन्त्र से एकरूप जान पड़ती है, अतः **लक्ष्मणगुप्त** व **लक्ष्मणदेशिकेन्द्र** एक-दूसरे से अभिन्न प्रतीत होते हैं^{६६}।

६३. द्वितीयोऽपि एवमास्त। तस्यैव चैषा श्रीमदुज्जटोद्भट्टादिनानागुरुपरिपाटीसंततिः यत्प्रसादा-सादितमहिमभिरस्माभिरेतत् प्रदर्शितम्। - तदेव, ३, पृ. ८०८-०९

६४. इत्यत्र विवरणकारान्तरसंमत एव पाठ इति। - तं.वि., ३, पृ. ८१८

६५. ननु एवं गुरुक्रमेऽप्यस्य कथंकारमिदं संगच्छताम्, यदत्र द्वादशैव एता देव्य इति, यतः श्रीमदवतारकनाथस्यापि अत्र त्रयोदशैव विवक्षिताः . . . । - तदेव, पृ. ८१३ और आगे

६६. आचार्य **ब्रजवल्लभ द्विवेदी** एवं कुछ अन्य विद्वानों को यह मन्तव्य चिन्त्य लगता है। उनके मत की परीक्षा का यह अवसर नहीं है।

भट्ट उत्पल (६२५-७५ ई.) (उत्पल वैष्णव के नाम से अधिक ख्यात) कृत *स्पन्दप्रदीपिका* में क्रम सिद्धान्तों की स्फुट झलक उन्हें भी इस सम्प्रदाय की घरिधि में ला देती है। उनके द्वारा कृत क्रम की परिभाषा की चर्चा ऊपर आ चुकी है। अभिनवगुप्त के गुरु भूतिराज (प्रथम) (६००-५० ई.) का क्रम-सम्प्रदाय में विशेष महत्त्व है। दुःख की बात यह है कि आज उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ध्यान देने की बात है कि इन्होंने अभिनवगुप्त को क्रम की शिक्षा नहीं दी, वरन् ब्रह्मविद्या और शम्भुशास्त्र का ही अध्यापन कराया था।^{६७} परन्तु क्रम में भूतिराज का योगदान तो स्वयं अपना था। काली शब्द की व्युत्पत्ति^{६८} तथा मन्त्र की देवीरूपता^{६९} के सन्दर्भ में इनके मतों का उल्लेख मिलता है, जो इस सम्भावना को बल देता है कि उनकी कुछ क्रम-सम्बन्धी रचनाएँ अवश्य थीं या उनके विचार विद्वानों में सादर चर्चा के विषय थे। भट्ट दामोदर (६५०-१००० ई.) का उल्लेख क्षेमराज केवल एक बार पञ्चवाह के प्रसंग में करते हैं।^{१००} इसके अतिरिक्त न उनका कोई उल्लेख मिलता है और न कोई ग्रन्थ। उसी उल्लेख के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने क्रम से सम्बद्ध किसी ग्रन्थ या स्वतन्त्र श्लोकों की रचना की होगी।

अभिनवगुप्त (६५०-१०२० ई.) की न केवल क्रम अपितु पूरे कश्मीर शिवाद्वयवाद के विकास में असाधारण भूमिका रही है। उन्होंने क्रम-सम्प्रदाय को चार तरह से उपकृत किया। प्रथम, उन्होंने परम्परा को सुरक्षित बनाए रखा; दूसरे, अपने से पूर्व के प्रायः सभी आचार्यों और उनके ग्रन्थों के आकर ग्रन्थ के रूप में अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया; तीसरे, कुछ महत्त्वपूर्ण क्रम-ग्रन्थों की व्याख्या की; और चौथे, वह एक ऐसे मौलिक चिन्तक के रूप में उभरकर आए, जिन्होंने इस सम्प्रदाय को एक संग्रहमयी किन्तु विश्लेषणात्मक दृष्टि प्रदान की। आज उनके बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं, जिससे वस्तुस्थिति को ज्यों-की-त्यों प्रस्तुत कर पाना मुश्किल है। उन्होंने *सिद्धनाथ* के *क्रमस्तोत्र* पर *क्रमकौलि* नामक टीका लिखी। इस टीका के जयरथ और महेश्वरानन्द द्वारा गिनती के उद्धरण क्रम के अभिनव-पूर्व लौकिक इतिहास में झाँकने के लिए एकमात्र गवाक्ष का काम करते हैं। साथ ही *तन्त्रालोक*, *क्रमस्तोत्र*, *प्रकरणस्तोत्र* व *तन्त्रसार* क्रम-सम्प्रदाय पर उनके मौलिक योगदान हैं। उन्हीं के अपने विवरणों के अनुसार जब उनकी रुचि साहित्य से शिवाद्वयवाद

६७. तं. ३०/६२-६३; ई.प्र.वि.वि., ३, पृ. ४०५।

६८. यदाहुः श्रीभूतिराजगुरुवः “क्षेपाज्जानाच्च काली कलनवशतयाथ. . .” इति। - तं.सा., पृ. ३०

६९. श्रीक्रमकौली च. . .। भट्टश्रीभूतिराजेनाप्युक्तं - “सर्वक्रोडीकारेण स्थितत्वाद् देव्येव मन्त्रः।”
- म.मं.प., पृ. १२२

१००. तथा च उक्तं सहजचमत्कारपरिजनिताकृतकादरेण भट्टदामोदरेण विमुक्तकेषु।

- प्र.ह.(जय.), पृ. ७०

की ओर मुड़ी तो उसकी सभी शाखाओं में उनकी प्रथम रुचि क्रम पर जाकर टिकी। क्रम में ही उनके पीड़ाकुल और अव्यवस्थित चित्त को शान्ति एवं सन्तोष की प्राप्ति हुई, जैसाकि उनके *क्रमस्तोत्र* के पहले श्लोक से स्पष्ट है। उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त *मालिनीविजयवार्तिक*, *पर्यन्तपञ्चाशिका* और *परात्रिंशिकाविवरण* में भी वे अनेक स्थलों पर क्रम सिद्धान्तों का उल्लेख तथा निरूपण करते हैं। उनकी क्रम-सम्बन्धी एकमात्र उपलब्ध कृति (नामतः क्रमाश्रित) *क्रमस्तोत्र* का मुख्य कथ्य चार चरणों में पल्लवित होता है -

१. क्रम की जगदाभासन-प्रक्रिया की पृष्ठभूमि
२. बारह कालियों के द्वारा जगत् की उत्पत्ति तथा लय की क्रमानुसारिणी दृष्टि
३. परम तत्त्व में क्रम का लय
४. ईश्वर का जीवों पर अनुग्रह

यहाँ कालियों के क्रम की चर्चा पूजन-क्रम के अनुसार न होकर संवित्-क्रम के अनुसार की गई है। कालीपरक होने पर भी यहाँ शिव को ही परम तत्त्व के रूप में स्वीकृत किया गया है।^{१०१} *प्रकरणस्तोत्र* जिसका ज्ञान आज केवल *तन्त्रसार* में एक उल्लेख^{१०२} के आधार पर होता है, सम्भवतः काली शब्द की व्युत्पत्ति को आधार बनाकर लिखा गया था। इस पर उनकी *विवरण* नामक टीका भी थी। *तन्त्रालोक* में आहिक ४, १३, ३१ और ३२ का विशेष सम्बन्ध क्रम-सम्प्रदाय से है। इनके अतिरिक्त १, ३, ६, १५ और ३०वें आहिकों में भी क्रम के विषय में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। *तन्त्रसार*, जो *तन्त्रालोक* का संक्षिप्त रूप है, के भी ४, ६ और ११वें आहिक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। *क्रमकेलि* तो इस सन्दर्भ में उनकी महत्त्वपूर्ण रचना थी, पर आज यह केवल स्वयं अभिनवगुप्त,^{१०३} क्षेमराज,^{१०४}

१०१. अनर्गलस्वात्ममये महेशे तिष्ठन्ति यस्मिन् विभुशक्तयस्ताः।

तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देवं मन्थानसंज्ञं जगदेकसारम्॥ - *क्र.स्तो.*, श्लो. २८

१०२. यदाहुः श्रीभूतिराजगुरवः “क्षेपाज्ञानाच्च काली कलनवशतयाथ” इति। एष च अर्थः तत्र तत्र मद्भिरचिते विवरणे प्रकरणस्तोत्रादौ वितत्य वीक्ष्यः। - *त.सा.*, पृ. ३०-३१

विवरण से अभिनव का अभिप्राय किस ग्रन्थ से है, यह अस्पष्ट है। यह संशय भी हो सकता है कि यह *विवरण* उन्होंने भूतिराज की किसी कृति पर लिखा हो। “च” का अभाव और सामानाधिकरण्य में प्रयोग के कारण “*प्रकरणस्तोत्र* आदि पर लिखा गया *विवरण*” यह अर्थ सम्भावनानुमान से लगाना अनुचित न होगा।

१०३. व्याख्यातं चैतन्यया तद्दीकायामेव क्रमकेलौ विस्तरतः। - *प.त्रि.वि.*, पृ. ३७६

१०४. यथोक्तमस्मद्गुरुभिः क्रमकेलौ . . .। - *शि.स्तो.वृ.*, पृ. १५६

जयरथ^{१०५} व महेश्वरानन्द^{१०६} के द्वारा प्रदत्त उद्धरणों के रूप में ही अवशिष्ट है। इन आचार्यों के विवेचनों से ऐसा प्रतीत होता है कि कालियों की संख्या के सन्दर्भ में दो तरह की दृष्टियों के मतभेद के बीज इस रचना में थे। जयरथ जहाँ इसको बारह कालियों के सिद्धान्त का ही प्रतिपादक मानते हैं, वहीं महेश्वरानन्द तेरह कालियों के सिद्धान्त का। इसके अतिरिक्त उनके देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र को भी कुछ विद्वान् क्रम-ग्रन्थ मानते हैं, पर इसमें विशेषतः क्रमसिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर काश्मीर शिवाद्वयवाद की सामान्य प्रवृत्ति को ही दर्शाया गया है, अतः इसे क्रम का ग्रन्थ कहने में पुनर्विचार की आवश्यकता होगी।

क्षेमराज (६७५-१०२५ ई.) योग्य गुरु के योग्य शिष्य हैं। वह अभिनवोत्तर काल के क्रम के प्रमुख प्रवक्ता हैं। उन्हें इस सम्प्रदाय की गहरी जानकारी थी। अपने नेत्रतन्त्र-उद्योत में वे क्रम को एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं।^{१०७} उनके प्रायः सभी ग्रन्थ - स्वच्छन्दतन्त्र-उद्योत, प्रत्यभिज्ञाहृदय, शिवस्तोत्रावली-विवृति, शिवसूत्र-विमर्शिनी, स्पन्द-सन्दोह, स्पन्द-निर्णय आदि, इस सम्प्रदाय की पूरी छाप लिए हुए हैं। केवल दो रचनाओं स्तवचिन्तामणि-वृत्ति और साम्बपञ्चाशिका-वृत्ति में ही इन क्रम-तत्त्वों पर आग्रह नहीं दिखाई पड़ता। उनका इस सम्प्रदाय से इतना लगाव था कि वे पूरे स्पन्द-दर्शन की व्याख्या क्रम के सन्दर्भ में ही करते हैं।^{१०८} इसके अतिरिक्त उन्होंने किसी पूर्वकालिक आचार्य के क्रमसूत्रों के सूत्रों पर भी टीका लिखी, ऐसा विवरणों से ज्ञात होता है। वरदराज (१०००-५० ई.) ने वैसे तो क्रम पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, पर उनका ग्रन्थ शिवसूत्रवार्तिक क्रम सिद्धान्तों की ऐतिहासिक यात्रा को प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराता है। वह यहाँ क्षेमराज की दृष्टि को प्रस्तुत करने के साथ-साथ कहीं-कहीं अपनी मौलिक दृष्टि को भी व्यक्त कर जाते हैं। इसके बाद काल-क्रम में देवभट्ट या देवपाणि (१०२५-७५ ई.) की स्थिति आती है, जिनका उल्लेख महेश्वरानन्द अपने गुरु के रूप में करते हैं और उनके एक मत की ओर संकेतन भी करते हैं कि उनकी

१०५. तं.वि., ३, पृ. ७६७।

१०६. म.सं.प., पृ. १००-१०२, १२२, १५०, १७१, १७२, १८३, १८५।

१०७. अतश्च अयं प्रणवादिसाधारणमन्त्रान्तराणां क्रमकुलमतषडर्थादिविशेषमन्त्राणामपि च वाचकत्वात्।

- ने.तं.उ., २, पृ. ११

१०८. एवम् प्रथमचरमसूत्राभ्यां महार्थतत्त्वम् इति स्पन्दतत्त्वेनैव विश्वोपदेशः स्वीकृताः।

- स्प.नि., पृ. ४६

एवं चोपक्रमोपसंहारयोर्महार्थसंपुटीकारं दर्शयन् तत्सारतया समस्तशांकोरपनिषन्मूर्धन्यतामस्याविष्करोति शास्त्रस्य। - तदेव, पृ. ७४

दृष्टि में वही क्रम पूजनीय है, जो सृष्टि-चक्र से प्रारम्भ होकर भासा-चक्र पर समाप्त होता है, अन्य नहीं।^{१०६}

क्रम-दर्शन की एक समानान्तर ऐतिहासिक महत्व की परम्परा, जो सीधे केयूरवती से जुड़ती है और **हस्वनाथ** — जो सम्भवतः **वामन(नाथ)** के नाम से भी प्रसिद्ध थे — के माध्यम से परवान चढ़ती है, का योगदान भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। **जयरथ**^{१०७} ने यद्यपि इस सन्तति-क्रम को लेकर प्रभूत संकेत दिए हैं, पर चूंकि इस धारा का साहित्य अभी प्रकाश में नहीं आया है, अतः इसका मूल्यांकन उस रूप में नहीं हो सका है। **हस्वनाथ** का समय दसवीं शती के पूर्वार्ध (६००-६५० ई.) के आस-पास है।^{१०८} इनसे क्रम-धारा के विकास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होता है। उस परम्परा का प्रारम्भ होता है, जिसमें *चिद्गगनचन्द्रिका* और *महानयप्रकाश (शि.)* जैसे ग्रंथों की रचना हुई। उनके कृतित्व के विषय में आज कुछ विशेष ज्ञात नहीं है, पर उपलब्ध विवरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने *क्रमस्तोत्र* पर एक टीका लिखी थी जो कि **जयरथ** के पास थी। सम्भवतः उनके पास *क्रमस्तोत्र* की जो प्रतिलिपि थी, उसका पाठ अन्य आचार्यों के द्वारा विवृत मूल स्तोत्र के पाठ से थोड़ा भिन्न था, क्योंकि उपलब्ध उल्लेखों में उनके *क्रमस्तोत्र* में रुद्रकाली से सम्बद्ध एक अतिरिक्त श्लोक^{१०९} प्राप्त होता है।

हस्वनाथ के शिष्य **चक्रभानु** (६२५-७५ ई.) क्रम-धारा के महत्वपूर्ण आचार्य हैं। जैसाकि उल्लेख किया जा चुका है, उनसे क्रम के दो सन्तति-क्रम प्रवर्तित होते हैं। एक परम्परा में **चक्रभानु** के बाद **प्रबोधनाथ** (६५०-१००० ई.) की गणना होती है। इनके नाम से *अष्टिकास्तोत्र* नामक कृति की हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। इनका दूसरा नाम

१०६. तत्रोद्दिष्टभंग्या सृष्ट्यादिभासान्तं चक्रं श्रीदेवपाणिसम्प्रदायानुप्रविष्टैरस्माभिरनुसन्धीयते, न पुनरेतद्विपर्ययेण।

— म.म.प., पृ. १०४

११०. द्र. तं.वि., ३, पृ. ८११-१३।

१११. हमने अपनी *क्रम-तान्त्रिसिद्ध्य* नामक पुस्तक में **हस्वनाथ** का सम्भावित समय १०२५-७५ ई. (द्र. पृ. १७६) और उनके शिष्य **चक्रभानु** का १०५०-११०० ई. (पृ. १८३) निश्चित किया था। परन्तु नई सामग्री, विशेषतः नेपाल से प्राप्त हस्तलेख और अन्तःसाक्ष्यों, के पुनर्विश्लेषण से **चक्रभानु** का स्थितिकाल राजा **यशस्कर** (६३६-४८ ई.) के समकालीन (६२५-७५ ई.) रखना उचित जान पड़ता है। *राजतरंगिणी* (६/१०८) से इसे अतिरिक्त बल भी मिलता है। **हस्वनाथ चक्रभानु** के साक्षात् गुरु हैं। इस कारण उनका समय भी थोड़ा पीछे खिसकाकर ६००-६५० ई. रखना होगा। कम-से-कम आज के ज्ञान की स्थिति में यह ठीक जान पड़ता है। इस प्रकार वे *क्रमस्तोत्र* के रचयिता **सिद्धनाथ** के समकालीन जान पड़ते हैं।

११२. तं.वि., ३, पृ. ८१८।

तपोधन था। रम्यदेव एक तपस्वी प्रबोधनाथ को उद्धृत भी करते हैं।^{११३} इसके बाद जैयूक और पंकक (६७५-१०२५/१०००-५० ई.) के रूप में दो पीढ़ियों को लाँघते हुए हमारी भेंट नाग नामक आचार्य से होती है। नागार्जुन या शैवाचार्य नागार्जुन के नाम से दो स्तोत्र परमार्चनत्रिशिका तथा चित्तसन्तोषत्रिशिका^{११४} प्रकाश में आए हैं। निश्चित रूप से उनका स्वर क्रम-दर्शन का है। इनमें से अर्चनात्रिशिका के नाम से महेश्वरानन्द एक श्लोक उद्धृत करते हैं,^{११५} जो मुद्रित परमार्चनत्रिशिका का दूसरा श्लोक है। इससे लगता है परमार्चनत्रिशिका तथा अर्चनात्रिशिका एक ही कृति के दो नाम हैं। इससे नाग की स्थिति महेश्वरानन्द के पूर्व सिद्ध होती है। अतः सम्भावना की जा सकती है कि ये दोनों नाग एक ही हों और मोटे तौर पर उनका स्थिति-काल १०२५-७५ ई. के आस-पास हो। इनके शिष्य हैं अर्णसिंह, जिनका ग्रन्थ है कालिकाक्रमपरामर्श या महानयप्रकाश (तृतीय), जिसकी नेवारी लिपि में मातृका उपलब्ध हो गई है। इसकी चर्चा पहले आ चुकी है।

जहाँ तक चक्रभानु का सम्बन्ध है, इनके साथ मानवौघ की परम्परा समाप्त हो जाती है और शिष्यौघ की परम्परा प्रारम्भ होती है। ये चक्रभानु शिष्यौघ में अग्रणी हैं^{११६} तथा केयूरवती की मूल धारा से जुड़े हैं। इनके मुख्य आठ शिष्यों में से एक राज्ञी ईशाना से दूसरी शिष्य-धारा या सन्तति-धारा प्रवाहित होती है, जो शितिकण्ठ के समय तक चलती रही है। शितिकण्ठ क्रम आचार्य के रूप में उनका अत्यन्त आदरपूर्वक स्मरण करते हैं। ईशाना का दूसरा नाम कोविदा था। अर्णसिंह के विवरण के अनुसार नन्दक, सज्जन और सोमेश्वर इस पौर्वापर्य से उस दूसरी परम्परा में आते हैं। चक्रपाणि (१०५०-११००/१०७५-११२५ ई.) की रचना भावोपहार एक क्रम-स्तोत्र ही है। रम्यदेव-कृत इसकी व्याख्या से यह धारणा और पुष्ट हो जाती है। इससे एक दूसरी सम्भावना को भी बल मिलता है। चक्रभानु के इतने प्रशस्त नामकीर्तन के बावजूद उनकी किसी कृति से हमारा परिचय नहीं है। भावोपहार के अन्तिम श्लोकों के पारायण से लगता है कि चक्रपाणि

११३. तदुक्तं तपस्विप्रबोधनाथेन . . . इति। - भावोपहारटीका, पृ. १०

११४. शारदापीठ रिसर्च सीरीज, भाग १, सं. ३ (फरवरी-जुलाई १९६०) में आर.के. कॉव द्वारा पृ. २७-३५ पर प्रकाशित; और भी द्र., शैवाचार्यो नागार्जुनः तस्य स्तोत्रयुगलं च, बलजिनाथ पण्डित, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १९८७।

११५. म.मं.प., पृ. १०८।

११६. ततश्च मानवौघस्यान्ते शिष्यौघाग्रणीर्भानुपादः। - म.प्र.(शि.), पृ. १०७

इसका अनुमोदन अर्णसिंह के महानयप्रकाश/कालिकाक्रमपरामर्श(?) की मातृका में प्राप्त विवरण से भी होता है।

सम्भवतः **चक्रभानु** का दूसरा विरुद था। ऐसी स्थिति में **चक्रपाणि** का काल पीछे खिसकाना होगा (६२५-७५ ई.) और हम यह कहने की स्थिति में होंगे कि **चक्रभानु** की एक रचना मुद्रित रूप में उपलब्ध है।^{११९} *पीठद्वादशिका* नामक कृति की मातृका भी नेपाल में मिली है, जिसे **चक्रभानु** द्वारा अवतारित कहा गया है। **ह्रस्वनाथ** के शिष्य **भोजराज** (१०५०-११०० ई.) के नाम से **जयरथ** एक रचना *क्रमकमल* का उल्लेख करते हैं। **ह्रस्वनाथ** के ही शिष्य थे **सोमराज**, जिनके दो श्लोकों को **जयरथ** *तन्त्रालोकविवेक*^{१२०} में उद्धृत करते हैं। सम्भवतः यह **सोमराज** **अर्णसिंह** के द्वारा उल्लिखित **सोमेश्वर** से एक हैं। वह अवतारक आचार्य **शिवानन्द** की परम्परा में अन्तिम आचार्य थे, जिनके पुत्र ने *चिद्गगनचन्द्रिका* के लेखक **श्रीवत्स** को इस सम्प्रदाय के रहस्यों का ज्ञान प्रदान किया।^{१२१} यह **सिद्धनाथ** के *क्रमस्तोत्र* की स्तोत्राकार टीका है और तान्त्रिक सम्प्रदाय में इस ग्रन्थ का अत्यन्त महत्त्व है। **जयरथ** अपनी *विवेक* टीका में अपने परमेष्ठी गुरु का एक क्रम-परक श्लोक उद्धृत करते हैं।^{१२०} उन्हीं के द्वारा प्रस्तुत विवरण के आधार पर यह परमेष्ठी गुरु **विश्वदत्त** हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त उनके किसी कृतित्व का विवरण नहीं मिलता। **रम्यदेव** (११००-५० ई.) का क्रम-सम्प्रदाय में साधनापरक विवेचनों की प्रस्तुति में विशेष महत्त्व है। यद्यपि *भावोपहार* पर उनकी *विवरण* टीका ही इस सन्दर्भ में विशेष द्रष्टव्य है, पर वे स्वयं अपनी अन्य अनेक रचनाओं का भी उल्लेख करते हैं, जो आज उपलब्ध नहीं हैं। वह अपने ग्रन्थों में अपने पुत्र का भी उल्लेख करते हैं, जिसने सम्भवतः एक क्रम-सम्बन्धी कृति की रचना की थी। यह पुत्र शायद **लोष्ठक** या **लोष्ठकदेव** है। *दीनाक्रन्दनस्तोत्र* नामक एक रचना को छोड़कर आज **लोष्ठक** की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। पर इस कृति का सम्बन्ध क्रम से नहीं है।

महेश्वरानन्द के परम गुरु **शिवानन्द** (द्वितीय) (११२५-७५ ई.) का अभिनवोत्तर काल के क्रम-आचार्यों में विशेष महत्त्व है। काश्मीर में जब यह सम्प्रदाय धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर हो रहा था, उस समय चोल देश (वर्तमान तमिलनाडु-कर्नाटक) में इस सम्प्रदाय को उनके सन्तति-क्रम ने, विशेषतः उनके प्रशिष्य **महेश्वरानन्द** ने ऊर्जा प्रदान की। उनका

११७. *द्र., क्र.ता., पृ. १८६।*

११८. *तं.वि., ३, पृ. ८१२-१३।*

११९. *वि.ग.चं. ४/१२५।*

इन सम्भावनाओं और समीकरणों को अन्तिम मानने का आग्रह नहीं है। **जयरथ** के ही समय में परम्परा-ग्रंथ और इतिहास को लेकर अनेक प्रकार की असमंजसताएँ आ चुकी थीं, अतः सबकी समाहितपूर्वक ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।

१२०. *यदुक्तमस्मत्परमेष्ठिगुरुभिः . . .। - तं.वि., २, पृ. ११*

योगदान इतना महनीय था कि क्रम-सम्प्रदाय की दक्षिण धारा ही इस परम्परा के आभोग में विकसित हो गई। इस धारा की विशेषता थी तेरह कालियों का सिद्धान्त, पञ्चार्थ-क्रम की धारणा पर विशेष बल, वृन्द-चक्र के पैसठ घटकांशों की कल्पना तथा देह के विविध केन्द्रों में विविध आध्यात्मिक स्तरों की भावना। इसी क्षेमराजोत्तर क्रम-परम्परा के आचार्य के रूप में **शिवानन्द** (द्वितीय) का इस परम्परा के बीज-वपन में योगदान ऐतिहासिक कहा जाएगा। **महेश्वरानन्द** इनके अनेक ग्रन्थों का उल्लेख करते हैं, पर क्रम-सम्प्रदाय के सन्दर्भ में उनकी तीन रचनाओं को रखा जा सकता है - *महानयप्रकाश*,^{१२१} *स्तोत्रभट्टारक* और *संवित्तुस्तोत्र*। **महेश्वरानन्द** अपने गुरु **महाप्रकाश** (११५०-१२०० ई.) का भी उल्लेख करते हैं,^{१२२} जो सीधे **शिवानन्द** (द्वितीय) के शिष्य थे। उन्हीं के प्रबोधन एवं प्रेरणा से **महेश्वरानन्द** ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ *महार्थमंजरी* की रचना की।^{१२३} परम्परा उन्हें साक्षात् प्राप्त हुई थी। यद्यपि आज उनकी कोई रचना स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं है, केवल **महेश्वरानन्द** की *परिमल* टीका में उनके कतिपय स्तोत्रों से प्राप्त उद्धरण ही उनके कृतित्व के परिचायक हैं।

जयरथ (११५०-१२०० ई.) का नाम क्रम के सन्दर्भ में वह प्रकाश-स्तम्भ है, जो इस सम्प्रदाय के ऐतिहासिक इतिवृत्त के व्यवस्थित अनुशीलन के लिए पर्याप्त दिशा-निर्देशपूर्वक व्यापक आधारभूमि उपलब्ध कराता है। *तन्त्रालोक* के पहले, चौथे, तेरहवें तथा उन्नीसवें आह्निकों पर उनकी *विवेक* टीका क्रम-सम्प्रदाय के उद्दिकास का विशद मानचित्र प्रस्तुत करती है। वह *विवेक* के अन्तिम श्लोक में^{१२४} अन्य सम्प्रदायों के साथ क्रम में भी अपनी अतुलनीय प्रामाणिकता की घोषणा करते हैं तथा अन्यत्र क्रम सन्दर्भों में अपने परमेष्ठी गुरु के सोद्धरण सश्रद्ध स्मरण के साथ-साथ गर्व के साथ **केयूरवती** के साक्षात् शिष्य **भानुक** की परम्परा से अपने जुड़े होने की घोषणा भी करते हैं।^{१२५} विवरणों से स्पष्ट है

१२१. यह *महानयप्रकाश* वही है, जो त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ है। चूँकि ग्रन्थकार का नाम कहीं पर उल्लिखित नहीं है, अतः कृतित्व का यह अन्तरिम निर्णय बहिरंग साक्ष्य और कुछ आन्तरिक सूचनाओं पर आधारित है। इस निर्णय का सत्यापन भावी शोध के अधीन है।

१२२. नत्वा नित्यशुद्धौ गुरोश्चरणौ महाप्रकाशस्य।

ग्रन्थाति महार्थमञ्जरीमिमां सुरभिं महेश्वरानन्दः॥ - *म.मं.*, गाथा १

१२३. *म.मं.प.*, पृ. १६१-६२।

१२४. पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि,

प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।

तथाप्यस्यामङ्ग क्वचन भुवि नास्ति त्रिकटुशि,

क्रमार्थे वा मतः सपदि कुशलः कश्चिदपरः॥ - *तं.वि.*, ८, पृ. ३७२४-२५

१२५. तस्यैव (भानुकस्य) चैषा श्रीमदुज्जटोद्भट्टादिनागुरुपरिपाटीसन्ततिः यद्यसादासादितमहिमभिरस्माभिरेतत् प्रदर्शितम्। - *तं.वि.*, ३, पृ. ८०८-०९

कि उनका **गोविन्दराज** की परम्परा से भी अच्छा परिचय था,^{१२६} साथ ही उन्हें क्रम की दक्षिण समेत सभी अवान्तर धाराओं का अधिकारिक ज्ञान था - इस बात के सीधे प्रमाण *विवेक* में उपलब्ध हैं। काली की त्रयोदशात्मकता के प्रसंग में उन्होंने "अन्यों की उक्ति" के जो उद्धरण दिए हैं, वे *महानयप्रकाश* (त्रि.) के नवें उल्लास से लिए गए हैं।^{१२७}

दक्षिण धारा के प्रतिनिधि आचार्य **महेश्वरानन्द** (११७५-१२२५ ई.) की *महार्थमञ्जरी* और इस पर उन्हीं की *परिमल* टीका तो पूरे कश्मीर शिवाद्वयवाद के व्यापक परिप्रेक्ष्य में क्रम-सम्प्रदाय के विविध रहस्यों को प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। **जयरथ** की ही भाँति पूरे काश्मीर शिवाद्वयवाद के ऐतिहासिक सन्दर्भों के विशद प्रस्तुतीकरण में उनका भी अप्रतिम योगदान है। *महार्थमञ्जरी* की टीका में वे अपने कई ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। यही वे स्रोत हैं, जिनसे हम उनके कृतित्व के विषय में अपेक्षाकृत विस्तार से जानते हैं। इन्हीं के आधार पर *कोमलवल्ली* या *कोमलस्तव*, *परास्तुति*, *महार्थोदय* और *क्रम* नामक रचनाओं को हम मुख्यतः क्रम-ग्रन्थ के रूप में पाते हैं। परन्तु उनकी क्रम-दृष्टि का ग्रन्थ *महार्थमञ्जरी* ही है, जिसे स्वप्न में एक योगिनी ने उन्हें प्रदान किया था।^{१२८} योगिनी के प्राकृत भाषा में उपदेश का अनुपालन करते हुए वह भी *महार्थमञ्जरी* का प्राकृत भाषा में निबन्धन करते हैं। एक प्रकार से उत्तरकालीन क्रम का यह प्रस्थान ग्रन्थ है। **महेश्वरानन्द** के परवर्ती आचार्य उनसे बहुत प्रभावित दिखाई देते हैं। **शिवोपाध्याय** तो कई बार उनका प्रमाण रूप से आश्रय लेते हैं। **रामेश्वर परशुरामकल्पसूत्रवृत्ति** में, **कैवल्यश्रम आनन्दलहरी** पर अपनी टीका **सौभाग्यवर्धिनी** में तथा राजानक **लक्ष्मीराम** अपनी *लघुवृत्ति* में *महार्थमञ्जरी* व *परिमल* को उद्धृत करते हैं।

शितिकण्ठ (१४५०-१५०० ई.) का *महानयप्रकाश* कश्मीर में प्रसुप्त क्रम-धारा के लगभग ३०० वर्ष बाद पुनर्जागरण का सन्देश लेकर आता है। यद्यपि यह परम्परा वहाँ बिल्कुल समाप्त नहीं हुई थी, जैसाकि **शितिकण्ठ** के द्वारा प्रस्तुत विवरण^{१२९} से स्पष्ट होता है कि उनको यह परम्परा कश्मीर में ही **चक्रभानु** की **ईशाना** नामक शिष्या के सन्तति-क्रम में मिली थी। बस केवल उत्सृष्ट रचनात्मक पक्ष लुप्त हो गया था। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त

१२६. यदधिकारेण श्रीगोविन्दराजादीनामुपदेशः प्रवृत्तो योऽस्मत्पर्यन्तमपि प्राप्तः। - तदेव, पृ. ८१४

१२७. ननु अस्याः परस्याः संविदोऽन्यैरनयैव भङ्ग्या त्रयोदशात्मकत्वमुक्तम् "एकं स्वरूपरूपं... पूजनीयतया स्थिताः।" {म.प्र. (त्रि.) ६.१५-१८अ} इति। - तं.वि., ३, पृ. ७४४-४५

१२८. स्वप्नसमयोलब्धा सा सुमुखी सिद्धयोगिनी देवी।

गाथाभिः सप्तत्या स्वापितभाषाभिरस्तु सम्प्रीता॥ - म.मं.प., पृ. २

१२९. ततश्च मानवीयस्यान्ते शिष्यौघाग्रणीर्भानुपादः अष्टानां शिष्याणां प्रभुः यन्मध्याद्राज्ञी ईशानाख्या विदितं पारम्पर्यविदाम्। - म.प्र. (शि.), पृ. १०७

भी उनकी रचनाओं का उल्लेख मिलता है, पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं। *महानयप्रकाश* (शि.) न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से, वरन् महार्थ-सिद्धान्त की विशिष्ट व्याख्या की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। यह काश्मीरी भाषा में लिखा हुआ ग्रन्थ है, इस पर उन्हीं की स्वोपज्ञ संस्कृत टीका भी है। *अनन्तशक्तिपाद* (१७००-५० ई.) कृत *वातूलनाथसूत्रवृत्ति* क्रम-दर्शन के साहस-सम्प्रदाय को प्रस्तुत करने वाली रचना है। इसी काल से सम्बद्ध *भट्टारक-कृत प्राकृतत्रिशिकाविवरण* नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख *शिवोपाध्याय* अपनी *विज्ञानभैरव-विवृति* में करते हैं। इस ग्रन्थ का मुख्य विषय वृन्द-चक्र के स्वरूप का निरूपण था।^{१३०} *शिवोपाध्याय* (१७२५-७५ ई.) अन्त में आते हैं, जिनके साथ क्रम-सम्प्रदाय के पूरे विकास को विराम लग जाता है।^{१३१} वह मुख्यतः क्रम के आचार्य नहीं हैं, पर अपनी *विज्ञानभैरवविवृति* में जहाँ

१३०. वृन्दचक्रनिर्यस्तु बहुधा भट्टारककृतप्राकृतत्रिशिकाविवरणे विचार्यः इत्यलम्। - वि. भै. वि., पृ. ६६

१३१. सच पूछा जाए तो क्रम-दर्शन की सर्जनात्मक और आध्यात्मिक यात्रा *शिवोपाध्याय* के साथ समाप्त नहीं होती। यह अक्षुण्ण रूप से मौलिक रचनाशीलता के साथ काशी के पुण्यश्लोक *आचार्य रामेश्वर झा* की कृति *(श्री)क्रमाभिज्ञापना* में अद्यावधि अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित रही है। इसका बोध इन पंक्तियों के लेखक को अत्यन्त विलम्ब से तब हुआ जब प्रस्तुत पुस्तक प्रेस के लिए लगभग तैयार हो चुकी थी। कुल छह सौ छह कारिकाओं में उपनिबद्ध *क्रमाभिज्ञापना* अन्तिम *महानयप्रकाश* के प्रणेता आचार्य *शितिकण्ठ* की धारा को परम्परा-प्राप्त रूप से साक्षात् आगे बढ़ाने का संकल्प लेती है -

गुरोः परम्पराप्राप्तं क्रमज्ञानं विशेषतः।

लोकानुग्रहकाङ्क्षिण्येच्छया तच्च वितन्यते॥ - *क्रमाभि.*, का. ३

ग्रन्थ के सिद्ध लेखक की घोषणा है कि वह केवल महानय में गुरु-क्रम से प्राप्त क्रम-ज्ञान का ही उपबृंहण नहीं कर रहे हैं, अपितु यहाँ पर व्यक्त सत्य उनके व्यक्तिगत अनुभव से सिद्ध भी है -

अतः तेषां स्वरूपं श्रीमहानयगुरुक्रमे।

अनुभूतं स्फुटं वच्मि चिद्वयप्रथाप्रदम्॥ - *क्रमाभि.*, का. ७६

इस कृति की चार विशेषताएँ प्रथमदृष्ट्या पाठक को प्रभावित करती हैं। पहली है, *क्रमाभिज्ञापना* को अपनी *पूर्णताप्रत्यभिज्ञा* की अगली कड़ी के रूप में देखना। इसका अभिप्राय है प्रत्यभिज्ञान जहाँ क्रम-दर्शन का भी पर्यन्त फल है, वहीं क्रम प्रत्यभिज्ञा की साम्प्रदायिक दृष्टि की पराकाष्ठा है -

पूर्णताप्रत्यभिज्ञेव संविदः स्वयमुद्रता।

क्रमाभिज्ञापनाऽभिज्ञामादधात्वात्मनः सताम्॥ - *क्रमाभि.*, का. ४

क्रमाचार्यों को छोड़ भी दिया जाए तो *अभिनव* से लेकर *क्षेमराज* और उनसे लेकर *जयरथ* तक मुख्य प्रत्यभिज्ञा आचार्यों की यही दृष्टि रही है। दूसरी है, *शितिकण्ठ* के प्रस्तुतिक्रम को तार्किक आधार देते हुए समीकरणों की विशाल संख्या को एक वैचारिक क्रम का पोषक बनाना और इस प्रकार *शितिकण्ठ* की कई अबूझी गुत्थियों को सुलझाने का सफल उपक्रम करना। तीसरी

कहीं भी अवसर पाते हैं, क्रम-सिद्धान्तों का इतनी गंभीरता से विवेचन करते हैं कि सम्प्रदाय-विषयक उनकी विद्वता और पैठ में कहीं सन्देह नहीं रह जाता।

क्रम-सम्प्रदाय में इस विस्तृत साहित्य के अतिरिक्त कुछ आगम भी विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन आगमों में कुछ तो सामान्य दृष्टि से त्रिक परम्परा का विवेचन करते हैं और इसी प्रसंग में क्रम-तत्त्वों को भी प्रस्तुत करते जाते हैं और कुछ आगम ऐसे हैं जो मूलतः क्रम-परक हैं। प्रथम श्रेणी में आते हैं — *मालिनीविजयोत्तर*, *सर्वज्ञानोत्तर*, *ब्रह्मयामल*, *तन्त्रराज*,^{१२०} *किरणागम*, आदि। द्वितीय श्रेणी में आते हैं क्रम आगम। इन आगमों में देवी द्वारा ही शिव को ज्ञान का उपदेश दिया गया है। इनमें आते हैं — *पञ्चशक्तिक* या *देवीपञ्चशक्तिक*, *सार्धशक्तिक*, *क्रमरहस्य*, *क्रमसद्भाव*, *कालिकाक्रम* तथा *क्रमसिद्धि*। *पञ्चशक्तिक* सबसे प्राचीन, ज्ञात क्रम-आगम है। इसमें सर्वप्रथम क्रम की गुरु-परम्परा का उल्लेख आता है। **जयरथ** के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें तेरह कालियों का सिद्धान्त प्रतिपादित था। *सार्धशक्तिक* *पञ्चशक्तिक* की दृष्टि का ही पूरी

- विशेषता है, परवर्ती क्रम साहित्य जिसमें *महार्थमञ्जरी*, *चिद्वनचन्द्रिका* और *शिवानन्द* (द्वितीय) कृत *महानयप्रकाश* के मत-मतान्तर पनपते हैं, उन मतान्तरों को *शितिकण्ठ* के *महानयप्रकाश* के साथ तुल्य समवधान-फलक पर उपस्थित करना; और चौथी सबसे बड़ी विशेषता है दर्शन, उपासना और चर्या/क्रिया, दूसरे शब्दों में देवता, स्वात्मा और गुरु-तत्त्व के चिरन्तन अभेद को *शितिकण्ठ*, जो उन तक आदिगुरु **श्रीनाथ** अर्थात् **शिवानन्दनाथ** से अप्रतिहत संक्रान्त हुआ है, के मूल मन्त्र के रूप में प्रतिपादित करना —

इत्याशङ्क्य गुरुश्रेष्ठशितिकण्ठेन योगिना।

आदिपीठसमादिष्टश्रीनाथगुरुसम्मतम्॥

प्रोक्तं सदुत्तरं यद्धि तदेवास्माभिर्मुच्यते।

देवस्य चात्मनः पूज्यगुरोश्चैक्यं च यत्स्थितम्॥

अखण्डचित्स्वरूपत्वं तद्विभागधियां त्रिधा।

विभज्योपासना कार्या चिदैकात्म्यप्रसिद्धये॥ — *क्रमाभि.*, का. ६०४-०६

आचार्य झा की यह पुस्तक अभी अप्रकाशित है और **डॉ. जीवेश झा** के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में पीएच.डी. की उपाधि के लिए प्रस्तुत शोधप्रबन्ध *श्री क्रमाभिज्ञापना की सानुवाद समीक्षा* के परिशिष्ट के रूप में सानुवाद समाकलित है। यह कहना शायद अनुचित न हो कि **डॉ. जीवेश झा** का प्रबन्ध भाग, जो भूमिका तथा पाँच अध्यायों में विभक्त है, का केन्द्रीय प्रतिपाद्य क्रम-दर्शन का इतिहास तथा मुख्य सिद्धान्त है। इस विवेचन में मेरी पुस्तक *क्रम तान्त्रिसिञ्जम ऑफ़ काश्मीर* तथा *संस्कृत वाङ्मय के बृहद् इतिहास* के तन्त्रागम खण्ड में प्रकाशित मेरा लेख “कुल तथा क्रम-मत” प्रधान उपजीव्य सामग्री रही है: यदि इस तथ्य का भी उल्लेख **डॉ. झा** ने किया होता, तब भी इस ज्ञान-यात्रा में वह यश के भागी रहते।

तरह अनुसरण करता है।^{१३३} यह भी एक महत्त्वपूर्ण आगम रहा होगा। *क्रमरहस्य* एक छोटा आगम प्रतीत होता है। इसको केवल एक बार **अभिनवगुप्त** उद्धृत करते हैं।^{१३४} यह *पञ्चशक्तिक* उतना प्राचीन नहीं लगता, पर **अभिनवगुप्त** से पूर्ववर्ती अवश्य था।^{१३५}

क्रमसद्भाव का उल्लेख **अभिनवगुप्त**, **जयरथ**, **महेश्वरानन्द** एवं **शितिकण्ठ** सभी करते हैं। यह *क्रम* संज्ञा से भी जाना जाता था।^{१३६} **जयरथ** इसे *क्रमभट्टारक* कहकर भी पुकारते हैं। विविध आचार्य इसके उद्धरणों को विभिन्न सन्दर्भों में प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हैं। अनाख्या-चक्र में पूज्य कालियों की संख्या के सन्दर्भ में,^{१३७} षोडशार-चक्र में पूज्य देवियों के विषय में, विविध कालियों के विवरणों से सम्बन्धित मत के सन्दर्भ में, तथा वृन्द-चक्र^{१३८} के विषय में इस आगम का उल्लेख अक्सर किया गया है। पञ्चवाह के सिद्धान्त में सृष्टि-क्रम से प्रारम्भ व भासा-क्रम से अन्त होना, यह दृष्टि भी इसी आगम के प्रामाण्य से प्रस्तुत की गई है।^{१३९} *कालिकाक्रम* दार्शनिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आगम है। इसी कारण **क्षेमराज** अपने ग्रन्थों में इसका बहुतायत से उल्लेख करते हैं।^{१४०} बाद के आचार्यों में यह *देविकाक्रम* के नाम से भी विख्यात है।^{१४१} *क्रमसिद्धि* और भी बाद का क्रम आगम है, क्योंकि **अभिनवगुप्त**, **क्षेमराज** व **जयरथ** इससे अभिन्न नहीं जान पड़ते। केवल **महेश्वरानन्द** ही इसका उल्लेख करते हैं।^{१४२} इसका ज्यादा उल्लेख परवर्ती साहित्य में भी नहीं मिलता। इससे प्रतीत होता है कि सम्भवतः यह एक छोटा आगम था। इसके उद्धरणों से ऐसा लगता है कि इसमें शिव भी देवी को उपदेश देते हैं व देवी भी

१३३. तं.वि., ३, पृ. ८०५।

१३४. श्रीमत्क्रमरहस्ये च न्यरूपि परमेशिना। - तं. २६/१४क

१३५. इस आगम की क्रमनिष्ठता पर पूरी तरह आश्वस्त नहीं हुआ जा सकता, यद्यपि इसके नाम में क्रम शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रकरण और उद्धरण से स्पष्ट है कि **अभिनव** इसकी प्रामाणिकता का विनियोजन सामान्य कुल-प्रक्रिया के प्रसंग में कर रहे हैं। देखिए पा.टि. १७५, अध्याय २।

१३६. न चात्र युक्तिरेवास्ति यावदागमोऽपीत्याह।

श्रीसर्वाचारवीरावलीनिशाचारक्रमादिषु॥

शास्त्रेषु विततं चैतत् तत्र तत्रोच्यते यतः। - तं., १२/२३-२४

१३७. तं.वि., ३, पृ. ७५२, ८०६।

१३८. स च वृन्दक्रमः क्रमसद्भावे सविस्तरमुपदिष्टः। - म.प्र. (शि.), पृ. ८६

१३९. म.मं.प., पृ. १०४।

१४०. शि.सू.वि., पृ. ५३-५५, ५७-६०, ६५-६६, ६८; तं.वि., ३, पृ. १००६।

१४१. म.मं.प., पृ. ६-१०।

१४२. तदेव, पृ. ८५-८६, ६३-६४, ६७, १०५-०६।

शिव को उपदेश देती हैं, अतः यह उस मध्यवर्ती धारा का प्रतिनिधि है जिसमें उभयविध दृष्टि स्वीकृत है - शिव की भी प्रधानता है व शक्ति की भी।

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी हैं जो पूर्णतया क्रम स्वभाव को दर्शाते हैं, पर आगम श्रेणी में नहीं आते। वे हैं तो मानव-रचित, पर उनके लेखक का नाम, पता कुछ ज्ञात नहीं है। न ही आज उनके अस्तित्व के बारे में कोई सूचना है। मात्र कुछ उल्लेखों एवं उद्धरणों से उनकी थोड़ी-बहुत जानकारी हमें मिलती है। इस श्रेणी में आते हैं - *क्रमसूत्र*, *सिद्धसूत्र*, *महानयपद्धति*, *क्रमोदय*, *आमावस्यात्रिंशिका* और *राजिका* आदि। *क्रमसूत्र* का उल्लेख सर्वप्रथम *क्षेमराज* अपने *प्रत्यभिज्ञा-हृदय* में करते हैं।^{१४३} यह मूलतः क्षेत्रीय भाषा में रचित कृति है। *क्षेमराज* अपने उल्लेख में इसका संस्कृत अनुवाद ही प्रस्तुत करते हैं। *सिद्धसूत्र* का उल्लेख एक बार *महानयप्रकाश* (त्रि.) में आता है। पूजन-क्रम में वृन्द-चक्र के पूजन के बाद सृष्टि, स्थिति आदि चक्रों का पूजन करके ही अनाख्या-चक्र के पूजन का विधान है। इससे पूजन-क्रम सम्यक् सम्पादित होता है, जिससे खेचरी भाव की सिद्धि होती है। इस दृष्टि को प्रस्तावित करते हुए *महानयप्रकाशकार* *सिद्धसूत्र* को प्रमाण रूप से प्रस्तुत करते हैं।^{१४४} इसी प्रकार क्रम-पूजा-विधि के सन्दर्भ में *महेश्वरानन्द* एक अन्य रचना *महानयपद्धति* का उल्लेख करते हैं, यह बताने के लिए कि निरावरण आत्मा में दृढ़तर परामर्श का नाम ही पूजन है।^{१४५} *क्रमोदय* नामक एक रचना का उल्लेख *महेश्वरानन्द* भी करते हैं,^{१४६} साथ ही *अमृतानन्द* अपनी *योगिनीहृदयदीपिका* में^{१४७} तथा *भास्कराचार्य* अपनी *सेतुबन्ध टीका*^{१४८} में करते हैं। *आमावस्यात्रिंशिका* एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसकी रचना सम्भवतः *महेश्वरानन्द* तथा *शितिकण्ठ* के कालों के अन्तराल में हुई। इसका उल्लेख *शितिकण्ठ* करते हैं।^{१४९} इसकी दूसरी संज्ञा *संवाद* थी, ऐसा उभयत्र दोनों

१४३. यथोक्तं क्रमसूत्रेषु . . .। - *प्र.ह.*(जय.), पृ. ६१।

१४४. पूजनात् खेचरत्वं हि सिद्धसूत्रेषु गण्यते। - *म.प्र.* (त्रि.) ८/२८अ

१४५. *म.मं.प.*, पृ. १०८।

१४६. तदेव, पृ. ४८, ८४।

१४७. *यो.ह.दी.*, पृ. २६६, २८३।

१४८. *योगिनीहृदय* पर *सेतुबन्ध*, *भास्करराय*, *योगिनीहृदयदीपिका* के साथ प्रकाशित, गोपीनाथ कविराज द्वारा सम्पादित, वाराणसी, १९६३, पृ. २८६।

१४९. तथा च आमावस्यात्रिंशिकायाम् -

‘योऽसौ परापरः शान्तः शिवः सर्वगतो महान्।

अप्रमेयो ह्यनन्तश्च व्यापी सर्वेश्वरेश्वरः॥ . . .’ - *म.प्र.* (शि.), पृ. ६

संज्ञाओं से संकेतित उद्धरण की एकरूपता से प्रतीत होता है।^{१५०} राजिका एक छोटी सी कृति लगती है, जिसका उल्लेख बस एक बार शितिकण्ठ करते हैं।^{१५१}

इस प्रकार विस्तृत इतिहास एवं साहित्य के आकलन से इस सम्प्रदाय के पृथक् अस्तित्व पर कोई सन्देह नहीं रह जाता है। साथ ही इस परम्परा की कुछ स्वरूपगत विशेषताओं का निर्धारण सुकर हो जाता है। सबसे प्रधान विशेषता यह है कि यह सम्प्रदाय विशुद्ध तान्त्रिक प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है। प्रारम्भिक रचनाओं में तो ऐसा लगता है कि यहाँ तत्त्वमीमांसात्मक चिन्तन ही प्रधान है, और ज्ञान-प्रक्रियाओं के सूक्ष्म विश्लेषण पर अत्यन्त आग्रह है, परन्तु ये सारे विवेचन साधना-प्रक्रिया के तान्त्रिक तत्त्व-बहुल परिवेश में ही रूप और आकार ग्रहण करते हैं। इसी कारण कुछ आचार्य स्पष्टतः स्वरचित ग्रन्थ को भी तन्त्र कहते हैं।^{१५२} अभिनवगुप्त भी तन्त्र-प्रक्रिया के विवेचन में ही त्रिक एवं प्रत्यभिज्ञा के साथ इस सम्प्रदाय को स्थान देते हैं। तन्त्र-प्रक्रिया में इसका अतिविशिष्ट स्थान है। इस सम्प्रदाय के प्रारम्भिक विकास के चरण में ज्ञान व योग की प्रधानता है, पर उत्तरकाल में चर्या तथा क्रिया का ही प्राधान्य होता गया। यद्यपि इस प्रकार का काल-भेद केवल मोटे तौर पर ही किया जा सकता है, क्योंकि रहस्य-चर्याओं की छाया प्रायः सभी स्तरों पर रही है। कभी-कभी तो लेखक इन रहस्यात्मक चर्याओं व अनुष्ठानों के विवेचन में इतना खो जाता है कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे चर्यागत अनुष्ठान ही इस सम्प्रदाय का मुख्य प्रतिपाद्य हैं। मुद्रा, मन्त्र, पूजन, पीठ, आदि कुछ ऐसी ही धारणाएँ हैं, जिनको परवर्ती साहित्य में विशेष महत्त्व दिया गया।

क्रम-सम्प्रदाय के सर्वांगीण स्वरूप को समझने के लिए इसकी मूलभूत स्थापनाओं तथा साधना-पद्धति के विशिष्ट स्वरूप को समझना अनिवार्य है। यहाँ एक बात मुख्य रूप से ध्यान में रखने की है कि क्रम-दर्शन मूलतः शिवाद्वयवाद का अंग होते हुए भी अपनी निष्ठा में शक्ति-परक है और शिवाद्वयवाद में शाक्त प्रवृत्तियों के क्रमबद्ध उद्रेक का प्रतीक है। फलतः अन्य सहोदर सम्प्रदायों के विपरीत क्रम-सम्प्रदाय में आगे चलकर शिव-परक और शक्ति-परक निष्ठाओं के इर्द-गिर्द दो अवान्तर सम्प्रदायों का विकास होता है। इन्हें हम एक प्रकार से मोटे तौर पर क्रम के उत्तरी और दक्षिणी या पारम्परिक और अर्वाचीन सम्प्रदाय कह सकते हैं। क्रम-सम्प्रदाय के समग्र आकलन के लिए इस विकास को दृष्टि में रखना आवश्यक है। पर यह भी ध्यान रखना उतना ही आवश्यक है कि यह विभाजनात्मक

१५०. तदेव, पृ. १३: संवाद के अन्तर्गत उद्धृत चतुर्थ अर्धाली के पाठ में थोड़ा सा भेद है, यथा - 'सर्वव्यापी महेश्वरः'।

१५१. तदेव, पृ. ५५।

१५२. महार्थमञ्जयाख्यं महत् तन्त्रम् . . .। - म.मं.प., पृ. २

विश्लेषण एक प्रकार से अन्तरिम है, क्योंकि क्रम की पूर्वोत्तर शाखा जिसके ग्रन्थ नेपाल में मिलते हैं और जिसका कुब्जिका काली के सम्प्रदाय से अंतरंग सामीप्य है, वहाँ दोनों ही प्रवृत्तियाँ अपने संकीर्ण और असंकीर्ण दोनों रूपों में प्राप्त होती है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद के प्रमुख पुरोधा **अभिनवगुप्त** क्रम-दर्शन की चर्चा प्रायः शाक्तोपाय के सन्दर्भ में ही करते हैं। यहाँ शाक्तोपाय संज्ञा के दो मुख्य अभिधेय हैं - प्रथम, इस दर्शन की उपायरूपता; द्वितीय, शक्ति से इसका आन्तरिक सम्बन्ध। इन दोनों का समन्वित रूप है - शक्तियों के आविष्करण के द्वारा शक्तिमान् का प्रत्यभिज्ञान। इस स्थिति को भेदाभेदमयी भी कहा जाता है।^{१५३} अभेद इसलिए है, क्योंकि स्वरूप-उपलब्धि में बाह्यता पूर्णतया तिरोहित हो जाती है और भेद इसलिए है, क्योंकि यहाँ विकल्प की शुद्ध रूप में ही सही पर स्थिति तो है ही। विकल्प की शुद्धता का अभिप्राय है कि विविधता एकता की विरोधिनी न रहकर उसी की अभिव्यक्ति बन जाती है। अतः यहाँ की अनुभूति है - “यह सब मैं हूँ।” भेद को अभेद की विकृति प्रतिपादित कर **महेश्वरानन्द** इसी बात को सिद्ध करते हैं।^{१५४} फलतः क्रम-दृष्टि में भेद एवं अभेद के भिन्न ध्रुवों का समञ्जसीकरण अनिवार्य प्रतिपाद्य है। यहाँ भोग-मोक्ष के सामरस्य रूप में मुक्ति की कल्पना भी इसी दृष्टि का यौक्तिक पल्लवन है।^{१५५} वस्तुतः जो सत् के स्तर पर भेदाभेद है, वही अनुभूति के स्तर पर भोग व मोक्ष का सामरस्य है।

क्रम-सम्प्रदाय का एक अन्य वैशिष्ट्य है - क्रममुक्ति की भावना। यह इस सम्प्रदाय की संज्ञा से ही झलकता है। इस वैशिष्ट्य को भी शाक्तोपाय के सन्दर्भ में व्यक्त किया गया है। शाक्तोपाय जहाँ ज्ञानात्मक या प्रमाणात्मक कहा गया है, वहीं शान्भवोपाय प्रमातृपरक तथा आणवोपाय प्रमेयपरक कहा जाता है। अतः शाक्तोपाय इन दोनों के मध्य का सम्पर्क सूत्र है, अर्थात् विकल्प ज्ञान को उदात्तीकरण-प्रक्रिया द्वारा निर्विकल्प-बोध में पर्यवसित करना ही इसका स्वरूप है। प्रत्यभिज्ञा और कुल जहाँ एक प्रकार से अक्रम या तत्क्षण मुक्ति के पक्षधर हैं, वहीं बुद्धि-निर्माण या विकल्प के क्रमबद्ध संस्कार के कारण मुक्ति की प्रक्रिया यहाँ सोपानात्मक है। यह प्रक्रिया इस बात पर बल देती है कि आध्यात्मिक आरोहण का प्रत्येक चरण स्वयं आत्म-चेतना का प्रतीक है और मुक्ति की सम्भावना का वाहक है। अतः जीवन्मुक्ति का प्रत्यय यहाँ वास्तविक रूप में घटित होता है, जबकि अन्यत्र यह सम्भावना बुद्धि से ही प्रतिपादित है। फिर भी यह सम्प्रदाय इस उदात्तीकरण या क्रमिक संस्करण की

१५३. भेदाभेदौ हि शक्तिता। - तं. १/२२०द

१५४. तत्र चाभेदः प्रकृतिरन्यो विकृतिरिति अभ्युपगन्तव्यम्। - म.मं.प., पृ. ४७

१५५. एतदेव ह्यस्य दर्शान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यं यद् भोगमोक्षद्वितयानुभूतिसामरस्यं नाम। - तदेव, पृ. १३२

प्रक्रिया में किसी एक विधा से अपने को प्रतिबद्ध नहीं करता। इसी कारण अभिनवगुप्त इसे “उपायमण्डल” के नाम से प्रस्तुत करते हैं।^{१५६} ईश्वर का अनुग्रह या साधक की सामर्थ्य इस विविधता में निमित्त बनते हैं। उपाय-वैविध्य क्रम सम्प्रदाय की प्रधानतम अन्वर्थ विशेषता है। इस उपाय-वैविध्य का एक ऐतिहासिक पक्ष भी है। यद्यपि एकान्ततः कहना कठिन होगा फिर भी मोटे तौर पर क्रम की तान्त्रिकता की दो अवस्थाएँ हैं। अपने प्राचीन रूप में क्रम का सम्बन्ध मुख्यतः तत्त्व-चिन्तन और प्रातिभ प्रमेयों से है, पर उत्तर काल में कर्मकाण्डपरक तथा क्रियापरक दृष्टि अपेक्षाकृत उल्लेख हो जाती है। उपाय-वैविध्य के प्रत्यय का यही व्यावहारिक अभिधेय है, जो इस सम्प्रदाय के समग्र विकास के विश्लेषण से स्पष्टतः प्रतिफलित होता है।

तन्त्रालोक के प्रथम आह्निक के अन्त में अभिनवगुप्त शाक्तोपाय के उपायमण्डल या मुख्य प्रमेयों को नौ वर्गों में बाँटते हैं। वे हैं^{१५७} - विकल्प-संस्क्रिया, तर्क-तत्त्व, गुरु-तत्त्व, योगांगों की अनुपयोगिता, कल्पित अर्चादि का अनादर, संविच्चक्रोदय, मन्त्रवीर्य, जप्य, निषेधविधितुल्यता।

इनमें से विकल्प-संस्क्रिया एवं संविच्चक्रोदय के प्रत्यय विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य धारणाएँ— शक्त्याविष्करण एवं क्रमचतुष्टयार्थ (या पञ्चार्थ) भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है संविच्चक्रोदय, क्योंकि इसमें अन्य तीनों धारणाएँ एक प्रकार से अन्तर्भूत हो जाती हैं।

शक्त्याविष्करण शब्द का प्रयोग आचार्य उत्पल अपनी ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका में करते हैं।^{१५८} क्षेमराज इसी को “शक्ति-चक्र-विकास” कहकर शाक्तोपाय की प्रक्रिया से जोड़ते हैं। चाहे संसार की स्थिति हो या संसारोत्तीर्णता की, प्रमाता की पञ्चकृत्यकारिता सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान और अनुग्रह की सामर्थ्य सदा बनी रहती है। यदि प्रमाता इन शक्तियों के कर्तृभाव से अपने को पहचान ले तो उसका आत्मीय पारमेश्वर स्वरूप-बोध तुरन्त हो जाता है^{१५९}। जैसे ईश्वर इच्छादि शक्तियों के द्वारा विश्व का निर्माण करता है, वैसे ही पशु-प्रमाता बुद्धि आदि के द्वारा विकल्प आदि का। जैसे ज्ञान-क्रिया ईश्वर की

१५६. अथ शाक्तमुपायमण्डलं कथयामः परमात्मसंविदे। - तं. ४/१

१५७. विकल्पसंस्क्रिया तर्कतत्त्व गुरुसतत्त्वकम्। योगाङ्गानुपयोगित्वं कल्पितार्चाद्यनादरः।।
संविच्चक्रोदयो मन्त्रवीर्यं जप्यादि वास्तवम्। निषेधविधितुल्यत्वं शाक्तोपायेऽत्र चर्च्यते।।
- तदेव १/२८६-२८०

१५८. शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्शयते। - ई.प्र.का. १/१/३

१५९. एवमिदं पञ्चविधकृत्यकारित्वम् आत्मीयं सदा दृढप्रतिपत्त्या परिशील्यमानं माहेश्वर्यमुन्मीलयत्येव
भक्तिभाजाम्। - प्र.ह. (जप.), पृ. ६८

शक्तियाँ हैं, वैसे ही ये सीमित क्षेत्र में पशु-प्रमाता की भी शक्तियाँ हैं – यही बोध स्वात्मदेवता रूप ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान कराता है।^{१६०} सम्प्रदाय में पञ्चकृत्यपरिशीलन की शब्दावली में अनेक जगह इसका स्मरण किया गया है। क्रम-चतुष्टयार्थ^{१६१} या क्रम-पञ्चार्थ^{१६२} की धारणा शक्त्याविष्करण की धारणा का ही स्वाभाविक विस्तार है। ईश्वर के पञ्च-कृत्यों को ही पञ्चार्थ कहा गया है। चतुष्टयार्थ के अन्तर्गत चतुर्थ तिरोधान में पञ्चम अनुग्रह का अन्तर्भाव किया गया है। यहाँ की विशिष्ट शब्दावली में इन अन्तिम दो कृत्यों को अनाख्या एवं भासा भी कहा गया है। परवर्ती क्रम-सम्प्रदाय में इस शब्दावली का ही प्रयोग अधिक हुआ है। पञ्चकृत्यपरिशीलन और चतुष्टयार्थ के प्रत्यय शक्त्याविष्करण के सन्दर्भ में तो समानार्थक हैं, परन्तु पञ्चार्थ या चतुष्टयार्थ को लेकर उनके अन्तरंग सन्दर्भ में थोड़ा सा अन्तर है। एक ही शक्ति में – चाहे वह सृष्टि-रूप हो या स्थिति-रूप, संहार-रूप हो या तिरोधान-रूप – कृत्यभेद से क्रम की कल्पना करना चतुष्टयार्थ है।^{१६३} एक ही चित्प्रवाह का इच्छा, ज्ञान और क्रिया के द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या रूप क्रम-भेदन चतुष्टयार्थ है।^{१६४} अनाख्या में तिरोधान और अनुग्रह दोनों की अनुस्यूति है।^{१६५}

क्रम-दर्शन में परम तत्त्व को कहीं पर परमशिव और कहीं पर कालसंकर्षिणी के रूप में प्रतिपादित किया गया है। जहाँ परम तत्त्व को परम शिव के रूप में ग्रहण किया गया है, वहाँ कालसंकर्षिणी को उसकी स्वातन्त्र्य या विमर्शरूपिणी शक्ति माना गया है। कलनात्मकता के कारण इसे कालसंकर्षिणी कहा जाता है। कलन के धातुगत पाँच अर्थ हैं – क्षेप, ज्ञान, संख्या, गति और नाद।^{१६६} कलन-पञ्चक और कृत्य-पञ्चक अथवा पञ्चार्थ

१६०. इत्थमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा। पश्यन्त्यथेप्सितानर्थान् जानाति करोति च॥

– ई.प्र.का. ४/१/१५;

तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः। यतस्तदेप्सितं सर्वं जानाति करोति च॥

– स्प.का. १/१०

१६१. म.प्र. (शि.), पृ. ४२।

१६२. म.मं.प., पृ. ६३।

१६३. भेदैश्चतुर्भिरकस्यां शक्ती यत्क्रमणं क्रमात्।

सृष्टिस्थितिलयानाख्यैः स क्रमः परिकीर्तितः॥ – म.प्र.(शि.), पृ. ४५

१६४. एकस्य चित्प्रवाहस्य क्रमभेदः स्वगोचरे।

इच्छाज्ञानक्रियाभिर्यः क्रमार्थः सोऽभिधीयते॥ – तदेव

१६५. अनाख्याभासयोरत्र नोपदिष्टः पृथङ्मनुः। – म.मं.प., पृ. १०१

१६६. क्षेपो ज्ञानं च संख्यां गतिर्नाद इति क्रमात्॥ . . .

इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा।

देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते॥ – तं. ४/१७३ख, १७६

के समीकरण द्वारा शक्ति के सातत्य और भेदन दोनों ही अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। व्यक्ति-प्रमाता के सन्दर्भ में साधक को आग्रहपूर्वक समझाया गया है कि वह इन्द्रियों को आन्तरिक शक्तियों के केन्द्र के रूप में और विषय-जगत् को आत्मचैतन्य के अन्दर प्रत्यावर्तन या प्रत्याहरण के उपकरण के रूप में ग्रहण करे। साधक ऐसी दृष्टि के अर्जन में यदि समर्थ हो जाता है, तो सहज स्वातन्त्र्य के अनायास उन्मेष में समय नहीं लगता।^{१६७} विज्ञानभैरवोद्योत में शिवोपाध्याय ने क्षेमराज^{१६८} का अनुगमन करते हुए इस पञ्चकृत्यपरिशीलन से मध्य का विकास माना है।^{१६९} यद्यपि सभी सहोदर सम्प्रदायों में मध्य-विकास की धारणा का उल्लेख हुआ है, परन्तु मध्य का स्वरूप सबमें भिन्न है। शांभव उपाय द्वारा गृहीत प्रणाली में यह अहं-परामर्श रूप है, शाक्त उपाय द्वारा गृहीत प्रणाली में परा संवित् रूप है और आणव उपाय द्वारा गृहीत प्रणाली में सुषुम्णा रूप है। इस मध्य-विकास अर्थात् परा संवित् के विकास के कारण के रूप में क्षेमराज ने “शक्ति-विकास और शक्ति-संकोच” संज्ञक उपाय का उल्लेख किया है।^{१७०} शक्ति के संकोच का अर्थ है इन्द्रिय के माध्यम से बाहर फैलने वाली चेतना का अन्तर्भिमुखन और विकास का अर्थ है अन्तःस्थ शक्ति का बिना किसी क्रम के सारी इन्द्रियों के माध्यम से एक साथ बाह्य प्रसार। इसी को निमीलन-उन्मीलन समाधि कहा गया है। इसे ही यहाँ क्रमशः व्याप्ति या विकास-समाधि और सर्वात्म-संकोच भी कहा गया है।

इस शक्तिचक्र-विकास की धारणा में शक्ति के चक्रात्मक रूप की परिकल्पना है, जो पूरे काश्मीर शिवाद्वयवाद की सामान्य सैद्धान्तिक मान्यता का प्रतिफल है। काश्मीर शिवाद्वयवाद के सभी सम्प्रदाय एक स्वर से सत् को गतिशील मानते हैं। यह गति चक्रात्मक है। इसीलिए परम तत्त्व को चक्रेश्वर या “स्वशक्तिचक्रविभवप्रभव” (स्प.का.) कहा गया है। सृष्टिचक्र में पञ्चकृत्य-भेद और पञ्चकर्तृ-भेद से दस कलाएँ मानी गई हैं। इन्हें क्रमशः योनि और सिद्ध कहा गया है। स्थिति-चक्र में बाइस कलाएँ हैं : शिर में अवस्थित ओष्ठियाण, जालन्धर, पूर्णगिरि और कामरूप - इन चार पीठों के युगनाथ (कर्ता, गाता, व्यवसिता और चेता) और उनकी शक्तियाँ (क्रिया, ज्ञप्ति, व्यवसिति और चिति) = आठ(+), हृदय के षट्कोण में रहने वाले छह निरधिकार और छह साधिकार राजपुत्र (अर्थात् बुद्धि, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ) = बारह(+) और हृदय-षट्कोण

१६७. चक्षुरादिकरणेश्वरीणा . . . वृत्तिरूपतापरिहारेण शक्तिरूपतया परिज्ञानात् . . . स्वात्ममात्ररूपतया प्रस्फुरत्परमात्रात्म ज्ञानम् अवश्यं प्राप्यते। - तं.वि., ३, पृ. ६८०-८१

१६८. शक्तिसङ्कोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिताः, तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभिः प्रसङ्गात् प्रदर्श्यन्ते। - प्र.ह.(जय.), पृ. ८५-८६

१६९. मध्यविकासकारणं शक्तिसङ्कोचशक्तिकविकासोपायमाह। - वि.भै.वृ., पृ. ५७

१७०. प्र.ह.(जय.), पृ. ८५-८६।

के मध्य वर्तमान कुलेश्वर और कुलेश्वरी (अहंकार और अभिमानशक्ति) = दो। संहार-चक्र में ग्यारह कलाएँ हैं : अन्तःकरण (मन, बुद्धि, अहंकार) और दस इन्द्रियाँ। सृष्टि-कलाएँ आत्म-आश्यानी भाव की ओर आदिम औन्मुख्य की प्रतीक हैं। आविर्भूत का संहरण की इच्छापर्यन्त बने रहना स्थिति-शक्तियों का काम है। बाह्यतया आभासित पदार्थों का अपने में वासना-रूप से प्रत्याहरण संहार-शक्तियों का काम है। इनके बाद क्रम में आता है चौथा अनाख्या-चक्र,^{१११} जिसे संविच्चक्र भी कहा जाता है और जिसका अभिनवगुप्त स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करते हैं।

यहाँ पर यह ध्यान रखना है कि यद्यपि अनाख्या-चक्र शक्तिचक्र-विकास या क्रम-चतुष्टयार्थ के अन्तर्गत आता है, तथापि यह एक आत्मनिर्भर प्रत्यय है, जिस पर पूर्व के तीनों चक्र आश्रित हैं। यह अनाख्या ही सृष्टि के सन्दर्भ में व्यापिनी, स्थिति के सन्दर्भ में समना और संहार के सन्दर्भ में उन्मना कहलाती है।^{११२} चतुष्टयार्थ के सन्दर्भ में अनाख्या और भासा को एक ही माना गया है। वस्तुतः अनाख्या-चक्र को संविच्चक्र कहने का अर्थ ही है, संवित् या ज्ञान की प्रधानता। अतः प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय में प्रत्येक से सृष्टि आदि क्रम-चतुष्टय को जोड़ने पर बारह देवियाँ प्राप्त होती हैं।^{११३} चूँकि ये सारी देवियाँ विचार की आन्तरिक क्रिया हैं, साधक में निर्विकल्प चित् या शुद्ध बोध का उदय इन्हीं की शक्ति से सम्भव होता है। क्रमकेलि के अनुसार अनाख्या-चक्र की बारह कलाएँ हमें दूसरी तरह से भी प्राप्त होती हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार में से प्रत्येक कृत्य की सृष्टि, स्थिति आदि भेद से चार-चार स्थितियाँ होती हैं।^{११४}

इन द्वादश देवियों की दूसरी संज्ञा काली भी है और व्यक्ति प्रमाता के सन्दर्भ में इनका स्मरण करणेश्वरी, इन्द्रिय-शक्तियों या इन्द्रिय-स्फुरताओं के रूप में भी किया गया है।^{११५}

१११. सृष्टौ दश कलाः स्थितौ द्वाविंशतिर्भवन्ति शक्तयः।

एकादश संहारे त्रयोदश तास्तुरीयपर्वणि॥ - म.मं., गाथा ३६

११२. यदागमः

‘व्यापिनी सृष्टिकार्यस्था समना संस्थिता स्थितौ।

संहारे चोन्मना ज्ञेया शक्तिराद्या तु सर्वगा॥’ - म.प्र.(शि.), पृ. ४२

११३. स्वस्वरूपानुगुण्येन प्रत्येकं कलनावशात्।

सृष्टिस्थित्यादिभिर्भेदैश्चतुर्था अपि ताः स्थिताः॥ - म.प्र.(त्रि.) ६/१६

११४. ताश्च “इहैकैकत्र सृष्ट्यादौ चक्ररूपता विद्यते” इति श्रीक्रमकेलिकल्पस्या सृष्टिसृष्टिः, सृष्टिस्थितिः, सृष्टिसंहारः, सृष्टितुरीयम्; स्थितिसृष्टिः, स्थितिस्थितिः, स्थितिसंहारः, स्थितितुरीयम्; संहारसृष्टिः, संहारस्थितिः, संहारसंहारः, संहारतुरीयम्; इति। - म.मं.प., पृ. १००-१०१

११५. आत्मीया याः संवित्तय इन्द्रियवृत्तयः ता एव . . . प्रमात्रैकात्म्यम् अभिद्योतयन्त्यो देव्यः।

- तं.वि., ३, पृ. ६६३;

द्वादशानाम् इन्द्रियस्फुरत्तानाम्। - म.मं.प., पृ. १०१

इन बारह कालियों में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से सभी महत्त्वपूर्ण हैं, पर पञ्चकृत्यपरिशीलन से जिस मध्यधाम के विकास की कल्पना की गई है वह संहारकाली से “व्याप्ति” की अवस्था में, अर्थात् प्रमाणगत चार कालिकाओं में ही सम्भव होता है।^{१०६} व्याप्ति, अर्थात् “सर्वात्मविकास” (यह सब मेरा है)^{१०७} - रूप शुद्धविकल्प, कालानलरुद्रकाली अर्थात् प्रमातृगत स्थितिस्वरूप में ही सम्भव होता है और अलंग्रास तथा हटपाक, जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे, महाकाली अर्थात् प्रमातृगत संहारस्वरूप में घटित होते हैं। **क्षेमराज** ने *प्रत्यभिज्ञा-हृदय* में जिस क्रम-मुद्रा का उल्लेख किया है, वह इसी संवित्-क्रम में ही सम्भव हो पाती है।^{१०८} इस अनाख्या-चक्र के षोडशार, द्वादशार, अष्टार, चतुरार एवं सहस्रार आदि अनुचक्रों का भी उल्लेख हुआ है। यहाँ उनकी विस्तार से चर्चा अपेक्षित नहीं है। केवल यही द्रष्टव्य है कि इन द्वादश कालियों का यहाँ दो सन्दर्भों में उल्लेख हुआ है - पूजन-क्रम में और संवित्-क्रम में।

शक्तिचक्र-विकास का अन्तिम चक्र है भासा-चक्र। **महेश्वरानन्द** के अनुसार शक्ति का वास्तविक विकास और संकोच यही सम्भव है। विकास में पचास मातृकाएँ और संकोच में नव चक्रों (सृष्टि आदि पाँच चक्र + मूर्ति-चक्र + प्रकाश-चक्र + आनन्द-चक्र + वृन्द-चक्र) एवं पञ्च-पिण्ड का आविर्भाव होता है। इन नव चक्रों की “पीठनिकेतन” (देह का स्थूल भाव) की ओर पञ्चवाहात्मक प्रवृत्ति होती है। पञ्चवाह में परिणत होता हुआ अनुत्तर-कला में पर्यवसित विषय-जगत् पिण्ड कहा जाता है, जो वाग्भव बीज में परिणत होता हुआ पुनः अनुत्तर कला में पर्यवसित होता है।

इन शक्तिचक्रों को *क्रमसद्भाव* नामक आगम में पञ्चवाह-महाक्रम भी कहा गया है। सम्प्रदाय में प्रचलित योग और पूजन आदि के सन्दर्भ में प्रथम चार की पूजा को क्रम-पूजा तथा भासा-चक्र की अर्चना को अक्रम-पूजा कहा गया है।^{१०९} क्रम-दर्शन में संवित्-क्रम

१०६. प्रतिबिम्बमहाभोगमध्यभूमिविकासतः।

प्रमाणभूमिमाश्रित्य चतस्रः कालिकाः स्थिताः॥ - म.प्र.(त्रि.) ६/४४

१०७. ‘व्याप्तौ’ इति सार्वान्त्यप्रतिपत्त्या सर्वाक्षेपकारिणि विकाससमाधायित्वर्थः। - तं.वि., ३, पृ. ६६५

१०८. ‘क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्याद् अन्तःप्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते - इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः’ इति। अत्रायमर्थः - सृष्टि-स्थिति-संहति-संविच्चक्रात्मकं क्रमं मुद्रयति॥ - प्र.ह.(जय.), पृ. ६१

१०९. यथा श्रीक्रमसद्भावे

“पुरा यत्कथितं देव पञ्चवाहमहाक्रमम्।

तेषां तु क्रमराजानां सृष्टिरूपोऽग्रतः सदा॥

ततस्तु स्थितिसंहारमनाख्यं च ततः परम्।

भासाख्यं च ततः पश्चात् पूजयेदक्रमक्रमम्॥” - म.मं.प., पृ. १०४

या पञ्चकृत्यपरिशीलन के प्रत्यय को जो इतना महत्त्व दिया गया है, वह अकारण नहीं है। परम तत्त्व की स्वतःस्फूर्ति में केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, वास्तविक सातत्य भी है। यह सातत्य इस क्रम-संसार में क्रमिक दशाओं में अनुस्यूत परस्पर व्याप्ति की अवस्था के प्रत्यभिज्ञान से ज्ञात होता है। इस बात को इस सम्प्रदाय में अलात-चक्र और उत्पलदलशतविदलन ("कमल के सौ पत्तों को एक साथ बीधना") के रूपकों से समझाने का यत्न किया गया है। यह अन्तर्वर्ती अन्विति केवल अत्यन्त अभ्यास से या अत्यन्त तीव्र शक्तिपात से ही उपलब्ध होती है। इसका परामर्श कर पाना ही जीवन्मुक्ति है।^{१८०} तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि नामक अपने विश्रुत ग्रन्थ में कविराज इसे तान्त्रिक पूजा का चरम आदर्श मानते हैं।^{१८१}

अभिनवगुप्त शाक्तोपाय की अन्यतम प्रक्रिया के रूप में विकल्प-संस्क्रिया का उल्लेख प्रमेय-गणना करते समय पहले ही कर चुके हैं। यद्यपि भर्तृहरि के शब्दपूर्वयोग और विज्ञानवादी बौद्ध के प्रभाव में इस पद्धति की अवधारणा की गई जान पड़ती है, पर यह शाक्तोपाय की मौलिक पद्धति है। यह इस बात से प्रमाणित होती है कि सारी पद्धतियों के मूल में विकल्प-संस्कार की धारणा बीज भाव से वर्तमान है। विकल्प-संस्कार की धारणा है - विकल्प का बार-बार चिन्तन करते हुए अस्फुट से स्फुटतम तक की प्राप्ति तक इस प्रकार से गुणान्तराधान करना कि शुद्ध होकर उसका निर्विकल्प में रूपान्तरण हो जाए।^{१८२} एक बार विकल्प-संस्कार की प्रक्रिया जब प्रारम्भ होती है, तो संस्कृत विकल्प का दूसरा क्षण अपने आप संस्कृत होते चलता है, जब तक कि पूर्णतः निर्विकल्पकता-आपादन न हो जाए। स्थूल तौर पर निदर्शनार्थ इस क्रम को ऐसे रखा जा सकता है : संस्कृत (विकल्प)

१८०. इत्यमेतत्क्रमपरामर्श एवं स्वात्मविमर्शरूपो जीवन्मोक्षः। - म.मं.प., पृ. १०५

१८१. तां.वा.शा.ट्ट., पृ. ६५।

१८२. अनन्तराहिकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे। प्रविविक्षुर्विकल्पस्य कुर्यात्संस्कारमञ्जसा।। विकल्पः संस्कृतः सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम्। स्वतुल्यं सोऽपि सोऽयन्यं, सोऽयन्यं सदृशात्मकम्।। चतुर्ष्वेव विकल्पेषु यः संस्कारः क्रमादसौ। अस्फुटः स्फुरताभावी प्रस्फुटन् स्फुटितात्मकः।। ततः स्फुटतरो यावदन्ते स्फुटतमो भवेत्। अस्फुटादौ विकल्पे च भेदोऽयस्यान्तरालिकः।।

- तं. ४/२-५

जयरथ "आन्तरालिक" की व्याख्या करते हुए कहते हैं :- तथाहि अस्फुटस्फुटताभाविनोरन्तराले भ्रश्यदस्फुटत्वः एवमीषत्स्फुटत्वः अङ्कुरितस्फुटत्व आसूत्रितस्फुटतरत्वः उद्गच्छत्स्फुटतमत्वश्चेति।

- तं.वि., ३, पृ. ६२१-२२

यहाँ यह देखना मनोरंजक होगा और ज्ञानप्रद भी कि मम्मट भी, जो अपनी दार्शनिक मान्यताओं में शैवमतानुयायी हैं, विभावन आदि व्यापारों की सार्थकता उनके द्वारा किए जाने वाले रस के क्रमिक स्फुटतया प्रकाशन में मानते हैं और उसकी प्रस्तुति में वह लगभग इसी शब्दावली का प्रयोग करते हैं : वस्तुतो विभावनानुभावनसारणात्मकव्यापारत्रयवत्त्वमेव विभावनादित्वं येषां व्यापाराणां रत्यादेरीषत्प्रकाशः, स्फुटतरः प्रकाशः, स्फुटतमः प्रकाशः। - काव्यप्रकाश, चतुर्थ उद्योत (रस-प्रकरण)।

→ स्वात्मसंस्कृत (विकल्प) → स्वतुल्य अन्य आत्मसंस्कृत (विकल्प) → स्वसदृश अन्य स्वात्मसंस्कृत (विकल्प) → (आनिर्विकल्पक) शुद्ध विकल्प। इनमें भी दो संस्क्रियमाण विकल्पों के मध्य मोटे तौर पर विकल्प-संस्कार में अस्फुट, स्फुटताभावी, प्रस्फुटन, स्फुटतात्मक, स्फुटतर और स्फुटतम अवस्थाओं की कल्पना की गई है। इनमें से प्रत्येक दो दशाओं के अन्तराल में भ्रश्यत्-अस्फुटत्व, ईषत्-स्फुटत्व, अंकुरित-स्फुटत्व, आसूत्रित-स्फुटतरत्व और उद्वच्छत्-स्फुटतमत्व आदि स्थितियों की सम्भावना की गई है। स्पष्टता के लिए इन्हें एक तालिका के रूप में निम्नवत् दिखाया जा सकता है -

विकल्प-संस्कार के मुख्य सोपान

(विकल्प)



संस्कृत विकल्प



स्वात्मसंस्कृत विकल्प



स्वतुल्य अन्य (अर्थात् समनन्तरभावी) स्वात्मसंस्कृत विकल्प



स्वसदृश अन्य (समनन्तरभावी) स्वात्मसंस्कृत विकल्प

:

:



शुद्ध विकल्प

(निर्विकल्पक)

संस्क्रियमाण दो विकल्पों के आन्तरालिक सोपान

अस्फुट (विकल्प)

भ्रश्यत्-अस्फुटत्व

ईषत्-स्फुटताभावित्व

अंकुरित-स्फुटताभावित्व
 आसूत्रित-स्फुटताभावितरत्व
 उद्गच्छत्-स्फुटताभावितमत्व

स्फुटताभावी (विकल्प)

भ्रश्यत्-स्फुटताभावित्व
 ईषत्-प्रस्फुटत्व
 अंकुरित-प्रस्फुटत्व
 आसूत्रित-प्रस्फुटतरत्व
 उद्गच्छत्-प्रस्फुटतमत्व

प्रस्फुटन् (विकल्प)

भ्रश्यत्-प्रस्फुटत्व
 ईषत्-स्फुटतात्मकत्व
 अंकुरित-स्फुटतात्मकत्व
 आसूत्रित-स्फुटतात्मकतरत्व
 उद्गच्छत्-स्फुटतात्मकतमत्व

स्फुटतात्मक (विकल्प)

भ्रश्यत्-स्फुटतात्मकत्व
 ईषत्-स्फुटतरत्व
 अंकुरित-स्फुटतरत्व
 आसूत्रित-स्फुटतर-तरत्व (अर्थात्
 आसूत्रितस्फुटतरत्वातिशय)^{१८३}
 उद्गच्छत्-स्फुटतर-तमत्व

स्फुटतर (विकल्प)

भ्रश्यत्-स्फुटतरत्व

१८३. यह प्रयोग थोड़ा विचित्र है। यहाँ पर “स्फुटतर” प्रकृति से “तरप्” प्रत्यय के योग के कारण ऐसी स्थिति बनी है। कोष्ठकान्तर्गत प्रयोग अर्थबोध के स्वारस्य की दृष्टि से।

ईषत्-स्फुटतमत्व

अंकुरित-स्फुटतमत्व

आसूत्रित-स्फुटतम-तरत्व (अर्थात्,

आसूत्रितस्फुटतमत्वातिशय)^{१८४}

उद्रच्छत्-स्फुटतमत्व

स्फुटतम

सच पूछा जाए तो ये मध्यवर्ती दशाएँ उपलक्षणार्थक हैं। अन्तिम स्थिति को शुद्धविद्यात्मक माना गया है और षडङ्गयोग की चरम स्थिति सत्तर्क से इसका समीकरण किया गया है। विषय-बोध की “इदम् इदम् अस्ति” से लेकर “इदम् अहम् अस्मि” तक पहुँचने की प्रक्रिया ही विकल्प-संस्कार है। धर्म-प्रत्यभिज्ञान – “सर्वो ममायं विभवः,” और धर्मि-प्रत्यभिज्ञान – “सोऽहम्,” दोनों शुद्ध अनुसंधान रूप ज्ञानों से विशुद्ध परामर्श की प्राप्ति ही निर्विकल्प स्वरूप का आसादन है। इसकी तुलना योग के प्रातिभ ज्ञान से की जा सकती है, उसी के अनुकरण पर इसे भी प्रातिभ ज्ञान कहा गया है।^{१८५} इसका वैशिष्ट्य यह है कि समाधि की व्युत्थानावस्था में भी स्वात्मबोध की सद्यस्कता बनी रहती है। विज्ञानभैरवोद्योत में इसे मध्यदशा-विश्रान्ति-संस्कार कहा गया है।^{१८६}

जैसाकि हम पहले कह चुके हैं कि क्रम-दर्शन अपने विशुद्ध दार्शनिक स्वरूप में लिंग-पूजा, व्रत, क्षेत्र, पीठ, उपपीठ, इत्यादि के प्रति उदासीन ही रहा, किन्तु (१) तान्त्रिक विचारधारा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सामान्यतः अभ्युपगत समीकरण, (२) अन्तर्यामि की धारणा के प्रति पारम्परिक निष्ठा के कारण स्वात्मदेवता के उपास्यभाव से अंगीकरण,^{१८७} (३) करणेश्वरी-चक्र के प्रति असंदिग्ध आस्था, (४) अभिनवगुप्त के देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र में देवताओं के अधिष्ठान रूप में देह के ग्रहण और (५) बाह्य आचार के प्रति परवर्ती सम्प्रदाय के बढ़ते हुए आकर्षण का सम्भवतः परिणाम यह हुआ कि देह ने क्रम-साधना के समावृत्त उपादानों में असामान्य महत्त्व ग्रहण कर लिया। फलतः परवर्ती सम्प्रदाय में प्राप्य साधना की चार उपस्कारक पद्धतियाँ – पीठनिकेतन, वृन्द-चक्र, पंचवाह और नेत्र-त्रितय

१८४. यहाँ स्फुटतमता के तारतम्य को दिखाने के लिए “स्फुटतम” प्रकृति से “तरप्” का प्रयोग हुआ है।

१८५. इत्थं प्रातिभविज्ञानं किं किं कस्य न साधयेत्।
यत्प्रातिभाद्वा सर्वं चेत्युच्चे शेषमहामुनिः॥ – तं. १३/१४६

१८६. वि. भै. वृ., पृ. ५१।

१८७. स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्वविग्रहा। – तन्त्रराज से म. मं. प. द्वारा उद्धृत, पृ. ११६

— देह को केन्द्र मानकर प्रवर्तित की गई हैं। वस्तुतः अर्चनीय देवता-चक्र के रूप में ये चारों प्रक्रियाएँ^{१८८} एक व्यापकतर प्रक्रिया का अंग हैं।^{१८९} परिमलकार का मत है कि इस सर्वोत्तम पूजा के सम्पादन हेतु साधक को इस देह की क्रमशः पीठनिकेतन, वृन्द-चक्र और पञ्चवाह के रूप में भावना और उपलब्धि करनी चाहिए। ये पीठ के क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और पर रूपों के प्रतीक हैं।^{१९०}

पीठनिकेतन को पीठ-क्रम भी कहा जाता है। इसमें नौ कलाएँ मानी गई हैं — प्रमाता, औन्मुख्य, इन्द्रिय-रूप प्रमाण, वस्तु-व्यवस्थापन-रूप प्रमा और पञ्चभूतात्मक प्रमेय। सबसे पहले अपनी चिद्रूपता का परामर्श, फिर उस परामर्श की स्थिरता, तदनु उस परामर्श के अनुरूप स्पन्दन का अनुवर्तन, फिर उसी में और अधिक उज्ज्वलता का आधान और अन्त में आत्मविश्रान्ति-रूप तृप्ति — इस क्रम में ये कलाएँ व्याप्त होती हैं। कुछ लोग यहाँ पीठ, श्मशान, क्षेत्रेश, मेलाप और यजन इन पाँच की स्थिति मानते हैं। इन नौ कलाओं का व्योमेशी, खेचरी, भूचरी, संहारभक्षिणी और रौद्रेश्वरी रूप पञ्चवाह से अभेद है।^{१९१}

वृन्द-चक्र का सम्बन्ध हमारे सूक्ष्म शरीर से है, जिसे काश्मीर शिवाद्वयवाद में पुर्यष्टक शब्द से अभिहित किया गया है। पीठनिकेतन का सम्बन्ध मनोभौतिक पार्थिव शरीर से है और वृन्द-चक्र का सम्बन्ध सूक्ष्म लिंग-शरीर से। पुर्यष्टक की संरचना को लेकर यहाँ दो दृष्टियाँ पाई जाती हैं। मन, बुद्धि, अहंकार और पाँच तन्मात्राओं से घटित होना पुर्यष्टक-संरचना का एक प्रकार है। विकल्पतः पञ्च प्राण, ज्ञानेन्द्रिय वर्ग, कर्मेन्द्रिय वर्ग और बुद्धि से पुर्यष्टक की संरचना दूसरा प्रकार है। पुर्यष्टक का शाब्दिक अर्थ है — आठ की नगरी। वृन्द का अर्थ है समूह। वृन्द-चक्र का अर्थ है समूहों का चक्र।^{१९२} ये समूह संख्या में चौंसठ हैं — सोलह ज्ञानसिद्धों के, चौबीस मन्त्रसिद्धों के, बारह मेलापसिद्धों के, आठ शाक्तसिद्धों के और चार शांभवसिद्धों के। इन्हें शाकिनी भी कहा जाता है और

१८८. श्रीपीठपञ्चवाहनेत्रत्रयवृन्दचक्राणि स्मरत।

स्मरत च गुरुणां पक्तिं पञ्च च सृष्टिप्रमुखाः॥ — म.मं., गाथा ३६

१८९. इयं चाल्पैरेवाक्षरैः मन्त्रबीजवद् अनेकार्थोपपादनसमर्था तत्तच्चक्रक्रमानुक्रमणिकारहस्योपदर्शनी वक्ष्यमाणसर्वदेवताविकल्पसंग्रहप्राधान्याद् उद्देशलक्षणा गाथा। — म.मं.प., पृ. ८२-८३

१९०. इत्थं स्वदेहमेव पीठनिकेतनतया स्थूलं वृन्दचक्रात्मना सूक्ष्मं पञ्चवाहस्वभावतया परं च पीठतया पर्यालोच्य . . .। — तदेव, पृ. ७५

१९१. नवात्मकेऽप्यस्य प्रमातृप्रमाणोपगृहीतव्योमादिपञ्चकस्वभावत्वात् पञ्चवाहचक्रतादात्म्यं न किञ्चिदप्यतिक्रम्यते।
— तदेव, पृ. ८४

१९२. तदिदं समुदायपूर्वकं किल वृन्दक्रमचक्रमुच्यते। — म.प्र.(त्रि.) ७/२

वृन्द-चक्र को शाकिनी-चक्र। इन्ही में यदि पञ्चवाह और रौद्रेश्वरी को जोड़ दिया जाए तो क्रम-दर्शन के सत्तर रहस्य-तत्त्वों की प्राप्ति होती है। इसीलिए वृन्द-चक्र में सारे कर्म-प्रपञ्च की विश्रान्ति मानी जाती है।^{१६३} वृन्द-चक्र की चौंसठ कलाएँ समस्त विकल्प और निर्विकल्प विचार-प्रक्रियाओं की बोधक हैं, क्योंकि मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय-वृत्तियाँ (१+१+१० = १२) जब पञ्चवाह में से प्रत्येक के सम्बन्ध में गृहीत होती हैं, तो हमें साठ वृत्तियों की और जब हम उनमें सृष्टि से अनाख्या तक का अर्थचतुष्टय जोड़ते हैं, तो चौंसठ कलाओं की प्राप्ति होती है। भासा मानने वाले पैसठ कलाएँ स्वीकारते हैं।^{१६४} ये वृत्तियाँ संवित् के स्वरस से प्रवाहित हो रही हैं - यह भाव प्रत्यावृत्ति-क्रम से हटपाक की प्रक्रिया के द्वारा सम्भव होता है।^{१६५} सृष्टि, स्थिति, संहार रूप तीनों उपाधियों का प्रशम जिस स्थिति में होता है, उसे अनाख्या कहा गया है। प्रशम दो प्रकार से सम्भव है - शान्ति-क्रम से या हटपाक-क्रम से। हटपाक के लिए अलंग्रास नामक पद्धति का प्रयोग होता है।^{१६६} सच में तो मूलतः यह कुल-दर्शन की प्रक्रिया थी, पर क्रमशः मन्द शक्तिपात और तीव्र शक्तिपात के आधार पर ये प्रक्रियाएँ क्रम-दर्शन में भी स्वीकृत हुईं। यहाँ तक कि क्रम-दर्शन का अवान्तर सम्प्रदाय - महासाहसचर्चासम्प्रदाय, जिसका प्रतिपादन *वातूलनाथसूत्र* में मुख्य रूप से हुआ है - इसे अपना प्राण मान बैठा।^{१६७} वृन्द-चक्र का आठ दृष्टियों से क्रम-ग्रन्थों में प्रतिपादन हुआ है - धाम-क्रम, मुद्रा-क्रम, वर्ण-क्रम, कला-क्रम, संवित्-क्रम, भाव-क्रम, पात-क्रम और अनिकेतन-क्रम। वर्ण के लिए मन्त्र और संवित् के लिए निरीह शब्दों का प्रयोग भी होता है।

इस क्रम में अन्तिम है पञ्चवाह के रूप में देह की पर पीठ के रूप में भावना। यह देह का आध्यात्मिक भावन है। इसे पञ्चवाह-क्रम के रूप में भी उपस्थापित किया गया है। ये पञ्चवाह हैं - (१) व्योमवामेश्वरी, (२) खेचरी, (३) दिक्चरी, (४) गोचरी, और (५)

१६३. किञ्च, श्रीमन्महार्थक्रमप्रपञ्चः सर्वोऽपि वृन्दचक्रे विश्राम्यति। -

महार्थमञ्जरी का सत्तर गाथाओं में उपनिबन्धन वृन्द-चक्र के इन सत्तर रहस्य-तत्त्वों का प्रतीकात्मक विन्यास है। - *म.मं.प.*, पृ. १८७

१६४. ताः चतुष्पष्टियोगिन्योऽभेदेन यत्र वर्तन्ते सा रौद्रेश्वरीभूमिगता पञ्चषष्टितमा . . . सैव परधाराधिरूढा सामरस्यभूः। - *वि.भै.वृ.*, पृ. ६८

१६५. संवित्स्वरसवाहित्वाच्छून्यं स्थापयितुं यथा।
तथैव हटपाकेन प्रत्यावृत्तिक्रमात्मना॥ - *म.प्र. (त्रि.)* ७/३७

१६६. प्रशमश्च द्विधा शान्त्या हटपाकक्रमेण तु॥
अलंग्रासरसाख्येन सततं ज्वलनात्मना। - *तं.* ३/२६०ख-२६१क

१६७. महासाहसवृत्त्या स्वरूपलाभः। - *वा.सू.* १.; *द्रः वा.सू.वृ.*, पृ. ३

भूचरी। महा-क्रम, ख-चक्र, कुलपञ्चक, वामेशी-चक्र और वामा-चक्र इसकी अन्य संज्ञाएँ हैं। परा संवित् मानों एक बड़ी झील है, जिससे चेतना की धाराएँ फूटती हैं - इस रूपक के आधार पर इन्हें वाह कहा गया है।^{१९८} इन पञ्च वाहों के आन्तरिक क्रम को लेकर आचार्यों में मतभेद है। स्पन्द-तत्त्व या चित्-शक्ति को वामेश्वरी कहते हैं, क्योंकि यह विश्व का अन्दर-बाहर वमन करती है। जीव-प्रमाता खेचरी है, अन्तःकरण गोचरी, कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दिक्चरी और स्थूल विषय भूचरी है। इसी प्रकार वाणी के सन्दर्भ में परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी अथवा विमर्श, बिन्दु, नाद, स्फोट और शब्द से इनका समीकरण या पर्यायता बैठाई जा सकती है। इस पञ्चवाह का व्यापार द्विविध है - प्रथम तो, अनुभव और उसके आदिसिद्ध आधार के विश्लेषण द्वारा अनुभूति के मूल स्वरूप की उपलब्धि कराना; और द्वितीय है, प्रमाता, प्रमेय व उनको जोड़ने वाला प्रमाण अनिवार्यतः परम सत् के आभास रूप में, फलतः परम सत् से अभिन्न रहते हुए, प्रवाहित होते हैं - इस बात का प्रत्यभिज्ञान कराना। यही कारण है कि सभी तरह के आवरणों के क्षय के लिए यहाँ पञ्चवाह का ही उपदेश किया गया है।^{१९९}

इस प्रकार क्रम-सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक दृष्टि का विश्लेषण करने पर एक पुष्ट तान्त्रिक दर्शन के रूप में यह सम्प्रदाय उन्मिषित होता दिखाई देता है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तान्त्रिक दर्शन की पृष्ठभूमि में एक आन्तरिक ज्ञानमीमांसा का विकास हुआ है जिसकी परिणति द्वादश कालियों या संवित्-क्रम के रूप में होती है। विकल्प-संस्कार उसी की अभिव्यक्ति की दूसरी भंगिमा है। साथ ही, यह भी निष्कर्ष निकलता है कि इस दृष्टि में शक्ति-पक्ष का विशेष प्राधान्य है तथा यहाँ सत् के भेदाभेद रूप को लेकर ही सारी व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं। इसी दृष्टि से बन्ध-मोक्ष सभी का एकान्तिक रूप में निषेध किया गया है। स्पन्द-दर्शन की स्पन्दगत मीमांसा की क्रम की मूल भावना से विशेष निकटता है। इसी कारण क्षेमराज एवं उत्पल वैष्णव *स्पन्दकारिका* पर अपनी टीकाओं में स्पन्द-सिद्धान्तों की क्रम-सन्दर्भों की चाशनी के साथ विवेचना करते हैं। *शिवसूत्रविमर्शिनी*^{२००} में भी वह स्पन्द-दृष्टि का सर्वोत्तम उन्मीलन उस महार्थ की धारणा में ही पाते हैं, जहाँ पञ्चकृत्यों/पञ्चवाहों के माध्यम से शक्तियों के द्वारा शक्तिमान् का अनुबोध करने की प्रक्रिया का निरूपण है। इसी प्रकार कुल-सम्प्रदाय का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर

१९८. खेचर्यादिमहास्रोतोवाहप्रसरकारणे॥

स्वच्छत्वादिगुणैर्युक्ते स्थानन्दभरिते हृदे। - शि.सू.वा. (वरदराज) ३/६१ख-६३क

१९९. एतस्य ज्ञप्तिमात्रेण देहाद्यावरणक्षयः।

पूजनेन तु संरुद्धितः पूज्यतमं हि तत्॥ - म.प्र. (त्रि.) ३/१३०

२००. शि.सू.वि., पृ. २१/२३।

होता है। **अभिनवगुप्त** *तन्त्रालोक* में शाक्तोपाय के सन्दर्भ में जब निषेधविधितुल्यता की बात करते हैं, वहाँ जिस कुल के प्रतिपक्ष में त्रिक को प्रस्तुत करते हैं उस कुल से तो क्रम को श्रेष्ठ ही सिद्ध किया गया है, पर बाद में जिस कुल को वह सबका साररूप सिद्ध करते हैं, वह पूरी तन्त्र-प्रक्रिया से उत्कृष्ट है।^{२०१} अतः क्रम-ग्रन्थों में कुल-मत के प्रभाव में पीठ, अनुष्ठान, ओवल्ली, घर, पल्ली आदि धारणाओं का अंगीकरण किया गया तथा युगनाथों एवं राजपुत्रों की परम्परा को स्वीकारा गया। जैसाकि अन्यत्र देख चुके हैं, कुल की अवधारणा तन्त्र की वैचारिक रीढ़ बनकर उभरी थी और इस कारण समस्त तान्त्रिक चिन्तन का अन्तःसत्त्व मानी जाने लगी थी, फलतः कुल का प्रभाव इतना बढ़ गया कि क्रम-ग्रन्थों को भी कुल-ग्रन्थ कहा गया।^{२०२} यहाँ तक कि क्रमाचार्यों ने जहाँ कहीं भी सम्भव हुआ, क्रम-दृष्टि में कुल-सिद्धान्तों का विनियोग करने का प्रयास किया।^{२०३} इसी प्रकार कुल-मत में भी क्रम से अनेक तत्त्वों का आदान हुआ, बारह कालियों या संविदेवियों का सिद्धान्त कुल-मत द्वारा शक्ति-चक्र के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया। इसी तरह अनाख्या-क्रम को कुल-मत में मान्यता दी गई।^{२०४} इसी प्रकार त्रिपुरा-सम्प्रदाय और क्रम सम्प्रदाय के मध्य भी विचारों का पर्याप्त विनिमय हुआ है। इन दोनों में साम्य का आधार है - शक्ति के प्राधान्य को स्वीकारना। *शितिकण्ठ* के *महानयप्रकाश* में साम्य-स्थापन की यह चेष्टा अधिक मुखरित हुई है। उनके अनुसार महार्थ का विस्तार पीठ-चक्र से समयविद्या-पर्यन्त है। इस समयविद्या में सारे क्रम-रहस्य समाहित हैं।^{२०५} इसीलिए वह अनाख्या और भासा को क्रमशः अनाख्या-समयेश्वरी और भासा-समयेश्वरी कहते हैं।^{२०६} इसी तरह वृन्द-चक्र उनकी दृष्टि में श्रीचक्र है। सम्भवतः श्रीचक्र की कल्पना ने ही वृन्द-चक्र की धारणा को प्रेरित किया। त्रिपुरा की भी कालसंकर्षिणी से एकात्मता दिखलाने का प्रयास किया गया है। **जयरथ** तो कुल के साथ भी त्रिपुरा की एकरूपता दिखलाने का प्रयास करते हैं।^{२०७}

२०१. कुलप्रक्रियायाः प्रक्रियान्तरेभ्यः प्राधान्यात्। - *तं.वि.*, २, पृ. २४

२०२. एतत् वितत्य विख्यातैः क्रमकेलौ कुलागमे। - *म.मं.प.*, पृ. १८३

२०३. क्रमनयसोदरतामस्य दर्शनस्य आवेदयति। - *तं.वि.*, ३, पृ. ७७३

२०४. *तं.वि.*, २, पृ. ५८७-६०।

२०५. अन्यक्रमेषु समप्राधान्यभावात् प्रतिचक्रं समयविद्योपदेशो दृश्यते, अस्मिंश्चातिनयसारसर्वस्वे क्रमार्थे यच्चरमस्थानं तत्रैव सर्वेषां क्रमाणां विश्रान्तत्वात् तस्यैव प्राधान्यात् एकैव समयविद्या।

- *म.प्र. (शि.)*, पृ. १२६

२०६. सैव शुद्धा अनाख्यसमयेश्वरी . . . भासासमयेश्वरी च भवन्ती . . . सौभाग्यकरी च भवति।

- तदेव, पृ. १२८

२०७. पराहंपरामर्शचमत्कारमयी शक्तिरेव अस्मद्दर्शने विश्रान्तिधामतया एष्टव्या यैव स्पन्दस्फुरतासारोर्मि-हृदयसद्भावसंकर्षिणीत्रिपुरादिशब्दैस्तत्र तत्र सर्वत्र उद्घोष्यते। - *वा.म.वि.*, पृ. १०३

इसी प्रकार त्रिपुरा-सम्प्रदाय ने भी क्रम से अनाख्या की धारणा, क्रमचतुष्क की दृष्टि, सत्तर्क, प्राकृत-भाषा के प्रति लगाव आदि वैशिष्ट्यों को ग्रहण किया।

इन सजातीय सम्प्रदायों के अतिरिक्त कुछ सजातीयेतर दृष्टियों का भी क्रम पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, जैसे बौद्ध तन्त्रों का इस सम्प्रदाय की अनेक मूलभूत मान्यताओं पर विशेष प्रभाव है। षडङ्गयोग की धारणा, अपोहन एवं क्षणिकवाद के सिद्धान्त तथा शून्यता-सिद्धान्त का क्रम-सन्दर्भों में प्रभूत दोहन किया गया है। सत्तर्क को क्रम-योग का श्रेष्ठ अंग दिखलाने के प्रसंग में इस षडङ्गयोग की धारणा को, विकल्प-संस्कार की धारणा में अपोहन व क्षणिकवाद के प्रत्ययों को, विकल्प-संस्कार की फलश्रुति रूप निर्विकल्पीकरण में बौद्ध न्याय की स्फुटाभत्व की अवधारणा को तथा अनाख्या के सिद्धान्त में शून्यतावाद का अवलम्बन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इसी तरह **भर्तृहरि** द्वारा प्रतिपादित शब्द-संस्कार या शब्दपूर्व-योग की धारणा यहाँ की विकल्प-संस्कार की धारणा का दूसरा प्रभावी प्रेरणा-स्रोत है, काल-शक्ति या क्रम-शक्ति की धारणा को आधार बनाकर काल-संकर्षणी या काली के प्रत्यय की सन्मीमांसीय (**ऑन्टोलॉजिकल**) संघटना को निरूपित किया गया है। इसी प्रकार **भर्तृहरि** के दर्शन में अनुमन्य वाक् या शब्द-तत्त्व की त्रिविध अवस्थाओं को आधार बनाकर वाक् के चतुर्विध या पञ्चविध सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है। इस आदान-व्यापार के अतिरिक्त विनिमय-प्रक्रिया के दूसरे छोर पर क्रम-सम्प्रदाय का सबसे प्रमुख योगदान यह है कि इसकी मूल क्रम-दृष्टि का प्रभाव शाक्त, शैव, वैष्णव, बौद्ध सभी सम्प्रदायों पर समान रूप से पड़ा। जैसाकि सुविदित है कि इन सभी दार्शनिक परम्पराओं का तान्त्रिक आयाम भी उतना ही सशक्त है। फलतः इन सभी सम्प्रदायों में “क्रम” का आश्रय लेकर ग्रन्थों की रचना हुई। आज अनेक क्रम-रचनाएँ मिलती हैं जिनमें **शंकर** की **क्रमस्तुति**, **केशव भट्ट** की **क्रम-दीपिका**, अज्ञात लेखकों की **क्रमोत्तम**, **क्रमरत्न**, **क्रमरत्नमाला**, **क्रमसंग्रह**, **क्रमसन्धान**, **क्रममालिका**, **श्रीक्रमसंहिता**, **क्रमवासना** आदि प्रमुख हैं।

इस क्रम-सम्प्रदाय के साहित्य के विश्लेषण से उत्तर-काल में कई प्रवृत्तियाँ रूप ग्रहण करती दिखाई देती हैं, जैसे **वातूलनाथसूत्राणि** से साहस की तथा **छुम्मा-सम्प्रदाय** से छुम्मा नामक उपवर्गों की जानकारी मिलती है। **वातूलनाथसूत्र** के अनुसार स्वरूपलाभ का एकमात्र साधन महासाहसवृत्ति है।^{२०८} इसीलिए टीकाकार **अनन्तशक्तिपाद** इस सम्प्रदाय को “महासाहसचर्चासम्प्रदाय”^{२०९} कहते हैं। साहस का अभिप्राय है अकस्मात् और हठात् घटना। अतः शैव दृष्टि से महासाहसवृत्ति है - अतितीव्रातितीव्रतर शक्तिपात के कारण

२०८. महासाहसवृत्त्या स्वरूपलाभः। - वा.सू. १

२०९. वा.सू.वृ., पृ. ३।

बिना किसी पूर्व योग्यता के, बिना किसी पूर्व प्रयास के अचानक स्वरूप लाभ।^{२१०} इसी साहस के प्रत्यय में हठपाक व अलंग्रास की धारणाएँ भी अनुस्यूत हैं। इससे क्रम के कुलौन्मुख्य या कुल में पर्यवसिति का पोषण होता है।^{२११} वृन्द-चक्र के प्रकरण में आठ दृष्टियों का विधान हुआ है, जिनमें एक है मुद्रा-क्रम। उसके अधीन पाँच मुद्राएँ आती हैं, जिनमें खेचरी ही सर्वोत्कृष्ट है।^{२१२} और जिसका सम्बन्ध शांभवसिद्धों से है। अभिनवगुप्त स्वयं इसे साहस से जोड़ते हैं।^{२१३} अनन्तशक्ति इसी खेचरी मुद्रा या दृष्टि को साहस-सम्प्रदाय का प्राण मानते हैं।^{२१४} इसीलिए कहीं-कहीं यह साहस-मुद्रा भी कही गई है।^{२१५}

दूसरा उप-सम्प्रदाय छुम्मा या छुम्मा सम्प्रदाय है। इसी से एक परवर्ती अप्रकाशित कृति, जिसका नाम भी छुम्मासम्प्रदाय है, का सम्बन्ध जोड़ा जाता है।^{२१६} छुम्मा शब्द का अर्थ कुछ अस्पष्ट सा है। इस ग्रन्थ में भी यह शब्द एक प्रकार से अव्याख्यात सा रह गया है। तन्त्रालोक में छुम्मा शब्द का दो बार प्रयोग आता है, पर वहाँ इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है।^{२१७} एक जगह तो छुम्मा-विधान को स्वीय और पर सम्प्रदाय के भेद से भिन्न कहा गया है और अन्यत्र द्वादशान्त आदि चक्र स्थानों से एकाकार बताया गया है। क्षेमराज स्वच्छन्दतन्त्र पर अपने उद्योत में इसको समझाने का प्रयास करते हैं। उनके अनुसार यह अपने सम्प्रदाय विशेष की पारिभाषिकी संज्ञा है।^{२१८} इस संज्ञा का मुख्य अभिधेय है - उस सम्प्रदाय की विशिष्ट गोप्य साधना-पद्धति को सुरक्षित रखना। अतः

२१०. अतितीव्रतितीव्रतरविशृङ्खलशक्तिपाताघ्रातस्य स्वस्वरूपसमाविष्टस्य कस्यचित् क्वचित् कदाचित् अकस्मादेव महासाहसवृत्त्या . . . निरावरणमहाशून्यतासमावेशनिष्ठया स्वरूपलाभः . . . भवति इति रहस्यार्थः।
- वा.सू.वृ., पृ. २

२११. इति शाम्भवोपायानुगुणहठपाकयुक्त्या। - शि.सू.वि., पृ. ५०

२१२. एका मुद्रा खेचरी व मुद्रौघः प्राणितो यया। - तं. ३२/६४ब

२१३. सर्वत्र खेचरदृशा प्रविराजते यत् तत्रैमि साहसवरं गुरुवक्त्रगम्यम्। - वा.सू.वृ., मंगल श्लोक १

२१४. साहसानुप्रवेशेन कुञ्चितं हस्तयुग्मकम्।

अधोवीक्षणशीलं च सम्यग्दृष्टिसमन्वितम्॥

वीरभैरवसंज्ञेयं खेचरी बोधवर्धिनी। - तं. ३२/६१-६२क

२१५. साहसमुद्रानुप्रवेशेन झटिति स्वात्मानं पातयन्निव यदा वर्धितबोधो भवेत् . . .।

- तं.वि., ७, पृ. ३६२२-२३

२१६. देखिए परिशिष्ट।

२१७. तं. ४/२६८, २६/३७।

२१८. छुम्मा का तत्समयानुप्रविष्टसंचित्या पारिभाषिकी संज्ञा। - स्व.तं.उ., पृ. १२६

ऐसा लगता है कि यह उपर्युक्त इस सम्प्रदाय की रहस्यात्मक साधना-विधि से ही सम्बद्ध है।^{१९८} साधक के अपने सम्प्रदाय की पहचान कराने वाले विशेष प्रकार के प्रतीक-चिह्नों को छुम्मा कहा जा सकता है। छुम्मासम्प्रदाय द्वारा छुम्माओं को दो वर्गों में बाँटा गया है - पर्यन्त-छुम्मा तथा पर-छुम्मा। इसमें पर्यन्त-छुम्मा को साहस-सम्प्रदाय से जोड़ा गया है।^{१९९} इस आधार पर साहस-सम्प्रदाय और छुम्मा-सम्प्रदाय में घनिष्ठ अन्तरंगता लगती है।

इसके अतिरिक्त यहाँ विविध अवधारणाओं के सन्दर्भ में भी अनेक मत-मतान्तर उपलब्ध होते हैं। सबसे पहले पर तत्त्व के स्वरूप को लिया जा सकता है। उसे लेकर यहाँ दो भिन्न मत मिलते हैं। दृष्टि की यह द्विविधता प्रारम्भ से ही क्रम-आगमों में विद्यमान है। यह है - देवी या शक्ति-केन्द्रित दृष्टि तथा शिव-केन्द्रित दृष्टि। सोमानन्द से सम्बद्ध परम्परा के आचार्य शिव-केन्द्रित दृष्टि के अनुयायी हैं,^{२००} जबकि उनसे भिन्न परम्परा के आचार्य देवी या काली को ही पर-तत्त्व मानने के पक्षधर हैं। पहली प्रतिबद्धता को लेकर ही इस सम्प्रदाय के लिए कालीनय संज्ञा प्रचलन में आई। सामान्यतः शिवाद्वयवाद में सत् के प्रकाश एवं विमर्श पक्षों के बीच यथार्थ सम्बन्ध की समस्या ही क्रम-सन्दर्भों में विपरिणत होकर इन दो दृष्टियों का भेष धारण करती है। प्रकाश-पक्ष जहाँ परमेश्वर, मन्थान या मन्थान-भैरव कहा गया, वहीं शक्ति या विमर्श-पक्ष काली, देवी या कालसंकर्षिणी कहा गया। जिन्होंने शिव को पर-तत्त्व माना, उन्होंने शक्ति को उसका स्वभाव या अकृत्रिम धर्म मानते हुए उसे धर्मी की अपेक्षा एक प्रकार से गौण माना और जिन्होंने शक्ति को पर-तत्त्व कहा, उन्होंने शिव को उसका आश्रय कहकर भी शिव को अपने तई ऊर्जारहित बताकर उसकी तुलनात्मक अवरता का संकेत दिया। शिव के पर-तत्त्व होने पर भासा एवं अनाख्या उसके व्यापार कहे गए तथा पञ्च-वाहों में व्योमेश्वरी या व्योमवामेश्वरी उसी से निःसृत मानी गई। इस दृष्टि के अनुयायी संविच्चक्रम में द्वादश कालियों के ही सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। साथ ही ये वृन्द-चक्र में पञ्चवाहों की गिनती न कर चौंसठ पक्ष ही मानते हैं।

२१६. अथ समयमध्ये समयिनां तान्त्रिकव्यवहारगोपनेन निर्विघ्नसिद्धिसम्पत्त्यर्थं प्राक्प्रमेय-शेषतया पटलभारभमाणशुक्लकाशर्मपर्याय-पारिभाषिकसंज्ञाभिलोकोत्तरव्यवहारप्रवर्तनेन गूढतया शास्त्रस्य अस्य रहस्यतां दर्शयितुम् . .।
- तदेव, पृ. १२५

२२०. महापर्यन्तसम्बोधपरछुम्ममहोदयः। नानादर्शनसम्भूतचर्चाभिः महाद्रुतः॥ वक्त्राद्वक्त्रक्रमोद्धृतसाहसग्राह्यो महाद्रुतः। कालाकालोभयोऽल्लाससंक्षयात्सततोदितः॥ - छुम्मासम्प्रदाय, (पाण्डुलिपि), शोध संस्थान, जम्मू एवं काश्मीर, सं. २, पृ. ६ (देखिए, परिशिष्ट, "पर्यन्तछुम्म" के अन्तर्गत, पृ. १२९)।

२२१. अनर्गलस्वात्ममये महेशे तिष्ठन्ति यस्मिन् विभुशक्तयस्ताः।

तं शक्तिमन्तं प्रणमामि देवं मन्थानसंज्ञं जगदेकसारम्। - क्र.स्तो. (अभि.), २८

इसके विपरीत शक्ति की प्रधानता के प्रतिपादक मत में भासा या अनाख्या को परम सत् से एक रूप कहा गया। व्योमवामेश्वरी नामक वाह को भी उसी का स्वरूप अथवा पर्याय बतलाया गया। साथ ही यहाँ संविच्चक्र या अनाख्या-चक्र में त्रयोदश कालियों का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया। अन्तिम काली को द्वादश कालियों की समष्टिरूपा माना गया। फलतः वृन्द-चक्र के भी पैसठ पक्षों की कल्पना की गई, अर्थात् इस दृष्टि में शक्ति रूप परम सत् को सारे प्रकरण का व्यापक तत्त्व बनाया गया, जबकि शिव-केन्द्रित दृष्टि में वह शिव की व्याप्य रही।

इन्हीं दो दृष्टियों के परिप्रेक्ष्य में ही यहाँ पञ्चार्थ एवं चतुष्टयार्थ के सिद्धान्त प्रचलित हुए। शक्ति की प्रधानता मानने वालों ने पञ्चार्थ का सिद्धान्त प्रतिपादित किया और शिव की प्रधानता मानने वालों ने चतुष्टयार्थ का। इसी से अनुपक्त दो तरह की प्रवृत्तियों का भी पल्लवन हुआ। वस्तुतः प्रवृत्ति-विशेष के अंगीकरण ने पद्धति-विशेष को जन्म दिया। पहली प्रवृत्ति है क्रम-चतुष्टय की धारणा के द्वारा सारी विचारधारा को अन्तर्गर्भित करने का प्रयास। इस पक्ष में पाँचवें कृत्य भासा या अनुग्रह का तिरोधान या अनाख्या में अन्तर्भाव कर लिया जाता है; पाँचवीं शक्ति चित्, चौथी शक्ति आनन्द में अन्तर्भूत या अनुवृत्त कर ली जाती है; पञ्चकृत्यों की जगह चार कृत्यों की ही कल्पना की जाती है; पञ्चवाहों की जगह चार वाहों की स्थिति का अभ्युपगम होता है; पाँच चक्रों की जगह चार चक्रों की कल्पना की जाती है; वाक् की पाँच की जगह चार अवस्थाओं की प्रकल्पना की जाती है। दूसरी दृष्टि है पञ्चकात्मक दृष्टि के द्वारा सारा विवेचन करने की। पञ्चकात्मक दृष्टि वाले सर्वत्र पाँच की कल्पना करते हैं। चतुष्टयात्मिका दृष्टि में चौथी स्थिति बाकी तीन का संश्लिष्ट रूप है, अतः यहाँ पर-तत्त्व अनाख्या संज्ञा से कहा जाता है, भासा संज्ञा से नहीं। क्रम-चतुष्टय की स्थिति क्रम-सम्प्रदाय की प्रिय धारणा रही है, पर पञ्चार्थ की दृष्टि भी यहाँ प्रायः उतनी ही प्रिय रही है। इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

इनके अतिरिक्त यहाँ कुछ अन्य बिन्दुओं पर मतभेद भी दिखाई देता है, जैसे अनाख्या-चक्र में पूज्य देवियों की निश्चित संख्या क्या हो; पूजन-क्रम में पञ्चकृत्यों का क्रम क्या हो; क्रम-सम्प्रदाय में युगनाथों तथा राजपुत्रों को ग्रहण किया जाए या नहीं; पञ्चवाहों का सही क्रम क्या हो; पञ्चवाहों के साथ प्रकाश, आनन्द व मूर्ति-चक्रों का समन्वय हो या नहीं; प्रकाश, आनन्द व मूर्ति-चक्रों का क्रम क्या हो; वृन्द-चक्र के निश्चित रूप से कितने पक्ष हों; उसमें मुद्राएँ क्या हों और मुद्रा-क्रम क्या हो; वाक् की अवस्थाएँ, स्वरूप एवं संख्या क्या हो? आदि।

इस प्रकार क्रम-सम्प्रदाय के इस विहंगम अनुशीलन से यह निःसन्देह प्रकट होता है कि यह अपने समय की एक जीवित परम्परा थी, जिसके विकास और रूपायन पर युगीन

स्थितियों और विचारों का बराबर प्रभाव पड़ता रहा, फलतः इसमें विविध प्रवृत्तियों का अंकुरण और विकास होता रहा। ये क्रम तथा कुल दृष्टियाँ त्रिक दृष्टि के साथ मिलकर काश्मीर की तान्त्रिक संस्कृति में प्रचलित अद्वयवादी दृष्टि के समग्र को प्रस्तुत करती हैं। स्पन्द तथा प्रत्यभिज्ञा, जो कि दार्शनिक विवेचन प्रधान दृष्टियाँ हैं, इन्हीं मूलभूत दृष्टियों से ही विकसित हुईं प्रतीत होती हैं। सम्भवतः इसी कारण **अभिनवगुप्त** अपने *तन्त्रालोक* में तान्त्रिक विचारधारा को व्यक्त करने वाली जिन प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करते हैं, उनमें स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा का वे स्वतन्त्र पृथक् रूप से प्रतिपादन नहीं करते। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय तो सारे काश्मीरी शिवाद्वैत का तार्किक और वैचारिक निचोड़ है, जबकि स्पन्द सम्प्रदाय सत् की सतत गतिशीलता-रूप केन्द्रीय मान्यता की तत्त्वमीमांसीय संरचना को स्वर देने वाला सम्प्रदाय है। अतः, अन्ततः, **अभिनवगुप्त** की दृष्टि को ही आधार बनाकर हम त्रिक के साथ क्रम एवं कुल मतों को ही तान्त्रिक अद्वैत के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। काश्मीर शिवाद्वयवाद को त्रिक की संज्ञा से अभिहित किए जाने के पीछे पारम्परिक अभिनिवेश का यही रहस्य जान पड़ता है। यहाँ यह त्रिक उस त्रिक से भिन्न है, जो एक सम्प्रदाय विशेष की संज्ञा है।

परिशिष्ट

१. छुम्मा-सम्प्रदायः
२. कुलसूत्राणि
३. षोडशस्वरकला
४. शैवाष्टककोशः
५. ज्ञानक्रियाद्वयशतकम्



निष्क्रियानन्दनाथविरचितः

छुम्मासम्प्रदायः

छुम्मा-सम्प्रदाय तथा छुम्मासम्प्रदायप्रकाश या छुम्मासंकेतक दो कृतियाँ अभी भी हस्तलेखाकार ही हैं। १९६३ के ग्रीष्मावकाश में जब मैंने इसका अध्ययन करना चाहा था, उस समय कश्मीर के राजकीय शोध-विभाग के भविष्यत् प्रकाशनों में इसका नाम था। स्व. पं. दीनानाथ यक्ष के सौजन्य से मुझे हस्तलिखित प्रति देखने और अनुलेखन के लिए मिली थी। मातृका संख्या थी १५१। छुम्मासम्प्रदाय के लेखक का नाम ग्रन्थ में कहीं नहीं है पर सूचीबन्धन (कैटलॉग) में यह पुस्तक निष्क्रियानन्दनाथ की कृति के रूप में उल्लिखित है। शिवोपाध्याय के प्रामाण्य से (वि.भै.वि. पृ. ६७; द्र. क्रम.तां., पृ. १०२) यह सूचना सही जान पड़ती है। लिपि नागरी है, मातृका में १३ पत्रे (फोलियो) हैं और ७४ उपखण्डों, जिन्हें हम सुविधा के लिए सूत्र कह सकते हैं, में इसकी विषय-वस्तु विभक्त है। उपखण्डों का कोई निश्चित आकार नहीं है। सामान्यतः उपखण्डों का प्रारम्भ काश्मीरी भाषा में शीर्षक या उद्घाटक सूत्र से होता है। तदनु संस्कृत कारिकाओं से विषय का प्रतिपादन होता है और अन्त में सूत्र-व्याख्यान का समापन काश्मीरी भाषा के छन्द से होता है। परन्तु ऐसा ७४ में से केवल २३ सूत्रों में हो पाया है। इनमें से भी सूत्र संख्या १९, २०, २२, २३, २४, २६, ३२, ३५, ३७, ३९ के अन्तर्गत काश्मीरी भाषा की कारिकाएँ उपलब्ध नहीं हैं, क्योंकि मातृका से प्रतिलिपि उतारते समय मैंने इन अंशों को अज्ञानवश अनावश्यक समझकर छोड़ दिया था। (इन स्थलों को बिन्दुरेखा (डॉटेड लाइन) से सूचित किया गया है।) अन्ततः उपखण्ड का समापन “कथा”-विशेष से होता है। पर व्यवहार में केवल २२ स्थलों पर ही ऐसा देखने में मिलता है। ७४ के बाद का अंश उपलब्ध न हो पाने के कारण कहना होगा कि मातृका असम्पूर्ण है। लेख सुपाठ्य है और कतिपय स्थलों पर ही संशोधन की आवश्यकता हुई है।

छुम्मासम्प्रदाय पर छुम्मासंकेत-प्रकाश या छुम्मा-संकेतक नाम की निष्क्रियानन्द कृत एक टीका भी थी, परन्तु वह पं. यक्षजी की अपनी सम्पत्ति थी (विशेष विवरण

के लिए देखें, क्रम.तां., पृ. १०२।) और लगता है कि कश्मीर के आतंकवाद में राख हुए उनके मातृकागार के साथ ही यह मातृका भी राख हो गई। पं. यक्ष की सूचना के अनुसार, मातृका की लिपि शारदा थी। सूत्र प्राकृत में थे, जिन पर संस्कृत में टीका की गई थी। मुझे ऐसा लगता है कि वस्तुतः छुम्मासम्प्रदाय और छुम्मासम्प्रदायप्रकाश दोनों पुस्तकें परस्पर संकीर्ण हो गई हैं और वर्तमान कृति से एकाकार हैं। मेरे सम्भावनानुमान का आधार है सूत्रों का प्राकृत में होना और उनका व्याख्यान या प्रपञ्चन संस्कृत में। सूत्र-भाग की संज्ञा छुम्मासम्प्रदाय और व्याख्या-भाग की छुम्मासङ्केतप्रकाश। छुम्मासङ्केतप्रकाश की पं. यक्ष के अनुसार पुष्पिका इस प्रकार थी -

कालाकालकलाकलापविभवं संभक्ष्य चिद्वृत्तितो
भित्वाज्ञानमहान्धकारमभितः सम्यग्दयातत्त्वतः।
उद्घाट्यांशुनिरुत्तरोत्तरदृशा च्छुम्माख्यसङ्केतके
भेदाभेदविवर्जिते निरुपमे प्रोच्चैः प्रकाशः कृतः॥
इतिच्छुम्मासङ्केतप्रकाशः श्रीनिष्क्रियानन्दप्रकाशितः सम्पूर्णः।

निष्क्रियानन्द का पूरा नाम निष्क्रियानन्दनाथ था, यह बात शिवोपाध्याय द्वारा लेखक के नामोल्लेखन पूर्वक उद्धृत कारिकाओं (वि.भै.वि., पृ. ६७) से पता चलती है। शिवोपा याय की भाषा से दो सम्भावना-विकल्प जन्म लेते हैं। एक, निष्क्रियानन्द की पारिभाषिक शब्दावली में ज्ञानसिद्धों आदि की मुद्रा “करङ्किणी” न होकर “कराङ्किणी” थी और उसके प्रामाण्य में वह छुम्मासम्प्रदाय (या छुम्मासङ्केतप्रकाश?) से कारिकाएँ उद्धृत करते हैं। दो, निष्क्रियानन्द के पास जो विज्ञानभैरव का पाठ था उसकी ७७वीं कारिका में शिवोपाध्याय “करङ्किण्याः” के स्थान पर “कराङ्किण्याः” पढ़ते हैं और इसके अनुमोदन में वह “कराङ्क” पाठ वाली निष्क्रियानन्दनाथ की कारिकाएँ उद्धृत करते हैं। पहला विकल्प अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है।

* परतरमनिकेतं तत्त्वमार्गस्थितं ते
निरुपमपदछुम्मासम्प्रदायं समन्तात्।
स्वरसवशतयाहं त्वत्कृपाप्रातचित्तः
प्रकटतरवचोभिर्दर्शयाम्याशु नूनम्॥

[१]

* कथा/सूत्र के अन्त में विरामों के बाद कोष्ठक में क्रमाङ्क संख्या हमारी है। जहाँ कोष्ठक के बिना संख्याङ्क हैं, वे मातृका में मिलते हैं। दाईं ओर अन्त में बड़े कोष्ठक में दी गई संख्या आद्यन्त मंगलाचरण सहित वास्तविक आनुपूर्वी को द्योतित करने का सम्पादकीय उपक्रम है।

अनिकेत पुस्तककथा। * *

लिङ्ग अभिज्ञानु ॥ १ ॥

यत्रेमाः संविदः सर्वाः सबाह्याभ्यन्तरोदिताः ।
अस्पर्शपरमाकाशनिर्निकेतं परं शिवे ॥ १ ॥
व्यक्ताव्यक्तपदातीते निःस्पन्दानन्दसुन्दरे ।
लीयन्ते क्रमयोगेन तल्लिङ्गं संस्मृतं परम् ॥ २ ॥
सर्वातिगं तदेवोच्चैः प्रथितं सर्वगत्यतः ।
स्वाभिज्ञानतया नित्यं जगत्त्रितयभेदतः ॥ ३ ॥

निजपरशक्तिसमूहसमग्गो
अकमु महौघे अवाधि अशाधि ।
सपराक्को पशमेति अभग्गो
वभवसाहसकोश अ अनाधि ॥ (१)

[२]

साहसकथा ।

अरणिसमुदायु ॥ २ ॥

शिवस्याभिन्नरूपेयं शक्तिरक्रमतः परा ।
प्रोदिता परमोन्मेषरूपा स्वच्छन्दचारिणी ॥
तयोररणिमन्थानः सामरस्यमहोदयः ।
संघट्टो यस्ततो जाता निष्कामा दृष्टिरव्यया ॥

बहि या झिति राजनिच्चुगगनि
तारा च अशशि दिनकरयुत्त ।
तारिवति अपरिशचिन्तभ सदनि
विकचरश्मिबिन्दु अच्छुत्त ॥ (२)

[३]

** यह पंक्ति सबसे पहले, यहाँ तक कि मंगलकारिका के पूर्व, आती है, पर ग्रन्थ की प्रकृति को देखते हुए, इसे मंगलकारिका के अन्त में रखना उचित होगा। यह भी कहना कठिन है कि पहली दो पंक्तियाँ मंगलकारिका हैं या उपोद्घातीय कथा/सूत्र। अनिश्चय की स्थिति में हमने अन्तरिम तौर पर इन्हें मंगल-कारिका कहा है।

वृन्दकथा ।**चक्रेशीमेलक ॥ ३ ॥**ततोऽनल्पचिदुल्लासो^१ येन सृष्टेरनन्तरम् ।

निरावरणनिर्धामपरमाकाशवृत्तयः ॥

चक्रेश्वर्यो रश्मिरूपा देवताः कुलवर्जिताः ।

निर्निकेतपदे(५)द्वैते^२ मिलिता व्याप्तिसंयुताः ॥

उदयं चक्करणावलि भागे

निरवधि निजमरीचिमरु उदयि ।

सोनिद उदयादिकमे अविभागे

व्यविशशाम उभजवानो अनयि ॥ (३)

[४]

द्वादशवाहकथा ।**कालग्रास ॥ ४ ॥**

सृष्ट्यादिकलनारूपो यत्राक्रमचिदम्बरे ।

कालः संहारमाप्नोति कालग्रासः स उच्यते ॥ (४)

[५]

करणकुसुमति ॥ ५ ॥

चिदानन्दमयोल्लासमिच्छाज्ञानक्रियात्मकम् ।

करणानां वपुर्यत्र पूजार्थं पुष्पतां गतम् ॥

यो पञ्चपञ्चरूपबहिःअन्दरि

क्षितिमभिचीये निचुसमभागे ।

रू अपग्नहृष्टो नितिचिम्मन्दरि

यथे अमनअमेय छुन्दरि सभावे ॥ (५)

[६]

पञ्चामरकथा ।

१. ०दुलासो ये० - आ. ।

२. ०पदे द्वैते - आ. ।

मनुमतिपरिचारुक ॥ ६ ॥

(छन्दा० १)

ग्राह्यग्राहकविस्फारद्वन्द्वमेलापके परे ।

महाभैरवसंघट्टसामरस्यपदे समे ॥

मनोमती तु तत्रैव परिचारकतां गते ।

निरावरणचिद्धाम्नि . . . ॥

दीरचयसि अक्षेशरिनिचये

समि आमेलत्य हनि रहेतु ।

यो अविरत्तथ्योनिरुपम

अकमनये सो संघट्टदुजयून अचेतु ॥ (६)

[७]

सङ्घट्टकथा ।

अहमितिघट्टन ॥ ७ ॥

तदा मितामितस्योच्चैरहङ्कारस्य घट्टनम् ।

उल्लङ्घनक्रमः कोऽपि विभाति कलनोज्झितः ॥

अकममरीचिनिचययुसरसनेकमपरिपाटीसदितु अमेयु ।

उल्लङ्घिति निजपदु अमनमने वितजिपरमाकाश आवेयु ॥ (७)

[८]

उल्लङ्घनकथा ।

फलनिर्वाणु ॥ ८ ॥

क्वचित्रिरुत्तरपदे दृष्टतत्त्वस्य सर्वदा ।

फलादहेतुकोल्लासादूहानिर्वाणवाग्भवेत् ॥ (८)

[९]

रपि एकायत्र ॥ ९ ॥

यतस्ततस्तु सर्वत्र सर्वकर्म यथा तथा ।

कुर्वन्निरामयो व्यापी क्रीडत्येकायनोऽव्युतः ॥ (९)

[१०]

पराभाववन्द्या ॥ १० ॥

ततः स्वातन्त्र्यतो नित्यं प्रोदिता अविभेदतः ।

गिरः परादिरूपिण्यो . . . ॥

अक्षचक्रोदयेऽपीह निष्फलत्वरूपताम् ।

प्रयाताः परमव्योमस्वरूपा . . . च्युताः ॥

अक्कच अकमपरा . . . निकेतन-

वाच चतुर्विधयि अउअवाजी ।

. . . त्रिवत्रि अविनाश अचेतन

अस्सरलफर अमलाजी ॥ (१०)

[११]

वाक्चतुष्टयकथा ।

नृत्तगीतप्रथा^३ सु ॥ ११ ॥

ततोऽनुत्तरचिद्धामरूपे सत्युदिते शिवे ।

दृगादिहस्तपादान्तररूपाणां संस्थितोऽक्रमात् ॥

रश्मीनां च तथा वाचां नृत्तगीतोदयोऽमितः ।

अनावेशसमावेशविलासोदयमन्थरः ॥ (११)

[१२]

ओवल्ली अमनु ॥ १२ ॥

अनन्तेच्छाकुलोल्लासलहरीणामकृत्रिमम् ।

रूपादिविश्वविस्फारसंवित्रिचयविग्रहाः ॥^४

ओवल्लयः कथितास्ताभिर्यजनं क्रियते परम् ॥ (१२)

[१३]

३. या - आ. ।

४. यद्यपि यहाँ पर आदर्श में कोई अंश त्रुटित नहीं है, पर अर्थ की दृष्टि से दूसरी पंक्ति लुप्त लगती है।

अनुभवशान्ति ॥ १३ ॥

इत्थं संसारचक्रेऽस्मिन्^५ रममाणस्य लोकवत् ।

ज्ञातस्वात्मस्वरूपस्य नित्यतृप्तस्य कस्यचित् ॥

परमानुभवाह्लादचमत्कारेण सर्वदा ।

नित्यानुभवग्रासाच्छान्तिः संजायते परा ॥ (१३)

[१४]

कुलमधुपेयु ॥ १४ ॥

कुलं प्रोक्तं पराशक्तिरूपमस्पर्शसंभवम् ।

पेयं तदेव मधं तु कलानां प्रविलापकम् । (१४)

[१५]

शून्यातीतवृत्ति ॥ १५ ॥

सदैव परमा वृत्तिः सदसद्भ्रमवर्जिता ।

सतां निराविला स्पन्दा शून्यातीता सदोदिता ॥

हताहतोभयरवे सबाह्याभ्यन्तरोदिते ।

लयं याते सति तदा संस्थिता निरवग्रहा ॥ (१५)

[१६]

अनामनिद्रा ॥ १६ ॥

निःशेषभावविभवप्रपञ्चौघपरिक्षयात् ।

अवाच्यत्वादानामेह निद्रा शान्ता परा स्मृता ॥

परा मुद्रामन्त्रनिरीहकथा पदत्रयान्तर्गता ।

..... ॥ (१६)

[१७]

भौतिक्य दिन ॥ १७ ॥

पृथिव्यादिमहाभूतकार्ये कारणसंयुते ।

प्रोदिते तत्र सर्वत्र भौतिकं तदिदं स्मृतम् ॥ (१७)

[१८]

पक्षधाकिशो ॥ १८ ॥

आत्मात्मीयग्रहोद्रेकपक्षो यत्र लयं गतः ।

निर्निमेषपदं तस्य कृशं ग्रासैकघस्मरम् ॥ (१८)

[१९]

५. त्र - आ. । त्र (नृ+र) पढ़ना स्वाभाविक लगता है और सार्थक भी । नममाणस्य का आपाततः कोई अर्थ प्रकरण में नहीं बैठता ।

रात्री आगमु ॥ १९ ॥

एकस्मिन् सति काचित् रात्रिः सम्यक्चरागता ।

सर्वसंहारसंहारसंहर्त्री सततोदिता ॥

चिदचिद्वेदविभवप्रकाशग्रसनाकुला ।

महाशून्यातिशून्येयं निर्लक्ष्याद्वयविग्रहा ॥

वर्णावर्णविभागं तु या राति सततं क्षणात् ।

रात्रिः सा कथ्यते घोरा निरुपाख्या क्रमाकृतिः ॥

..... ।

..... ॥ (१९)

[२०]

युग्मकथा ।

मुक्तो किञ्चीना ॥ २० ॥

इत्येतस्मिन् परे व्योम्नि प्रथिते सति सर्वतः ।

भेदाभेदादिवैचित्र्यं चिदचिद्विग्रहं सदा ॥

न किञ्चिदपि सर्वत्र मुक्तं यत्र लयं गतम् ।

एष कोऽपि सदा भाति निरन्तरतरोऽमितः ॥

चित्स्वरूपोऽक्रमदशां संक्षयोदयवर्जितः ।

निस्तरङ्गो निराभासः सर्वभासान्तरोदितः ॥

..... ।

..... ॥ (२०)

[२१]

खण्डचक्रकथा^७ ।

अकुलपवेशु ॥ २१ ॥

निरावरणनिर्धाम निरानन्दं निराश्रयम् ।

परप्रकाशमस्पन्दं शान्तचिन्मात्रविग्रहम् ॥

६. मु - आ. । पं. यक्ष कृत शोधन ।

७. त्रा - आ. ।

नानाशक्तिकरस्फारविश्रान्तिपदमच्युतम् ।
नियतानुभवक्षीणस्वस्वरूपैकगोचरम् ॥

अकुलं गुरुभिः प्रोक्तं निःस्वभावं सदोदितम् ।
समोऽहमिति संक्रामात्प्रवेशस्तत्र जायते ॥ (२१)

[२२]

. ।
. ॥ २२

[२३]

निरालंब . . . भूमि ॥ २३ ॥

बाह्यान्तरक्रमेणेमाः संविदुल्लासभूमयः ।
याः स्फुरन्त्यस्थिरा नित्यं भेदाभेदप्रथात्मिकाः ॥
तासां तु युगपत्प्रोच्चैः सामरस्य . . . ।
यागाधोल्लङ्घनाद्राति सा भूमिः प्रान्तगा स्मृता ॥

. ।
. ॥ (२३)

[२४]

अगाधकथा ^c ॥

एतद्रूप्यधिरोहेण मौनं सञ्जायते महत् ।
शब्दार्थकुविकल्पेन वर्जितं सततोदितम् ॥

८. यहाँ पर आदर्श का पाठ है:

“ ।

अगाधकथा ॥ अवाच्यकथा ।

एतद् वर्णवर्णोज्झितेन च ॥ २४”

विचित्र बात यहाँ पर यह है कि इन कारिकाओं में विषय-सूत्र या शीर्षक नहीं है। यहाँ सूत्र-संख्या भी नहीं है। नीचे की कारिकाओं पर पड़ी संख्या २४ और “दो” कथाओं के उल्लेख और तदनुसार प्रतिपाद्य विषय के भेद के आधार पर क्रमाङ्क २४ के अन्तर्गत आने वाली कारिकाओं को स्वतन्त्र स्थान मिला है। “अगाधकथा” को उसके स्वाभाविक क्रम में २३ और “अवाच्यकथा” को २४ के अन्तर्गत अन्त में डाला गया है।

अतएव तु निर्दिष्टमवाच्यं कथनं परम् ।
अथाकारेण वा वाच्यं वर्णवर्णोज्झितेन च ॥

..... ।
..... ॥ (२४)

[२५]

अवाच्यकथा ।

देहविनाशनु ॥ २५ ॥

अस्मिन् सति शरीरेऽपि देहस्य त्रिविधस्य या ।
विस्मृतिः स विनाशः स्याद् गुरुवक्त्रप्रसादतः ॥ (२५)

[२६]

निरुत्तरोत्तरोत्तरदशा ॥ २६ ॥

निरुत्तरोत्तरा काचित् क्रमाक्रमविवर्जिता ।
दशा पूर्वागमगमात् व्यज्यते नित्यनिर्मलात् ॥
..... ।
..... ॥ (२६)

[२७]

श्रीनाथप्राप्तिः ॥ २७ ॥

श्रीः शक्तिः परमा प्रोक्ता जगद्विभवनिर्भरा ।
सस्फुरा निर्द्वया या तु तस्याः प्रभुरनुत्तरः ॥
शान्तान्तातिशान्तरूपो यः स श्रीनाथः स्मृतोऽव्ययः ।
तद्रूपतासमापत्तिः प्राप्तिः सा जायतेऽचला ॥ (२७)

[२८]

निरीहचर्चा ॥ २८ ॥

चेष्टाकायपरिस्पन्दः संविदुल्लासचोदितः ।
तेन प्रोज्झितरूपेयं निश्चेष्टा गतिरुच्यते ॥

या सा निरीहवाच्येह कलनाग्रासतः स्मृता ।
सति क्षोभेऽपि सर्वत्र भ्राजमाना स्थिता सदा ॥ २६^६ (२८-२९) [२६]

पर्यन्तछुम्म ॥ ३० ॥

महापर्यन्तसम्बोधपरछुम्ममहोदयः ।
नानादर्शनसम्भूतचर्चाभिः महाद्रुतः ॥
वक्त्राद्वक्त्रक्रमोद्धूतसाहसाख्यो महाद्रुतः ।
कालाकालोभयोल्लाससंक्षयात्सततोदितः ॥ (३०) [३०]

अनाश्रिति ॥ ३१ ॥

इच्छाक्षोभोदयलयैरभिलाषैः समन्ततः ।
वलितत्वादयं सम्यङ्निस्तरङ्गप्रथात्मकः ॥
निष्कामो निर्विकल्पश्च सर्वाश्रयविवर्जितः ।
सामरस्यरसास्वादसंचर्वणरतः सदा ॥ (३१)

पान्थावधूची ॥ ३२ ॥

सर्वत्र रममाणोऽपि नियताश्रयवर्जितः ।
संविदुल्लासविभवैरनिरोधतयाभितः ॥
प्राप्नोति वृत्तिमगमां पान्थवत्त्ववधूतिकाम् ।
निर्लेपां पुष्करदलस्थितदारिवदञ्छिताम् ॥
..... ।
..... ॥ (३२)

६. यहाँ पर आदर्श में संख्या २६ मिलती है। अर्थात् इस कथा (?) या सूत्र को दो संख्याङ्क दिए गए हैं। ठीक इसके बाद ३० संख्या के अन्तर्गत “पर्यन्तछुम्म” मिलता है। लगता है कि यहाँ पर एक सूत्र गायब हो गया है। हमने इसे यथावत् रहने दिया है।

यदि गौर से देखा जाए तो पहले सूत्र या कथा (अनिकेत पुस्तककथा), जिसका ग्रहण हमने मंगलकारिकात्वेन किया है, में संख्या नहीं है और गणनाङ्क का प्रारम्भ दूसरे सूत्र (तिङ्ग अभिज्ञानु) से हो रहा है। गणनाङ्क का प्रारम्भ आदि सूत्र से किया जाए तो तीस सूत्रों तक का क्रम निर्बाध रहता है।

अष्टाटवीकथा^{१०}

पदद्वयेन मच्ची उमच्ची ॥ ३३ ॥

स्वस्वातन्त्र्योदयतया निर्विचारत्वमागता ।

संविन्नवनवोल्लेखरूपिणी सर्वभक्षिणी ॥

युक्तायुक्तविचारैस्तु वर्जिता चञ्चला सदा ।

या स्थिता निर्भरा सैव प्रोच्चैरुन्मत्ता^{११} तां गता ॥

परमं शिवमालोक्य तद्वशीकृतचापला ।

मतोन्मत्ता चित्तिः ख्याता सनामप्रच्युता ततः ॥ (३३)

सर्वभक्षग्रासिका ॥ ३४ ॥

वृत्तिप्रपञ्चरूपस्य सर्वग्रासशरीरिणः ।

ग्रसनायोद्यता यालं सामरस्यमहोदयात् ॥

तीक्ष्णातितीक्ष्णरूपेयं निरावरणविग्रहा ।

सैवेह कथिता काचित्सर्वभक्षस्य भक्षिका ॥ (३४)

भरितव्यापक ॥ ३५ ॥

विश्वप्रपञ्चविस्फारवृत्त्युल्लाससमर्पणात् ॥

व्यापिका तु समाख्याता निरावरणधर्मिणी ।

भैरवस्यामितालोकभरितस्य निराकृतेः ॥

..... ।

..... ॥ (३५)

१०. यहाँ पर मूल में पाठ है -

“..... ।

अष्टाटवीकथापदद्वयेन । मच्ची उमच्ची ॥ ३३ ॥”

यहाँ पर लिपिकार के अनवधान से कई चीज़ों का संकर हो गया लगता है । “अष्टाटवी कथा” (?) को ग्रन्थकार की अब तक की शैली के आधार पर ऊपर की कारिका के साथ जाना चाहिए । “पदद्वयेन” के बाद यद्यपि विरामचिह्न है, फिर भी इसका सम्बन्ध बाद की दो पारिभाषिक संज्ञाओं से है । अतः विराम को हटाकर दोनों को साथ रखना ठीक होगा । आगे सूत्र ४० में भी ठीक ऐसी ही स्थिति दिखाई देती है ।

११. त - आ ।

देवीचतुष्टयकथा ।

निष्करङ्कु-योगु ॥ ३६ ॥

१२ करास्त्रयोदशाकाराः सर्वाक्षशोभवृत्तयः ।
 अङ्कं तु निर्निकेतायाः संविदो देहविस्तरम्^{१३} ॥
 एतत्कर^{१४} ङ्कमाख्यातं तस्य ग्रासादनावृतम् ।
 निष्करङ्कं समुद्दिष्टं निरालम्बं निराश्रयम् ॥
 परं योगवरं गुह्यं नियतध्यानवर्जितम् ।
 नित्यं भाति निरावेशचेतसामनिरोधतः ॥ (३६)

अकायखेचर ॥ ३७ ॥

अनेनैव सदाकाशसंकल्पकलनोज्झितः ।
 मितामितदशोत्तीर्णचिदाकाशचरो भवेत् ॥ (३७)
 ।
 ॥
 खेकला कथा ।

भरितपूर्णा ॥ ३८ ॥

यस्तु विश्वविभवं भरितं निर्निकेतया ।
 यया स्वतन्त्ररूपिण्या संविदा सैव सर्वदा ॥
 अखण्डितनिजोल्लासरूपत्वात् पूर्णविग्रहा ।
 परमानन्दनिःष्यन्दनिर्भरा संस्मृतामृता ॥ (३८)

पूर्णकिशी ॥ ३९ ॥

इत्थं पूर्णस्वरूपापि महाग्रासैकघस्मरा ।
 सर्वोत्तीर्णवियद्वृत्तिमत्यजन्ती कृशा स्मृता ॥ (३९)

१२. पहली दो कारिकाएँ वि. भै. वि., पृ. ६७ पर उद्धृत हैं।

१३. रः - पाठभेद, वि. भै. वृ. पृ. ६७। "विस्तरः" पाठ "विस्तरम्" की अपेक्षा अधिक समीचीन है।

१४. रा - उपरिवत्। "कराङ्क" पाठ निष्क्रियानन्दनाथ को अभिमत था, इसे शिवोपाध्याय कण्ठशः कहते हैं : निष्क्रियानन्दनाथस्तु कराङ्किण्या इति पठति यथा। - तदेव

.।
॥

^{१५} अर्धनारीश्वरकथा ।

पदद्वयेन लेलिहाना लामा ॥ ४० ॥

कृपादिभावयोगस्य हठादक्रमयोगतः ।
 लेलिहानतया लामा भक्षकी या तु संस्मृता ॥
 लानात्सर्वस्य जगतो माति सर्वत्र चाभितः ।
 लामा सेह समाख्याता सर्वगा सर्ववर्जिता ॥
 सर्वसंहारवृत्तैव या सर्वं सृजति क्षणात् ।
 विश्वत्र वर्तते नित्यं सैव लामा परा स्मृता ॥ (४०)

क्रोधिनी^{१६} ॥ ४१ ॥

सैवेह क्रोधिनी नित्यं सर्वसंहारिका यतः ।
 कथिता तु ततोऽनादिबोधविस्फारघूर्णिता ॥ (४१)

उभयसृष्टि ॥ ४२ ॥

अकलोद्रेकरूपा या स्वस्वभावैकधर्मिणी ।
 कुलविस्तारसंस्थापि^{१७} भावभेदप्रथार्पि^{१८} का ॥
 उभयोः सृष्टिविभवा भेदाभेदमयी सदा ।
 परापरापरा सृष्टिः सोक्ता शम्भोः सदोदिता ॥ (४२)

१५. अर्धनारीश्वरकथा पदद्वयेन। लेलिहाना लामा ॥ ४० - आ.। देखिए सूत्र ३२/३३ पर सम्पादकीय पादटिप्पणी १०।

१६. ना - आ.।

१७. यि - आ.। हमने "यि" को "पि" में शोधित किया है (०संस्थाऽपि)। "यै" में शोधन (०संस्थायै) भी प्रकृतानुकूल होगा।

१८. ०पिका - आ.। यह निकटतम शोधन है। "प्रथनात्मिका" सबसे सहज प्रयोग होता, पर इसमें परिवर्तन अधिक है।

प्रान्तकथावधि॥ ४३ ॥

यस्याः स्वतन्त्रा प्रथते सृष्टिः^{१६} दृक्स्वरूपिणी ।
निरावरणनिर्धामसंविदोऽनुत्तराकृतेः॥

शान्तातिशान्तरूपा^{२०} सैव प्रान्तकथावधिः ।
सदसद्^{२१} भ्रान्तिसंकल्परहिता संस्मृताऽव्यया^{२२} ॥ (४३)

शून्य संघट्टु॥ ४४ ॥

शून्यातिशून्यचिद्भ्रामि संघट्टो नित्यमास्थितः ।
यस्तेन सर्वसंहारसंहर्ते^{२३} ति निगद्यते ॥ (४४)

निजजन्मगासु^{२४} ॥ ४५ ॥

नानासंवित्करोल्लासस्वरूपस्य स्वजन्मनः ।
ग्रासकी सततं भाति कैवल्यात्सर्वगा चितिः ॥ (४५)

अनिच्छकच्छ॥ ४६ ॥^{२५}

अभिलाषेण संयुक्ता चिद्वृत्तिः प्रथते तु या ।
सैवेहेच्छा समाख्याता विषयग्रासलालसा ॥

१६. ष्टि - आ. ।

२०. पे: - आ. ।

२१. त् - आ. ।

२२. या: - आ. ।

२३. त्री - आ. ।

२४. "सु" के ऊपर कोष्ठक में "ह" मिलता है। सम्भवतः प्रतिलिपिकार के मन में पाठ को लेकर सन्देह था।

२५. आदर्श प्रतिलिपि में सूत्र ४६ और सूत्र ४७ एक ही पंक्ति में लिखे गए हैं और उनकी पारिभाषिकी कारिकाएँ भी निर्विभक्त रूप से एक ही क्रम में आई हैं। लिपिकार के मन में या तो कोई भ्रम है, या उसे ये ऐसे ही मिली हैं। कारिकाओं के वक्तव्य की दृष्टि से लिपिकार के प्रयत्न का औचित्य समझ में आ जाता है। यहाँ पर एक अस्वाभाविकता और भी है। यदि "अकथनकथ" में "कथ" को "कथा" माना जाए, तो ग्रन्थकार की शैली के आग्रह से इसे कारिकाओं के अन्त में लाना होगा; ऐसी स्थिति में परवर्ती सूत्र अशीर्षक/अनाम रह जाएगा और दोनों ४६ और ४७ के एकीकरण के कारण एक संख्या का अतिपात करना पड़ेगा।

तां त्यक्त्वा नित्यममला या स्फुरत्यनिकेतना ।

स्वस्वरूपसमावेशचम^{२६} त्कारैकनिर्भरा ॥

यत्र संविन्महाव्योम्नि निस्तरङ्गे सदोदिते ।

अनिच्छेच्छा समाख्याता कापि सा सर्वदोदिता ॥ (४६)

अकथनकथ^{२७} ॥ ४७ ॥

तत्र साक्षादवाच्यैव कथा काप्युदयत्यलम् ।

अनुत्तरपदप्राप्तौ वाचा भेदग्रहः कुतः ॥ (४७)

अपूजपूजा ॥ ४८ ॥

फष्ठोपचारिका पूजा कृत्रिमा या बहिः स्थिता ।

विलयं तत्र सा याता क्वाप्यक्रमपदेऽगमे ॥

अपूजैव समाख्याता पूजा सा परमाव्यया ।

नित्योदितमहासवित्प्रवाहेन ढौकिता ॥

अनिकेतपरव्योमभैरवस्याविभेदतः ।

अकल्पितमहाज्ञानसमुल्लासेन निर्भरा ॥

चराचरजगद्ग्रासनिरतः कोऽपि सर्वदा ।

अपूर्वोऽसौ स्थितोऽनल्पः पूजनः सततोदितः ॥

व्यापक सब्ब भक्ष उमच्ची

अवधूची शशित अवरोधे ।

→ यहाँ ग्रन्थ की सामान्य शैली का समादर करते हुए दोनों सूत्रों और सम्बन्धित कारिकाओं को हमने अलग किया है। लिपिकार का पाठ है :-

“अनिकच्छकच्छ ॥ ४६ ॥ अकथनकथ ।

अभिलाषेण संयुक्ता . . . भेदग्रहः कुतः ॥” (यहाँ “अभिलाषेण” से लेकर “भेदग्रहः” पर्यन्त पूरे पाठ का संकेतन है)।

मुझे लगता है कि आदर्श पाठ “अकथनकथ” सही है, यदि काश्मीरी भाषा की प्रकृति इसकी अनुमति देती हो। यह “कथा” न होकर “सूत्र” है, अतः ऊपर का किया गया विभाजन युक्तिसह है और “कथ” को “कथा” पढ़ना अनावश्यक है।

२६. मा० - आ.।

२७. द्र. पा.टि. २५।

निरवधिरूपकमेय असमच्ची
चर्यका च उदयि परबोधे ॥ (४८)

चर्यापञ्चककथा ।

अमुद्रमुद्रा^{२८} ॥ ४९ ॥

करङ्किण्यादिमुद्राभिः कृतकाभिर्विवर्जिता ।

विग्रहग्रहसंकोचनिर्मुक्ता विशदाकृतिः ॥

अमुद्रैव स्मृता मुद्रा यत्र पूजा महोत्सवे ।

जयत्यकल्पितः सोऽयमवटाटङ्कटङ्कितः ॥ (४९)

अमन्त्र मन्त्र ॥ ५० ॥

मनःसङ्कल्पकलनासमूहैर्यो मनागपि ।

न स्पृश्यते हि संवित्तिग्लपनात्प्रथते यतः ॥

ततः कोऽपि निरावेशरूपोऽस्पृशोऽस्वरः सदा ।

वर्णावर्णकलोद्रेकवलितः सततोदितः ॥

अनुच्चार्यमहानादो^{२९} हताहतरवोज्झितः ।

व्यापी सर्वगतो मन्त्रो मन्त्रः प्रोक्तो निरुत्तरः ॥

वन्नविहीन निरुत्तर खस्मरु

जग समूल पकिति गायत्र ।

रेफ रकार हकार विकस्सुरु

वनू चित्र चिञ्जेय विचित्र ॥ (५०)

गायत्रीकथा ।

अकरणे करण ॥ ५१ ॥

करणैस्ताण्डवाद्यैरनन्तैः कृतकैः सदा ।

अकर्तव्यमिदं प्रोक्तं करणं परमं महत् ॥

२८. द्र. - आ. । क्या आदर्शगत "अमुद्रमुद्र" पाठ सही है ? श्री तोषखानी मेरे शोधन से सहमत हैं ।

२९. अनुच्चार्य । महानादो - आ. ।

सर्वेन्द्रियचिदुल्लासात् स्वस्वरूपप्रकाशकम् ।

मति मनुपेरिति करण समग्गे

अहमिति गहु हुरवां न अशेशु ।

कोच अवित्तो बुध्न अभग्गे

उस्से सभाजि अपवेशु ॥ (५१)

अवृत्ता ^{३०} न्तकथा ।

असम्बन्धे सम्बन्ध ॥ ५२ ॥

अहन्तेदन्तयोर्नित्यं सम्बन्धः संस्थितोऽचलः ।

सर्वोऽयं विलयं याति निरहंकारचित्पदे ^{३१} ॥

सर्वोत्तीर्णतया सम्यक् सर्वगे विमलेऽम्बरे ।

असम्बन्धः समाख्यातः सम्बन्धः परमोऽक्रमात् ॥

विगलनि शुष्मि आशुज्ज्वस्वरूपा

विविध पदार्थ सायु कवलेत ।

आशयु चिति सदा नीरूपा

विच्ची विजु विर्य प्रधदेत ॥ (५२)

अनाहारा तृप्ति ॥ ५३ ॥

रूपादिभावविभवज्ञानादेव प्रजायते ।

तृप्तिः परा महासंविद्वैरवस्य सदा समा ॥

अनाहारदशायोगाद्देहप्राणोज्जिताकृतेः ।

महाविमर्शसंस्पर्शसमाविष्टस्य सर्वतः ॥ (५३)

अदृष्ट दर्शन ॥ ५४ ॥

अन्तःकरणरूपे तु ज्ञाने सर्वत्र संस्थितम् ।

तदुत्तीर्णमहासत्तास्वभावं ज्ञप्तिरक्षणम् ॥

३०. अवृत्तात - आ. ।

३१. चिन्तादे - आ. ।

तेनैव सततं साक्षात्संस्थितं दर्शनं परम् ।

सर्वभावपदार्थेषु परमं निर्निकेतनम् ॥

ग्राह्यग्राहकसंस्कारवितर्कपरिवर्जितम् ।

सद्वैशिकमुखायातसम्प्रदायेन गम्यते ॥

निरुपरागु परुधस्सु अनाविलु

भेदाभेद कलादि अच्छुत्तु ।

अविशीची विरुतग्गहु अविचलु

वुजि अघहरु पुण्यविमुत्तु ॥ (५४)

पुण्यपापकथा ।

अचारु चारु ॥ ५५ ॥

निरावरणचिद्रूपधनादच्युतवृत्तिः ।

अचारस्तु समाख्यातो वज्रवन्निश्चलः सदा ॥

स एव सर्वसंवित्तिविभवो^{३२} स्वेच्छयाभितः ।

चरत्यचारचारोऽयमच्युतो^{३३} (ऽ)नाविलः परः ॥

इत्थं सदैव सर्वत्र परव्योमदशागमा ।

अर्कप्रकाशवद्भाति पूरयित्वा चराचरम् ॥

निराभासनिरादेशनिरानन्दचमत्कृतिः ।

या स्पर्शविभवा सैव व्योमाकारगतिः सतः ॥ ५५ ॥

सञ्चारु ॥ ५६ ॥

मुखान्मुखक्रमायातः सर्वसङ्कल्पवर्जितः ।

वक्त्राम्नायः परो योऽयं सञ्चारो(ऽ)मिते^{३४} स्थिरः ॥

३२. वे - आ. ।

३३. च्युतो नाविलः - आ. ।

३४. सञ्चारोमितेः - आ. ।

पर्यन्त असार ॥ ५७ ॥

यतस्तु चित्रकाशोऽयं राजते तत्तदात्मना ।
परमाद्वयविस्फाररूपो . . . ण्डमूर्तिमान् ॥
नीलपीतसिताद्यास्तु वर्णा ग्राह्यभुवं श्रिताः ।
ये सर्वे तेऽनिशं प्रोच्चैर्निःसारत्वं ततो गताः ॥ (५७)

अकलितो संसारु ॥ ५८ ॥

भेदाडम्बरसंक्षोभस्वभावः कलनात्मकः ।
संसारः संस्थितो नित्यं नियतग्रहचेतसाम् ॥
प्रबुद्धहृदयानां तु विकल्पग्रासतः सदा ।
अनुत्तरशिवाभासः सर्वत्रैव विराजते ॥ (५८)

मिथ्याभिमानु ॥ ५९ ॥

देहप्राणाद्यहङ्कारो मिथ्यैव स्वीकृतो जनैः ।
तत्त्वतस्तु सदा भाति चित्स्वरूपोऽविनश्वरः ॥ (५९)

गुह्योपदेशु ॥ ६० ॥

सततं भ्राजमानोऽपि सर्वेषां सर्वतः सदा ।
गुरुवक्त्रेण संप्राप्यो गुह्योऽयमुपदेशकः ॥ (६०)

स्वप्नभ्रमु ॥ ६१ ॥

अनेन प्राप्तिमात्रेण स्वप्नभ्रान्तिसमो भवेत् ।
भावाभावप्रपञ्चस्य विश्वविस्तारविभ्रमः ॥
भाव सभावे सव अविनाशी
सपन सभावन वि उप्पन्न ।
ते अज निज निरवधि अगम प्रकाशी
इदस्सदिष्टिक्काचिद्विपच्छन्न ॥ (६१)
अजातब्रह्मकथा ।

छलाछल ऊमि ॥ ६२ ॥

छलो ऽकस्मात्समुल्लासस्तत्राशो ऽच्छल उच्यते ।
 एवं छलाछलमयी सकृद्दूर्मिः स्थिता तु या ॥
 समुद्रस्येव तत्तुल्या विश्वस्थितिरियं स्थिता ।
 यतः सम्यक्समुद्दिष्टा गन्धर्वपुरवत्तदा ॥
 महाभ्रान्तिस्वरूपा तु निःसारा कृतका मता^{३५} ।
 तस्मान्नात्र ग्रहः कार्यः सद्भिः सत्तत्त्वदर्शिभिः ॥ (६२)

निरावेशभूमि ॥ ६३ ॥

इहावशिष्यते तस्माद्भूमिः काचित्रिराश्रया ।
 निस्तरङ्गतया साक्षान्निरावेशा निरुत्तरा^{३६} ॥ (६३)

अस्फुर उलत्ति ॥ ६४ ॥

अनन्तसंविद्विस्फारस्फुरत्ता लयमागता ।
 यत्र सर्वोज्झिते धाम्नि परे नित्यविकस्वरे ॥
 अस्फुरत्तास्वरूपे ऽस्मिन् सर्वावरणवर्जिते ।
 सैव शक्तिरिहोद्दिष्टा नीरूपा विगतावधिः ॥
 तद्बलेन यतः सर्वं कालाकालकलावपुः ।
 स्फुरत्तां भजते ऽनल्पस्वस्वातन्त्र्यमहोदयात् ॥ (६४)

अक्रम क्रमु ॥ ६५ ॥

भिन्नप्रथात्मिका यावद्भूतयो बहिरास्थिताः ।
 विषयाहरणोन्मुख्य^{३७} स्तावत्क्रम इति स्मृतः ॥
 तदुत्तीर्णे परे यत्र चिदचिद्वेदवर्जिते ।
 महाव्योमन्यद्वयतया सर्वो भात्यक्रमस्तु सः ॥

३५. निःसाराकृतकाभितः - आ. ।

३६. निरुत्तर - आ. ।

३७. मुख्यास् - आ. । यदि "०मुख्यास्" (= मुख्याः) पाठ को बनाए रखते हैं तो "णो" में मात्रावृद्धि करनी होगी : विषयाहरणौन्मुख्याः ।

ईदृक्स्व^{३८} रूपरूपो यो भात्यक्रममहोदयः ।
 स एव सर्वतोदिक्कः क्रमः कोऽपि निरन्तरः ॥
 प्रागुक्तलक्षणेऽनन्ते शक्तिरूपे सदोदिते ।
 सततं संस्थिते साक्षात् सङ्कल्पकलनोज्झिते ॥
 परमाकाश पदे निष्ठु अकामे
 समभावे पसरो अपमेयु ।
 निशितो वित्तिनिचयु अगमगमे
 इत्तु लूकालुकामको अधेयु ॥ (६५)

अलयु उदयु ॥ ६६ ॥

पदार्थप्रलयो यत्र स्वस्वरूपोदयस्ततः ।
 अखण्डतावभासो य उदयास्तविवर्जितः ॥ (६६)

अधिची थिति ॥ ६७ ॥

भेदोन्मेषस्थितिर्यत्र लयं याता पदे(ऽ)गमे^{३९} ।
 अप्रकम्ये निराख्याख्ये सा स्थितिः स्थितिरव्यया ॥ (६७)

संहारा सृष्टिः ॥ ६८ ॥

सर्वसंहारसंहारपदात् सकलनिष्कला ।
 स्वभावभावरूपेयं सृष्टिरुल्लसिता क्रमात् ॥
 अधर पयोधर मूलाधारिउ
 अचलितु चिप्पदिरत अबिभच्ची ।
 ।
 ॥ (६८)
 रसत्रयकथा ।

वायु पिथिवि ॥ ६९ ॥

३८. ईदृक्स्व - आ. ।

३९. पदेगमे - आ. ।

चलनस्पन्दनोद्देशरूपो^{४०} चञ्चलमूर्तिभृत्^{४१} ।

वायुर्यस्तेन सततमाश्यानत्वमुपाश्रितः ॥

यतस्तस्मात्तु काठिन्यरूपा धरणिरुच्यते ।

विपरीतस्वभावोऽयमक्रमेण व्यवस्थितः ॥ (६६)

जल जन ॥ ७० ॥

द्रवरूपं जलं ख्यातमादातुं तद्यतोऽक्रमात् ।

अग्निदेहं तु तेनैव स्वीकृतं धामशक्तितः ॥ (७०)

जडु अकाशु ॥ ७१ ॥

येषां चतुर्णां भवतो यत्रोत्पत्तिलयौ सदा ।

व्योम्नि तत्तु जडं प्रोक्तं निश्चलत्वादवेतनम् ॥ (७१)

विपरीत वृत्ति ॥ ७२ ॥

आख्याता गुरुवक्त्रोक्तयुक्त्येयं^{४२} वृत्तिरक्रमात् ।

विपरीतगमेनोच्चैः साक्षात्कारतयोदिता ॥ (७२)

कञ्चुकस्वरूप ॥ ७३ ॥

कञ्चुकोन्मेषविस्ताररूपिणी सर्वगा सदा ।

विश्ववैचित्र्यचित्रस्य सूत्राधारत्वमागता ॥ (७३)

मायीय रूप^{४३} ॥ ७४ ॥

रूपं यद्दृश्यजातं तन्मायीयं भेदविस्तरम् ।

..... ॥ (७४)

(इति शिवम्)

४०. ऽद्देशारूपे - आ. ।

४१. ऽभृत - आ. ।

४२. ऽयुक्त्येयं - आ. ।

४३. कुपु - आ. ।

आचार्यशितिकण्ठविरचितानि

कुलसूत्राणि

इस कृति और इसकी मातृकाओं की विस्तृत सूचना हम *क्रम तान्त्रिसिंघ* में पृ. २२०-२२ पर दे चुके हैं। आज भी हमारे पास उससे अधिक विशेष सूचनाएँ नहीं हैं। अतः उस सामग्री का सारतया अनुवदन करते हुए कुछ अपेक्षित टिप्पणियों के साथ ही इस कृति का प्रस्तावन करना होगा।

कुलसूत्र का सबसे पहला परिचय **शितिकण्ठ** (पन्द्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध) अपने *महानयप्रकाश* में देते हैं - “तथा च कुलसूत्रेषु उक्तम्” और वहाँ से एक सूत्र उद्धृत करते हैं (*म.प्र. (शि.)*, पृ. ६०)। यद्यपि वह वहाँ लेखक का नाम नहीं लेते। और यह सूत्र उपलब्ध मातृकाओं में मिलता भी नहीं है। परन्तु जैसाकि हम आगे चलकर देखेंगे इससे बहुत दुविधा उत्पन्न नहीं होती। वस्तुतः कुलसूत्र की उपलब्ध दोनों मातृकाएँ पुष्पिका में इसे **शितिकण्ठ** की ही रचना घोषित करती हैं। यदि यह सही है तो **शितिकण्ठ** *महानयप्रकाश* के पहले कुलसूत्रों की रचना कर चुके थे। **औफ्रेष्ट** ने अपने *कैटेलोंगस कैटेलोंगोरम* (परिशिष्ट १.४४५) में इस कृति का संज्ञान लिया है। कृति का नाम कुलसूत्राणि या कौलसूत्राणि दोनों हो सकते हैं। दोनों मातृकाएँ शीर्षक देती हैं “कुलसूत्राणि” का, पर समापन करती हैं “कौलसूत्राणि” से तथापि अन्तरंग साक्ष्य से कुलसूत्राणि नाम के पक्ष में सम्भावना अधिक बलवती जान पड़ती है। इन दोनों मातृकाओं में से एक मातृका **पं. दीनानाथ यक्ष** की थी और दूसरी भण्डारकर प्राच्यशोध संस्थान की (परवर्ती की संख्या है : १८७५-७६ की मातृका संख्या ४४५)। दोनों मातृकाओं की लिपि नागरी है और बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती, क्योंकि स्वयं लिपिकार को मूल का कुछ ही अंश और वह भी आदर्श की अत्यन्त दुर्दशावस्था में प्राप्त हुआ लगता है। लिपिकार उस बचे हुए अंश को सुरक्षित कर लेना चाहता है। दोनों मातृकाएँ इसी उपोद्घातीय घोषणा से प्रारम्भ होती हैं - **अथ कौलसूत्रान्तर्गतानि कानिचित् सूत्राणि लिख्यन्ते आदर्शच्छिन्नभिन्नत्वात्**। काश्मीरी तथा पुणे वाली - दोनों ही मातृकाएँ जिन्हें हमने क्रमशः “अ” और “ब” प्रतीकों से संकेतित किया है, का समापन भी एक जैसा है - **पामरोक्तोपासकसाधकसिद्धसयुजां . . . नान्तरङ्गबहिरङ्गतापरस्परं**

इति कौलसूत्राणि ।

पूरी रचना सूत्र शैली में है, इसलिए वाक्यों के सामान्य प्रवाह में लिखे जाने पर भी सारे वाक्यों को सूत्र मानते हुए प्रत्येक को स्वतन्त्र सूत्र की भाँति मुद्रित किया गया है। ग्रन्थ की एकवाक्यता अपूर्णता के कारण संदिग्ध होने से सूत्रों का संख्याङ्कन केवल अन्तरिम तौर पर ही किया गया है। दोनों मातृकाओं के समान स्थलों को ऐसे ही रखा गया है जबकि उन अंशों, जो “अ” मातृका (पुणे-स्थित) में प्राप्त हैं और साथ ही “ब” मातृका (काश्मीरी) में अनुपलब्ध है, को ताराङ्कित किया गया है। अवतरण-सूत्र से कृति प्रारम्भ होती है। दो मंगल-श्लोकों के अनन्तर मूल ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। उपलब्ध सूत्रों की संख्या है ५६। कोष्ठकान्तर्गत प्रमाण वाक्य मूल सूत्रों की प्रकृति से मेल नहीं खाते। अतः वे लिपिकार के द्वारा संयोजित/प्रस्तावित माने जा सकते हैं। हमने उन्हें ताराङ्कित कर कोष्ठक में रखा है। पुणे वाली “अ” मातृका की एक अन्य विशेषता भी है कि कुलसूत्र वाले अंश की समाप्ति के बाद वह फिर वहीं से कुलसूत्रों के अन्तर्गत स्वरकला नामक ग्रन्थ को प्रारम्भ करती है। हमने इसे एक स्वतन्त्र, यद्यपि कुलसूत्रों के अधीन, कृति मानकर अलग से मुद्रित किया है।

ग्रन्थ का सम्बन्ध कुल और क्रम दोनों दर्शनों से है। ग्रन्थकार का सम्बन्ध उस विशिष्ट ओवल्लि से है जो दुर्वासा के शिष्य उन्मत्तनाथ की परम्परा में समुत्पन्न श्रीनाथ नामक गुरु के शिष्य श्रीमौनिनाथ के द्वारा प्रवर्तित है। केवल इतने से ही यह निष्कर्ष निकालना कि यहाँ उल्लिखित श्रीनाथ शिवानन्द से अभिन्न हैं, कठिन होगा। आगे के अध्ययनों से ही यह बात प्रमाणित हो सकेगी कि यह श्रीनाथ कौन हैं ?

(ॐ स्वस्ति प्रजाभ्यः। ॐ श्री शारदादेव्यै नमः॥)^१

अथ कौलसूत्रान्तर्गतानि कानिचित् सूत्राणि लिख्यन्ते आदर्शच्छिन्नभिन्नत्वात्^२ ।

^३ षड्दर्शन^४ व्यतिरिक्तेऽर्थे सूत्रधारभुवं श्रितः।

रुद्रावतारो दुर्वासाः स्तूयते स्पर्शकामसूः॥ (१)॥

१. अ.।

२. लिख्यन्ते॥ आदर्शछि(?)न्नभिन्नत्वात्॥ - अ.।

३. ॐ षड्दर्शनं - अ।

४. ०र्शन्यति० - ब।

यच्छ्रीनाथमुखारविन्दमधुपाः^५ श्रीमौनिनाथादयः,
षड्दर्शना^६ तिशायिशासनवरं सम्बन्धिरे कौलिकम् ।
यदुर्वाससि^७ निष्क्रिये प्रथि^८ तमप्युन्मत्तनाथः कुलम्,
संचर्व्या^९ वभावयत्त^{१०} दुभयं सूत्रैर्मया^{११} बध्यते ॥ (२) ॥

- (१) अविच्छिन्न^{१२} मोवल्लिक्रमायातमरीचि^{१३} संक्रमणमेवैको गुरुः ।
- (२) तदुपलब्धमेव^{१४} तत्त्वमेको देवः ।
- (३) तस्यैका सहजाहम्भावभूमिश्चिच्छक्तिः ।
- (४) चितः^{१५} प्रथमं प्राणे परिणामात्प्राणः कुलेश्वरः ।
- (५) तत्प्रपञ्चो विश्वम् ।
- (६) भावस्वभाववत् स्वतः स्वातन्त्र्यं^{१६} कुलेशितुः समाधानाद् व्युत्थानवत्तु शिवाद् विश्वोदयः ।

५. ऽदमदूपाः श्री० - अ ।

ऽदमुदपाश्री - ब ।

६. ऽन्यति० - अ, ब ।

७. ऽत् दुर्वाससे - ब ।

८. प्रहित० - ब ।

९. संचर्व्या - अ । “ब” का “च” में लिपिकार द्वारा संकेतित शोधन ।

सचर्व्या - ब ।

१०. तत् उभयं - ब ।

११. ऽत्रैः म० - ब ।

१२. ऽत्रं ओव० - ब ।

१३. ऽसंक्रमण० - अ ।

संक्रमणन० - ब ।

१४. तदुपलजमेव - अ ।

१५. चिता - ब ।

१६. स्वातन्त्र्यकुलेशितः ॥ समाधानात् अत्यानवद्वारीवादिश्वोदयः - अ ।

यहाँ पर “अ” का पाठ अत्यन्त भ्रामक है । अन्तिम पद को “अस्यानवत्तु शिवात्” या “अत्यानवद्वाः शिवात्” भी पढ़ा जा सकता है ।

- (७) वटधा^{१७} नाभिधारणेन विश्वव्यवहारस^{१८} सतत्त्वानुमानम् ।
 (८) पट्टकोद्धाटनं पुस्तकोपदेशः ।
 (९) तत्र षड्धातुरसपान^{१९} मत्तान्तश्चक्रेश्वरी विजृम्भते ।
 (१०) ^{२०} द्रावकाकारानुकारं कुलम्^{२१} ।
 (११) पूर्णकृशः^{२२} मध्यगो भैरवः ।
 (१२) कन्दबिन्दुसंघट्टान्मध्ये सौरधामोदयः ।
 (१३) रश्मिकुलोदयो भवोद्भवो दिनमपवर्गो रश्मिविश्रामो निशा ।
 (१४) पञ्चधा ह्रस्वदीर्घान्तुतसंधिपराश्रयैः सप्तधा चवर्गैः पञ्चषष्टितमः

संहारा^{२३} णस्त्रयोदशो मनः^{२४} षोडशेन्दुर्मतिश्च ^{२५} षोढार्को मध्ये^{२६} ऽहन्तास्पदं पावकः
 शुचिरेकधापि षोडशद्वादशदशधा बिन्दोः^{२७} षड्विंशतिकला^{२८} रूपत्वे पञ्चषष्टितमः
 उदानस्त्रयोदशी^{२९} वृत्तिः द्वादशके प्रतिवृत्तिः^{३०} पञ्चधाभाव-विशेषिते
 आद्याभिश्चतसृभिस्सह^{३१} पञ्चषष्टितमा^{३२} संविन्निरुपाधिस्त्रयोदशीति

१७. ०धानाविदारणेन - अ. ।
 १८. ०सतत्त्वा० - ब ।
 १९. ०मत्तांतश्च० - अ ।
 ०मत्तान्तः च० - ब ।
 २०. द्रा० - अ । सदिग्ध ।
 २१. कुले - अ ।
 २२. ०कृशाम० - अ. ।
 २३. समाहा० - ब ।
 २४. षोडेन्दर्म० - अ ।
 २५. षोडा० - अ ।
 २६. मदेऽहं० - ब ।
 २७. षोडशद्वादशधा बिन्दुषड्० - ब ।
 २८. ०लानृपत्वे - अ ।
 २९. ०दशो - अ ।
 ३०. वृत्तिद्वादशके प्रतिवृत्तिपञ्चधा० - अ ।
 ३१. आद्याभिस्सह - ब ।
 ३२. संवित् निरुपाधि त्रयोदशीति - ब ।

वर्णधामसंविक्रमाणां^{३३} प्रत्येकं त्रयोदशात्मता ।

- (१५) इन्दुगतषोडश^{३४} कलाधारं कौलं शिरः, शिरोपरिवेशः षट्त्रिंशदङ्गुलः ।
 (१६) शिरसा सह शिरोमरीचीनां सादाशिववक्त्रकल्पना ।
 (१७) तस्य ललाटमर्धेन्दुः^{३५} ।
 (१८) सूर्याचन्द्रमसौ नाडिगमेन नेत्रे^{३६} ।
 (१९) आस्य . . . हृद्द्वारे^{३७} राजदन्ताः^{३८} (?) प्रलयस्थानभटाः ।
 (२०) व्यक्तवर्णत्वात् सदापावनी वाक्कुमारी जिह्वा सरस्वती ।
 (२१) द्वात्रिंशद्वीरवलिता घंटिका^{३९} समयेश्वरी^{४०} ।
 (२२) * एकविंशतिलिङ्गानि एकविंशति कपालानि ।
 (२३) * चत्वारः पुरुषाः षोडशः शक्तयः ।
 (२४) * हृत्कन्दबिन्दुस्थानानि आस्थानस्थानम् ।
 (२५) * मौनं वाचोऽस्तमयात् ।

३३. ०नां - ब ।

०णांश्येकं - अ ।

३४. कला धारं कौलं शिरः ।। शिरः परिवेशः - अ ।

कलाधारं कौलं शिरः परिवेशः - ब ।

“इन्दुगत . . . षट्त्रिंशदङ्गुलः” वाक्य को दो स्वतन्त्र वाक्यों के रूप में भी लिया जा सकता है । ऐसी स्थिति में पहला वाक्य “शिरः” पर समाप्त होगा और नया वाक्य “शिरोपरिवेशः” से प्रारम्भ होगा । वाक्यार्थसमन्वय की दृष्टि से हमने उन्हें एक वाक्य माना है ।

३५. ०न्दु सूर्या० - ब ।

३६. सूर्याचन्द्रमसौ-नाडिगमेन-नेत्रे - अ ।

३७. हृद्द्वारे - अ ।

हृद्द्वारे - ब ।

३८. ०दन्ताः - अ । (‘दन्ताः’ में संशोधित) ।

०भन्ता - ब ।

३९. चं(घं)टिका/चण्डिका) - अ । संदिग्ध ।

४०. नीचे ताराङ्कित सूत्र केवल ‘अ’ में हैं, ‘ब’ में नहीं । ‘समयेश्वरी’ के बाद पाठ त्रुटित है ।

- (२६) * ईदृश्यसेतुबंधां ते^{४१} पश्चिमाभिमुखं लिङ्गमदः^{४२} . . . कुलपद्म वा ।
 (२७) * जन्माधारकन्दह^{४३} द्विन्दुषु चतुष्पीठी ।
 (२८) * त्रीणि कारणानि ^{४४}कारणानि ।
 (२९) * सृष्टिसंहारयोरन्योन्यहेतुता ।
 (३०) * उदये चक्रेश्वरचक्रदेवीनां मेलापात् कैवल्यभावोऽस्तमये दीपपतङ्गवत् ।
 (३१) * सप्तावृतेः पञ्चसु पशवः, अन्त्ययोः पतयो रमन्ते ।
 (३२) चतुष्टये^{४५} द्वयं भोज्यं^{४६} साधकतमं द्वितयं, भोक्तैकोऽन्यस्तेषाम् ।
 (३३) प्रीणयन्ति^{४७} चतस्रः सृष्टिदेवीप्रभृतयः क्षुधाद्या^{४८} इव बलिभिः पतिमन्ततः^{४९} स्वात्मसमर्पणेन^{५०} ।
 (३४) महाभयमहाक्रोधभूमिकयोरधरोत्तरत्वेऽप्ये^{५१} कत्रान्ते विश्रमः ।
 (३५) * हन्^{५२} मुखराव(?)मर्माणां भ्रंशस्तत्त्वसंस्पर्शात् ।
 (३६) * स्थावरस्य जङ्गमे जङ्गमस्य स्थावरे भूतपरिणामः ।

४१. रेखाङ्कित पाठ स्पष्ट ही अष्ट है। अर्थ दुर्बोध है। क्या “ईदृश्यसेतुबन्धान्ते” पाठ की सम्भावना की जा सकती है?

४२. ०मयः - अ।

४३. ०हन्विन्दु० - अ।

४४. वा (?) - अ। (संदिग्ध पाठ)।

४५. चतुष्टयाद्वयं - अ, ब।

४६. भोजं - ब।

४७. प्रणयन्ती - ब।

४८. ०द्याः - ब।

४९. पतिसन्ततः - अ।

पतिं अन्ततः - ब।

५०. समर्पणेन - ब।

५१. ०पि एकान्ते विश्रमणः - ब।

इसके बाद यद्यपि ब में कोई भ्रंश नहीं दिखाई देता, फिर भी बाद के ताराङ्कित सूत्र वहां अनुपलब्ध हैं।

५२. हङ्मुख० - अ। “मुख” पाठ संदिग्ध है, “मुद्रा” भी पढ़ा जा सकता है।

- (३७) * नटयोरन्तराले(?)महाश्मशानं टकारः ।
- (३८) * एकविंशतिसाहस्रः सषट्शतो हंसाक्षरजपः स . . . विंशतिनालिकसंध्यात्रयप्रचितो दिवानिशम् अविशेषेण निखिलप्राणिनाम् ।
- (३९) * कुलार्चनोपयोगि सहजं बहिरन्तः संस्थानं मुद्रा ।
- (४०) * जृम्भात्मरूपा^{५३} मृतं क्षुतमात्मसमाधिः ।
- (४१) चक्रेशीघट्टनतो निर्धाम^{५४} सन्तमसा शिवरात्रिः ।
- (४२) ऊर्ध्वाधोऽश्वत्थ^{५५} जारणिकाष्टद्वयमन्थानेनैव^{५६} लिङ्गान्तर्गतभगस्य^{५७}
भगान्तर्गतलिङ्गस्य ^{५८} चान्तःसम्मर्दाद् अग्नीषोमरूपपिंडव्यक्तिवत्प्राणापानसंचाराच्छरीरे कन्दव^{५९} हिजन्म ।
- (४३) कन्दहृद्विन्दुकलयात्र प्राकृत^{६०} तत्त्वसंख्याणां त्रिपाद्^{६१} गायत्री ।
- (४४) * तद्व्याहृतिभिस्ति सृभी^{६२} रावत्र्यश्रसंस्थानम् ।
- (४५) * कबन्धदर्शनाज्जन्मनाशः ।

५३. ०“रूपा” में “आ” की मात्रा या सीधी रेखा दो वर्णों के बीच न आकर दो पंक्तियों के बीच में आ रही है। हमने इसे रूप के साथ संयुक्त कर पढ़ा है।

५४. निधीम० - अ ।

५५. ०यारण्य० - ब ।

५६. ०काष्टद्वयं मथानेनेव - अ ।

५७. लिङ्गान्तर्गत लिङ्गस्य च अन्तःसम्मर्दात् वाहिनीजन्म - ब ।

०भगस्य । भगान्तर्गत० - अ ।

५८. वान्तः० - अ ।

५९. ०वकित्र० - अ ।

०वाहिनी० - ब (द्र., पा. टि. ५७) ।

६०. प्राक् तत्त्व० - ब ।

६१. ०त् गायत्री० - ब ।

इसके बाद ब में पाठभङ्ग है, पर दिखाई नहीं पड़ता ।

६२. ०भिरावव(?)न्यत्र्यश्र० - अ. ।

- (४६) * प्राणापानमन्त्रिणां हंस^{६३}नादमन्त्रिणां महलानादोरु(?तु/ष्ट)मन्त्रिणां च^{६४}
तद्विश्रान्तिरेव च देवता।^{६५}
- (४७) * पाञ्चभौतिकतत्त्वविचारे ये^{६६}। (?)
- (४८) * कान्तिरुजा^{६७}द्वयोरुपेक्षायाम् अन्यत्र धामप्राणतज्जसंवित्क्रमेण उपादेयतायां
पारिशेष्यात् परमात्मतत्त्वोपलब्धिः।
- (४९) * यथाप्राणं यावत्प्राणं च शरीरे ^{६८}चेतनाधिष्ठानम्।
- (५०) * भावभूतसंविदामन्ते निःस्वभावतापर्यवसानम्।
- (५१) सर्वेषां कामानां फलानां भोगानां विनोदानां विश्रान्तीनां प्रकृष्टतरः^{६९} परः कामः
फलं भोगो विनोदो विश्रान्तिरात्मैव प्रत्यभिज्ञातो नान्यदुपेयतम्।
- (५२) नित्यमेव जाग्रदादिचतुष्टयेऽपि अविच्छिन्नम् आत्मपूजनम्।^{७०}
- (५३) आमुखावभासमानम् अखिलम्^{७१} अहन्तास्पदं विचार्यमाणं न किञ्चिदपि
अहंभावविषयम्।^{७२}
- (५४) परतत्त्वसाक्षात्कार एवैका वास्तवी कथा।
- (५५) स्वप्नः परलोकसाक्षात्कारः।
- (५६) कल्याणकालावकाशोभय^{७३}साक्षात्कारान्महासामरस्यम्।

६३. हंसो - अ।

६४. अत्यन्त भ्रष्ट होने के कारण रेखांकित पाठ का कोई अर्थ नहीं लगता।

६५. क्या यह पाठ कोई अर्थ देता है? - "प्राणोऽपानमन्त्रिणां हंसो नादमन्त्रिणां सोऽहं नादाष्टमन्त्रिणां च
तद्विश्रान्तिरेव देवता।"

६६. अ मातृका में पाठभ्रंश न होने पर भी वाक्य अपूर्ण है।

६७. रुजद्वयो - अ।

६८. "चैतन्याधिष्ठानम्" सम्भवतः अधिक उपयुक्त होगा?

६९. प्रकृष्टतरः कामः - ब।

७०. आत्मपूजनं आमुखा - ब।

७१. आमुखावासमानं अवलं - ब।

७२. विषयः - अ, ब।

मैं इस शोधन को लेकर बहुत निश्चित नहीं हूँ।

७३. कलिकावकाशोभय - अ।

कल्याणकालावकाशोभय - ब।

- (५७) त्रिपाकाभ्यवहाराद्^{७४} विगलन्मायामेदोजालं^{७५} छिन्नपाशं विकसति स्वान्तः^{७६} ।
 (५८) अन्यथा हि^{७७} न जालंधरम् उड्डियानी^{७८} भवति ।
 (५९) पामरोक्तोपासक^{७९} साधकसिद्धिसयुजां^{८०} सहैव सहसा साहसाचरणात्^{८१} समरसीभूतानां
 वस्तूनां वस्तुनि^{८२} नान्तरङ्गबहिरङ्गता परस्परम् ।

इति कौलसूत्राणि^{८३-८४}

* इति श्रीशितिकण्ठस्य शुभम् ॥

७४. त्रिपाकाभ्यवहारात् - ब ।

७५. विगलितमायासेधोजालं - अ ।
 विगलत्मायामेदोजालं - ब ।

७६. स्वान्तम् - अ, ब ।

७७. अन्यथादिनजा० - ब ।

“अन्यथा” के प्रयोग से आशंका होती है कि प्रस्तुत वाक्य ५७वें सूत्र का अंग है, परन्तु अर्थ के पूर्णतः समञ्जसन के बारे में आश्वस्त न होने के कारण हस्तलेख का अनुसरण करते हुए इसे स्वतन्त्र सूत्र ही माना है ।

७८. उड्डियानी० - ब ।

७९. क्या यहाँ “पामरोक्त” के स्थान पर “डामरोक्त” पढ़ना उचित होगा? चूंकि दोनों ही हस्तलेखों में यही पाठ है। अतः उसे यथावत् स्वीकार किया गया है ।

८०. ०पासकसिद्धिसयुजां - ब ।

८१. साहसाचरणात् - अ ।
 सहसाचरणात् - ब ।

८२. समरसीभूतानां वस्तूनि - अ ।

८३. कुलसूत्राणि - ब ।

८४. यहाँ से शितिकण्ठ की दूसरी कृति षोडशस्वरकला प्रारम्भ होती है ।

** ताराद्वयाङ्कित पुष्पिका केवल ब में उपलब्ध ।

शितिकण्ठविरचिता कुलसूत्रान्तर्गता षोडशस्वरकला

यह कृति कौलसूत्रों की 'अ' मातृका में ठीक कौलसूत्रों की समाप्ति के साथ प्रारम्भ होती है। भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान में "कौलसूत्राणि" के अङ्गतया ४४५/१८७५-७६ संख्या के अन्तर्गत ही यह पञ्जित है। फोलिओ (पन्ना) २ब से प्रारम्भ होकर फोलिओ ४ब में समाप्त होती है। यद्यपि कृति का नाम षोडशस्वरकला है, फिर प्रत्येक "स्वरकला" की अवान्तरपुष्पिका या इतिवाक्य से लगता है कि यह कुलसूत्र (या कौलसूत्रों) की ही अंग थी। उपलब्ध कृति अपूर्ण है, क्योंकि नामतः घोषित षोडश में से प्रारम्भ की नौ स्वरकलाओं का निरूपण उपलब्ध नहीं होता। अपनी मातृकृति (कुलसूत्राणि) की भाँति पूरी रचना सूत्र शैली में है, इसलिए वाक्यों के सामान्य प्रवाह में लिखे जाने पर भी सारे वाक्यों को सूत्र मानते हुए प्रत्येक को स्वतन्त्र सूत्र की भाँति मुद्रित किया गया है, सूत्रों का आनुपूर्व संख्याङ्कन नहीं किया गया है, क्योंकि आलूनविशीर्णतया उपलब्ध ग्रन्थ की एकवाक्यता संदिग्ध है।*

**(अथ कुलसूत्रेषु षोडश स्वरकलाः।)

दशमस्वरकला

ऊषरोत्तसस्मिन् शक्तिविधाताद् अप्ररोहिभावनाहीने तत्त्वकथनम्।
एकस्या एव कुलेश्या^१: शब्दितशक्तेः क्रमेण बिन्दुह्रस्वाभिकन्दमूलाधारनिपातिन्या-
स्तत्तत्परामर्शाद् बाला कुमारी युवती^२ स्थविरा अन्तकरी (इति) व्यपदेशः।

* यदि स्वरकलाओं की स्वतन्त्र गणना की जाए तो पुस्तक का नाम "षोडश स्वरकलाः" होना चाहिए, परन्तु पुष्पिका को ध्यान में रखते हुए एकवचन में ही पुस्तक का नाम स्वीकार किया गया है।

** यहाँ और इस कृति में सर्वत्र कोष्ठकान्तर्गत विवरण सम्पादक के हैं।

१. कुलेशां (?शौ/शो) - आ (संदिग्ध पाठ)

२. युवतिस्थविरान्तकरी - आ

हृदं ब्रजमेरौ^३ प्राणापानौ पुष्पवन्तौ ।

तावेव शुक्तकृष्णपक्षौ ।

उदयप्रवेशौ अयनद्वयम् ।

अक्षाद्वा दशमासाः ।

अस्थांसषष्टिस् त्रिशती तावतां^४ प्राणवायूनां प्रतिष्ठेति^५ सैव अब्दस्याहोरात्रगणना ।

मेरोरुर्ध्वाधः सप्त सप्त लोकाः^६ चतुर्दशद्वाराणि ।

नमोऽम्बुदवच्चिदात्मनि विकल्पसंभेदो भेदश्च ।

मनसो विनाशः स्थिरः समाधिः ।

गभीरविमलहार्दानां विकासो^७नुसारं माहेश्वर्याविर्भावः ।

इति कुलसूत्रेषु^८ दशमस्वरकला ॥

एकादशस्वरकला

एकं सदनपायि शिवस्वरूपं, काल्पनिकम् अन्यदसदशिवम् ।

भास्वरदेवतामूर्तीनां^९ प्राकाम्यादेरानन्त्येऽपि चिन्मात्रमेव वैभवसारम् ।

प्रादुर्भाववत्^{१०} ताराणामिव न कर्मफलव्यवस्था ।

कञ्चुकत्रितयापवर्जनात् स्वरूपाविष्कारः ।

असंकलिताभवोत्पत्तिः^{११} प्राणिनां प्राणोदयवत् पूरककुम्भकरेचकैः

३. रेखाङ्कित पाठ स्पष्ट नहीं है, अन्तरिम तौर पर “इदं ब्रजमेरु” संशोधन पर विचार किया जा सकता है ।
४. अस्थांसषष्टिस्त्रिशतीतावतां - आ
अस्थांस पद का अर्थ दुर्बोध्य है । क्या अस्तांश पद विचारणीय विकल्प हो सकता है?
५. प्रतिष्ठेति - आ
६. सप्तसप्तलोकाः ॥ चतुर्दशद्वाराणि । - आ
७. विकासो - आ
८. सूत्रेषु - आ
९. प्राकाम्या(?या)हेद्रानन्त्येपि - आ
१०. प्रादुर्भाववत्तारा - आ
११. अस्पष्ट

सृष्टिस्थितिसंहाराः।

चित्तो नदीवत् प्रवाहनित्यायाश्चतस्रः^{१२} सृष्ट्यादिदशा इति दशाक्रमः क्रमार्थः।

अक्रमस्तु कैवल्य . . .^{१३} फलस्वभावोऽपि आद्यन्तकोटिद्वये स्फुटतरं व्यज्यते।

अज्ञानं बन्धो ज्ञानं मोक्षः स्वपरभेदा . . . भव आरु(?भ्रानु?)प्य^{१४} निर्वाणम्।

ऐन्दव्य एव कला आधाररूपाः विभागशः प्रसृताः कुले।

पायोः करन्ध्रं^{१५} (?) यावत् प्रतिष्ठानभूतानि षट्चक्राणि।^{१६}

त्रयं नाडिधामलक्षणम्^{१७} आत्मनो विहारः।

द्वादशमरीचीनां प्रियमेलापे नायका^{१८} वष्टम्भाविच्युतिरेका पायात् समयलोपजां चक्रखण्डनाम्।^{१९}

इति कुलसूत्रेषु एकादश^{२०} स्वरकला॥

द्वादशस्वरकला

ऐकाल्यं पतीनां प्रतिपत्तिसामरस्यात् समाधौ, नर्तक्यामिव सामाजिकानाम्।

लोहितवीर्यसंभेदं^{२१} सोष्माणम् आवर्तन्^{२२} वायुर्गर्भे बध्यते।

सितरक्तवर्णयोः कललघनकणिकाकायेश्यादिक्रमेण उच्चूनतापत्या कलावृद्धिः।

१२. ०स्राः० - आ

१३. पाठलोप दिखने पर भी अर्थसंगति ("कैवल्यफलस्वभावोऽपि") में बाधा नहीं लगती।

१४. रेखाङ्कित पाठ संहिग्ध। "स्वपरभेदाभावानुरूप्यं" - प्रस्तावित अन्तरिम शोधन।

१५. 'क' का एक अर्थ ब्रह्मन् भी है। अतः "ब्रह्मरन्ध्रं" के अर्थ में 'करन्ध्रं' का प्रयोग हुआ लगता है।

१६. ०चक्राणि त्रयं त्रयं नाडि० - आ

१७. ०लक्षणाम् - आ

"नाडिधामलक्षणम्" को यदि "त्रयं" का विशेषण माना जाए तो तीसरे पदार्थ वाचक पद की और अपेक्षा होगी।

१८. ०विष्टम्भवि० - आ

१९. समय(?)लोपजाचक्रखंड(?)ना॥ - आ

२०. ०दशम्बरकला - आ

२१. ०संभेदं(?)सो० - आ

२२. आपाततः यह प्रयोग दुष्ट लगता है। प्रो. विन्दाप्रसाद मिश्र के अनुसार स्वार्थ में गिजन्त मानकर यह ग्राह्य हो सकता है, अन्यथा इसका "आवर्तयन्" में शोधन करना होगा।

व्रीहिसस्यबीजवद्गर्भमध्यस्थानादूर्ध्वयोः निर्गताङ्कुरयोः पूर्वकाय^{२३} अपरव्यपदेशः।^{२४}
 तस्याशिचदधिष्ठानाज्जातिभेदप्रतिनियतोच्छूनतानुयायी^{२५} त्रसरबीजवद्गर्भस्पन्दः।
 ततो वाहदेवीनां स्ववाहाधिष्ठानं द्वितीयवाहमुद्रणान्मालिन्यां स्पर्शविस्फारः।
 तत्र षडध्वकुलपिण्डमण्डनस्यात्मनो विलासः।
 यथा शून्याद् बिन्द्वादिक्रमेण अष्टादशगणितप्रपञ्चस्तथायं भवप्रपञ्चः।
 नीतिरेकैव याऽनुरूपदेशे^{२६} परा निष्ठा,^{२७} यतः कुलक्रमप्रतिष्ठितप्रत्यक्षसिद्धः
 समयाचार^{२८} एव मङ्गलोदकः।

इति कुलसूत्रेषु द्वादशस्वरकला ॥

त्रयोदशस्वरकला

ओतप्रोतः कुलपिण्डस्य सदा सर्वत्राप्रतिधो^{२९} ऽन्तः सुप्रकटः प्रत्यक्षसिद्ध आत्मा।
 यथैव अज्ञस्य ज्ञानावाप्तौ ज्ञाने (वा) बहुमानप्रत्ययो, यथा वा भेदप्रत्ययोत्तरकालम्
 अभेदप्रतीतौ महीयानादरस्तथा कुलपिण्डसंघात्^{३०} तत्प्रयुक्तोपायैरकुलसंप्राप्तिर्बहु-
 मानास्पदम्।^{३१}
 रसौषधिकारणं देहिनां बुद्धिमाँसबीजे^{३२} मले च विशिष्टाद्विशेषः।

२३. “पूर्वकाय” का अर्थ होगा : तयोरग्राय प्रथमाय वा।

२४. व्रीहिसस्यबीजवद्गर्भमध्यस्थानादूर्ध्वायोर्निर्गताङ्कुरयोः पूर्वकायापरव्यपदेशः - आ

२५. ०नुयायीत्रसर० - आ

यहाँ बीज के साथ त्रसर का प्रयोग विचित्र है। दोलित या दोलनशील बीज के अर्थ में सम्भवतः यहाँ अभिप्रेत है।

२६. नीतिरेकैवयानु० - आ

२७. निष्ठा ॥ यतः - आ

२८. समाचार - आ

२९. ०प्रतिधौऽन्तः - आ

३०. ०संघातत्प्र० - आ

३१. ०मानास्पदं रसौषधिकारणं - आ

“मानास्पद” पर वाक्य समाप्त सा लगता है, यद्यपि हस्तलेख में दोनों वाक्य मिले हुए हैं। हमने दोनों वाक्यों को पृथक् करके यहाँ लिया है।

३२. ०बीजेमले - आ

सर्वाचारनिराचारदुराचारकुलाचारसदाचाराणां स्वस्वरूपावाप्तौ नानोपायानाम्
 उपयोगसम्पादनादन्योन्यं^{३३} (अथवा उपयोगसम्प्राप्तौऽन्योन्यं) गुणप्रधानभावः।
 स्वातन्त्र्यवैभवं विभ्व^{३४}प्यात्मनि (अथवा विभोरप्यात्मनि) निरुन्मेषो मनसः।^{३५}
 स्वातन्त्र्यात् तदायत्तो कस्माद् अहन्तोद्रेकात् साहसात् प्रत्याहृतस्वातन्त्र्यो
 विभुर्भवन्मनो निगृह्णाति इति राजरहस्यम्।
 निर्वासनता परमा^{३६} कर्मतश्चासङ्कल्पनात्।
 ऐकात्म्यदृष्टिः परमो योगः।
 सा च स्वकन्द^{३७} द्वारलोमप्रवाहेण^{३८} वात्यावकाशव्याप्त्या^{३९}
 परप्राणिगत(कन्द^{४०})द्वारलोमनाडिगमेनापि तत्कन्दान्तर्^{४१}
 यावदविच्छिन्नस्पन्दान्मैक्य^{४२}दृक्प्रत्ययात्।
 तथैव स्वहृदयान्यहृदयानां परमान्मैक्य^{४३}प्रत्ययात् सामरस्यम्।
 साधारणा स्थिरा चै^{४४}श्वरी सृष्टिः।
 पाशवी सृष्टिरप्य^{४५}साधारणा स्थिरा च।

३३. उपयोगसाम्प्राप्तौऽन्योन्यं - आ

३४. विभुरप्या० - आ

३५. मनसः स्वातन्त्र्यात् - आ

३६. परमं - आ। वाक्यार्थ अस्पष्ट है।

३७. ०कन्द० - आ

३८. ०नवात्या० - आ

३९. व्यात्यापर - आ। “त्या” संदिग्ध है।

४०. प्रस्तावित योजन

४१. तत्कन्दान्तर्वा० - आ

४२. “सा” का प्रतिनिर्देश्य पूर्ववाक्य का “ऐकात्म्यदृष्टिः” पद प्रतीत होता है। यदि “सा च” पर आग्रह हो तो “सा” का प्रतिनिर्देश्य “दृक्” सम्भावित है, ऐसी स्थिति में “प्रत्ययात्” को अलग रखना होगा (सा च ... मैक्यदृक् प्रत्ययात्)।

४३. ०मैक० - आ

४४. वै० - आ

४५. ०प्यासाधारणा - आ

अष्टा^{४६} त्रिंशत्कलोद्वलितस्य अमनीकरणम् ।

वातचक्रं कालचक्रम् ।

इति कुलसूत्रेषु त्रयोदशस्वरकलाः ।

चतुर्दशस्वरकला

^{४७} औडुम्बरस्थानाद् अजराश्यं तं^{४८} षट् षडङ्गुलम् ।

प्राणाद्याः पञ्च रवीन्दुबुधभौमसौराधिष्टि^{४९} ताः ।

प्राणप्रतिष्ठौ जीवकेतू, राहुचन्द्रौ अपानस्थौ, अवरस्तु यो व्याननिष्ठः ।^{५०}

हृदि मेरुवन्मध्यस्थिते अयनद्वयारंभभूतमकरकर्क्यो^{५१} श्चारान्तर् अथ ऊर्ध्वतोऽवस्थानम् ।

तात्त्वन्ते भ्रूमध्योन्मेषितौलिन्यनुचक्रे^{५२} विषुवत्स्थितिः ।

बाह्यवद् यथायथं ग्रहाणां समागमसङ्क्रमाः ।

अपानान्ते सर्व^{५३} प्राणविश्रमे परा संध्या प्राणमध्यमभित्तिर्मध्याह्नौ^{५४} ऽपानमध्यं

निशीथोऽर्धरात्रः ।

प्राणापानोदयान्ते पर्वसन्धिश्च सूर्येन्दूपरागौ ।

षड्राश्युदयेन प्राणचारो दिनम् अपानोदयो रात्रिः ।

ऐन्दवो राशिचारः स इत्यहोरात्रस्य माससंख्यायां पूर्वपक्षो दिनम् अपरपक्षो रात्रिः ।

रविराशिचारः स इत्यहोरात्रस्य अब्द^{५५} कल्पनायाम् उत्तरायणमहर्दक्षिणायनं निशा ।

४६. अष्ट० - आ

४७. औडुम्बरस्थानारज० - आ

४८. रेखांकित स्थल दुर्बोध्य ।

४९. ऽष्टि० - आ

५०. प्राणप्रतिष्ठौ जीवकेतूराहुश्चक्रावपानस्थावरास्त्योव्याननिष्ठः । - आ
ऊपर का प्रस्तावित शोधन पूर्णतया अंतरिम और वर्णसामीप्य पर आश्रित है ।

५१. ऽकरकिणोश्० - आ

५२. भ्रूमध्यान्मेषितौलिन्यनुचक्रे - आ

५३. सर्वा० - आ

५४. ऽमध्यमभित्तिन्मध्याह्नेऽपान० - आ

५५. अन्द्० - आ । संदिग्ध

षडर्तुकलनया राशिचारे द्वादशाक्षो^{५६} (०ब्दो)दयः ।

पञ्चाग्निचारेण^{५७} अतिसूक्ष्मगत्या राशिसंक्रमे षष्ट्यब्दोदयः ।

(इति) कुलसूत्रेषु चतुर्दशस्वरकला ।।

पञ्चदशस्वरकला

अंस^{५८} प्रतिबिम्बिततटगतोत्थितपुरुषवद् ऊर्ध्वाधोवदनाश् चक्रान्तमूर्धपृ^{५९}ष्ठोदया राशयः ।

कन्दाधस्तात् तात्वन्तं^{६०} षड्त्रिंशदङ्गुले प्राणचारे ध्रुवस्थानतालुचक्रम् उत्क्रम्य प्राणभूमौ कालचक्रोपशमः ।

शतायुः पुरुषः प्राणवायोः शतशो वाहात् ।

धातुत्रयाश्रयेण तस्य त्रैविध्यं, हृदम्बुजप्रतिदलं मूलमध्यान्तविभागस्पर्शान् नवधा गतिः ।

एवं दलाष्टके सद्विशती सप्तसाहस्री ।

प्राणचाराणां त्रिशती^{६१} सषष्टिरन्तर्बहिः सा नालिका ताः षष्टिरहोरात्रम् ।

पञ्च^{६२} पञ्च नाडिकृतः करपादप्रसारः ।

समस्तनाडीनाम् उरसि सङ्गमः ।

^{६३}षष्ट्योर (अथवा षष्ट्याः/षष्टेर्) मध्यमः शुक्रनाडिप्रवाहः ।

षष्टिषु मांसपेशीषु स्थूलनाडिप्रचारः^{६४}, लोमविभक्तः सुसूक्ष्मतमः ।

५६. क्षो(?ब्दो) - आ । संदिग्ध । विकल्प से “द्वादशाब्दोदयः” पाठ भी सम्भाव्य है ।

५७. पञ्चानृचारेवाति० - आ

५८. अं(?)सि - आ । “अं” यहाँ संदिग्ध है । “म” की शंका होती है ।

५९. ०वृ० - आ

६०. ०तात्वन्तर्षड्० - आ

६१. ०तीसष्टिरन्तर्बहिः सानालिकाताः - आ । “द्य” संदिग्ध

६२. पञ्चपञ्चनाडिकृतः - आ

“पञ्च पञ्चनाडिकृतः” वैकल्पिक पाठ हो सकता है ।

६३. पृ(वृ)ष्ट्यैमध्यमः - आ । “पृ” संदिग्ध ।

६४. ०प्रचारः ।। लोम० - आ

महाभयमहादुः^{६५} खप्रतिघाताय ऊर्मिकुलोदयाय वा विश्रामस्थाननिदानस्थानभूता परावाग्भूमिः ।

इति कुलसूत्रेषु पञ्चदशस्वरकला ।।

षोडशस्वरकला

अच्छानच्छहकारार्थः जीव^{६६} कला ।

^{६७} तदृते पिण्डस्थनाशः ।

मनोरथाधिखूढो बद्धो,^{६८} मनोमातङ्गत्वाभावमापन्नो मुक्तः क्षेत्रज्ञ^{६९} इत्यवधानमेव गुरुः ।

ईदृग्देवताधारे कुले चामुण्डायतनं मुखम् ।

स्कन्धयोर्भद्रकालीबलम्^{७०} ।

जानुचक्रजलयुगपादवाहो दिव्यो रथः ।

जघनमहास्थित्र्यश्रसन्निवेशः कदम्बवनम् ।

अत्र नाभौ वासनोपरागवन्नानाविधवर्णसम्भवः ।

त्रिकपालसंघटे महाकौले त्रिपुरोत्पत्तिः,^{७१} व्यक्तिस्तु कुलत्रिकोणे ।

सप्तधातुनखे^{७२} कुले मूलग्रन्थिरेको, द्वादश उपशाखाग्रन्थयः ।

सर्वनाडीनाम् असम्बन्धेऽपि वंशमध्याश्रयता ।

एवमस्याः षोडशकलायाः पौर्णमास्याम् अमावास्यायां प्रवेशो निष्ठा अन्तस्सैव^{७३}

६५. ०दुः० - आ । संदिग्ध ।

६६. अच्छानच्छहकारार्थजीव० - आ

६७. तदृतत्वे पि० - आ । “त” संदिग्ध ।

६८. बद्धो मनोमातङ्गालानभावमापन्नो - आ

६९. ०ज्ञः ६० - आ

७०. यहाँ पर विषयप्रतिपत्ति के आग्रह से “बलम्” को विधेय और “भद्रकाली” को उद्देश्य मानकर पृथक् किया जा सकता है। परन्तु मूल पाठ भी अर्थवान् है, अतः उसे यथावत् रखा गया है ।

७१. ०पत्तिव्यक्ति० - आ

७२. ०खे - आ । संदिग्ध

७३. “०शोनिष्ठान्तस्सैव” - आ । “निष्ठान्तस्सैव” में ऊपर तुप्ताकार की कल्पना कर उसे स्पष्ट करते हुए “अन्तस्” में स्वतन्त्र अकार का आश्रय लिया गया है ।

परमात्मनि आत्मनो विश्रान्तिः ।

ज्ञात्वा एव^{७४} मवधूतकल्पनः प्रमुदितो भूयाः ।

इति कुलसूत्रेषु षोडशस्वरकलाः ।।

कृतिर्गुरुभट्टश्रीशितिकण्ठस्येति शुभम् ।

७४. “एवं ज्ञात्वा” सम्भवतः अधिक अनुकूल होगा?

श्रीशिवोपाध्यायस्वामिविरचितः

शैवाष्टककोशः

यह रचना विज्ञानभैरव-विवृति के रचयिता श्रीशिवोपाध्याय (१७२५-७५ ई.) की है। यह एक प्रकार की संग्रहात्मक कृति है। आकार में अपेक्षाकृत यह रचना बड़ी थी, क्योंकि १२३ पृष्ठ तक से प्रविष्टिकाएँ उतारी गई हैं। इसके उद्धरण मुझे श्री यक्ष जी से ही प्राप्त हुए थे। सम्भवतः यह कश्मीर के राजकीय शोध विभाग की थी और शिवोपाध्याय के श्रीविद्याविवरण, जिसकी संख्या ६६/ई./१-१६ थी, के साथ एक जिल्द में बँधी थी। इसकी चर्चा मैं अपने क्रम तान्त्रिसिद्धि (पृ. २२७) में कर चुका हूँ। हस्तलेख नागरी में था। ऐसा लगता है कि लेखक ने मूल ग्रन्थों से शिवाद्वयवाद के अनेक आधारभूत शब्दों की परिभाषाएँ इकट्ठी की थीं, क्योंकि कुछ स्थलों पर उनके आकर ग्रन्थ का संकेतन किया गया है। इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन होगा। यह भी सम्भव है कि कुछ परिभाषाएँ लेखक की स्वोपज्ञ हों, और बाहर से उपात्त परिभाषाओं के ही आकर दिए गए हों। श्री यक्ष जी ने पूरी पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि करने की अनुमति नहीं दी थी, फिर भी बहुलांश में जितनी सामग्री मिल सकी उसे अगली पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखने हेतु विद्वानों के समक्ष लाना उचित होगा, इस विचार से इस कृति के उपलब्ध अंश नीचे संगृहीत हैं।

पृष्ठांक

१३ हठपाकः

शाम्भवोपायः।

हठः क्रमातिक्रमरूपसकृदुपदेशात्मबलात्कारः तेन पाकः चिदग्निसात्कारः।

* हाशिए में दिए गए अंक मूल मातृका के पृष्ठांक हैं। गहरे (बोल्ड) अक्षरों में मूल शब्द, तदनु यथावसर मातृका द्वारा प्रदत्त आकर वक्राक्षरों (इटैलिक्स) में और फिर व्याख्या/अर्थ साधारण अक्षरों में दिए गए हैं।

२० अनुग्रहः^१ । स्व.पट.२/पत्र.६

भोगमोक्षसम्पत्तिः ।

२१ बीजम् । स्व.पट.२/प.२६^२

स्वतन्त्रानन्दधनः शिवः ।

योनिः । स्व.पट.^३/प.२६

शक्तिः ।

२२ महेशानी । स्व.

चवर्गाधिष्ठात्री महेशशक्तिः ।

कुमारिका

टवर्गाधिष्ठात्री महेशशक्तिः ।

नारायणी

तवर्गाधिष्ठात्री शक्तिः ।

वाराही

पवर्गाधिष्ठात्री शक्तिः ।

ऐन्द्री

यवर्गाधिदेवता शक्तिः ।

चामुण्डा

अन्त्यवर्गाधिदेवी शैवी शक्तिः ।

२३ शक्तिबोधः

स्वसत्ताप्रवेशनया अण्डत्वं निमज्ज्य परमशिवत्वोन्मीलनम् ।

तुटिपातः

आद्योन्मेषस्थितिः ।

१. ०ग्रह - आ.

२. स्वच्छन्द तन्त्र, द्वितीय पटल में अप्राप्त ।

३. तदेव ।

२४ भावनाबलम्

निर्विकल्पसंवेदनस्य या भावना विकल्पहानेन सम्पादना तस्या यद् बलं तथाविमर्शनादाढ्यम् ।

२७ प्रत्याहारः^४ । नेत्रोः^५

शब्दस्पर्शादीनां या काचिद्दशा संविदा(S)नुभूयते तामनादरेणापहस्त्य, स्वचेतसा विकल्पसंवित्परामर्शेनैव परचिद्ब्रामप्रवेशो, यस्याः भूमेः प्रसृतस्य चित्तस्य तत्प्रतीपप्रापणात्मा प्रत्याहारोऽतश्च भवपाशानां निकृन्तकः ।

धारणा । नेत्रोः^६

चैतन्यविमर्शनात्मा वृत्तिर्भवबन्ध^७ विनाशहेतु(यया धार्यते^८)रन्यधारणावैलक्षण्येन विनिर्दिश्यते (सा धारणा^९) ।

२८ ध्यानम्

बुद्धेः ^{१०}सत्त्वादिगुणान् समावेशेन प्रशमय्य नियत्याकृत्यादिरूपेभ्यो निष्क्रान्तं व्यापकं स्वप्रकाशं ध्यानाहं चिदानन्दघनं परमेश्वरं विमृश्य तद्विमर्शात्मैव ध्यानमविच्छिन्नेन^{११} पारम्पर्येण जानन्ति ।^{१२}

३६ व्योमपञ्चकम्

जन्म-नाभि-हृद्-बिन्दु-^{१३}नादरूपाणां व्योम्नां पञ्चकं विद्यते यत्र ।

४. ०हार - आ. ।

५. क्षेमराज कृत नेत्रतन्त्रोद्योत । मिलाइए ने.तं.८/१४ पर उद्योत (का.ग्रं.), भा.१, पृ. १८३ ।

६. तु० ने.तं.८/१६ पर उद्योत, तदेव, पृ. १८४ ।

७. ०बन्य० - आ. ।

८. लिपिकार की टिप्पणी ।

९. लिपिकार की टिप्पणी ।

१०. सत्त्वा० - आ. ।

११. ०विच्छिन्नेन - आ. ।

१२. यद्यपि कोशकार/लिपिकार की ओर से यहाँ कोई सूचना नहीं है, यह ने.तं. ८/१५ पर उद्योत का संक्षेप है ।

१३. बिन्दुरूपाणाम् - आ. ।

ने.तं.उ., भा. १, पृ. १४८ (ने.तं. ७/१ पर) के आधार पर "नाद" का संग्रह ।

ग्रन्थिद्वादशसंयुक्तम्। नेत्रो^{१४}

माया-पाशव-ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-ईश्वर-सदाशिव-इन्धिका-दीपिका-बैन्दव-नादशक्त्याख्या
ये पाशाः तैः संयुक्तम्।

शक्तित्रयसमन्वितम्^{१५}

इच्छादिना शक्तित्रयेण सम्यगन्विततमेषणीयादिविषये प्रवर्तमानम्।

३६ काली

कलयति परामृशति क्षिपति विसृजति संहरति गणयति जानीते चेति, शक्तिरित्यर्थः।^{१६}

कुण्डली

कुण्डे परामृतरूपे लीयते इति कुण्डली कुण्डलिनी च शक्तिः।

४१ अकुलम्

षट्त्रिंशत्तत्त्वोत्तीर्णपूर्णप्रकाशसंवित्त्वम् अकुलम्। शिवतत्त्वम्।

कौलिकी

कुलस्य अनाश्रितादिधरण्यन्तस्य यत् प्रथनं तेन श्लाघमाना^{१७} तत्तद्रूपेण

शोभमाना शरीराम्बिका पराशक्तिरित्यर्थः, यदुक्तम् :

अकुलस्यादिदेवस्य^{१८} कुलप्रथनशालिनी।

कौलिकी सा पराशक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः।।^{१९}

इति।

१४. यहाँ पर सन्दर्भित है ने.तं. ७/२अ। वस्तुतः कोश की दृष्टि से यहाँ मात्र “ग्रन्थिद्वादश” परिभाष्य होना चाहिए था, परन्तु लगता है कोशकार नेत्रतन्त्र के उपर्युक्त श्लोकांश की व्याख्या कर रहा है।

१५. यहाँ पर संदर्भित है ने.तं. ७/२ ब। वस्तुतः होना चाहिए था “शक्तित्रयम्” मात्र, परन्तु पिछली टिप्पणी वाली स्थिति यहाँ भी।

१६. चेति। शक्तिरित्यर्थः - आ.।

१७. श्लाघ्यमाना - आ.।

१८. अकुलस्यास्य देवस्य - पाठभेद, का.ग्रं. (तं. ३/६७अ)।

१९. तं. ३/६७।

षडध्यानः

वर्ण-पद-मन्त्र-कला-तत्त्व-भुवनात्मकाः ।

४२ **मन्त्रवीर्यम्**

भेदात्मकमायीयसमस्तक्षोभप्रशमनेन (चिदात्मकस्वरूपोन्मज्जनैकरूपम्)^{२०}
परिपूर्णाहंविमर्शमयचित्स्वरूपस्फुरणम् ।

४६ **विसर्गः^{२१}**

विविधसृज्यमाणशक्तिचक्रप्रसवभूमिः पारमेश्वरी शक्तिः ।

कुलम्

शिवादिपृथिव्यन्तषड्त्रिंशत्तत्त्वचक्रम् ।

४७ **अग्निः^{२२}**

^{२३} ज्ञानात्मकार्थगमकत्वात् प्रमाता ।

४८ **इन्दुः**

आह्लाद^{२४} करणशीलत्वात् प्रमेयः ।

सूर्यः^{२५}

प्रकाशकत्वात् प्रमाणम् ।

५४ **शक्तितत्त्वम्^{२६}**

परमेश्वरस्य धरण्यन्तं जगत्स्रष्टुमिच्छां परिगृहीतवतः प्रथमस्पन्द एव इच्छाशक्तितत्त्वम्
अप्रतिहतेच्छत्वात् ।

२०. लिपिकार की टिप्पणी ।

२१. विसर्ग - आ. ।

२२. अग्नि - आ. ।

२३. ज्ञानात्मकोऽर्थः - आ. ।

२४. आह्लादः - आ. ।

२५. सूर्य - आ. ।

२६. तत्त्वम् - आ. ।

५६ भावना

अन्तर्मुखप्रतिभोन्मज्जनपरामर्शनम् ।

६० विमर्शः^{२७}विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम् ।^{२८}

६१ उद्यमः

विततविशदप्रकाशविमर्शप्रतिभोन्मीलनम् ।

भरणम्

स्वस्मिन् संविद्रूपे जगतो धारणपोषणात्मकपूर्णता ।

ऊर्मिः

विबोधाब्धेनिस्तरङ्गरूपस्य तदुल्लासकारणशीला शक्तिरूर्मिः^{२९} ।

चैतन्यम्

सर्वनीलसुखादिज्ञानक्रियासंयोजनवियोजनादिकारित्वम् । स्वातन्त्र्यमित्यर्थः ।

६२ जाग्रत्^{३०}

अक्षैर्योऽर्थग्रहः पुंसां तज्जाग्रत् ।

स्वप्नः

यद् इन्द्रियैर्विना मनसा उल्लिख्य अर्थस्मरणं स स्वप्नः ।

सुषुप्तिः^{३१}पुरीतति^{३२} प्रविश्य यत्रार्थाः तेषां च स्मरणं न, सा सुषुप्तिरिति ।

२७. विमर्श - आ. ।

२८. मिलाइए क्षेमराज कृत पराव्रजवैशिका (का.ग्रं.): “विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहम् इति विस्फुरणम् ।”

२९. ०रूर्मिः - आ. ।

३०. जाग्रत् - आ. ।

३१. सुषुप्ति - आ. ।

३२. पुरितति - आ. ।

आपटे के अनुसार पुरितत् (पुरितति : सप्तमी, ए.व.) प्रयोग भी मिलता है, पर उसे वह गलत मानते हैं ।

प्रत्यभिज्ञा

प्रतीपम् आत्माभिमुख्येन ज्ञानं^{३३} प्रकाशो भातभासानुसन्धानात्मिका सोऽयमिति प्रसिद्धा ।

६५ निमीलनसमाधिः

परमशिवावस्था^{३४} शम्भवोपायः ।

उन्मीलनसमाधिः

मन्मयमेवेदं सर्वम् इत्युक्तयुक्तिसम्यक्परिशीलनशक्तिदशारूढिः शाक्तोपाय^{३५} इति ।

६६ मध्यमधाम

उदानपथं सुषुम्णाख्यम् ।^{३६}

मध्यमकला

प्राणशक्तिः ।

ग्रन्थिः

परचित्प्रकाशावटिका ।

७७ पश्यन्ती

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहतक्रमा ।

स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ।।^{३७}

मध्यमा

केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी ।

प्राणवृत्तिमतिक्रम्य सूक्ष्मा वाक् प्रवर्तते ।।^{३८}

३३. ज्ञानप्रकाशो - आ. ।

३४. शम्भवो - आ. ।

३५. शाक्तोपायः - आ. ।

३६. भाषा की दृष्टि से इसे "उदानपथः सुषुम्णाख्यः" होना चाहिए था । पर यदि इसे "धाम" का विशेषण मान लिया जाए तो यह प्रयोग भी मान्य होगा ।

३७. वाक्यपदीय १/१३४ (अय्यर संस्करण) पर वृत्ति में यह "इतिहास" से उद्धृत कारिकाओं के रूप में उपलब्ध ।

३८. तदेव ।

वैखरी

स्थानेषु विवृते^{३६} वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।

वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां^{४०} प्राणवृत्तिनिबन्धना^{४१} ॥^{४२}

७८ अम्बा

अप्ररूढभेदा समरसा(S)द्वैतप्रथोन्मुखी परमेश्वरशक्तिरम्बाख्या ।

७९ ज्येष्ठा

द्वैतदावप्लुष्टस्य^{४३} पशोः स्वरूपविकासामृतबिन्दुसिञ्चिनी शक्तिरिति ।

रौद्री

मोक्षस्य स्वात्मविकासोत्पत्तयस्य मार्गनिरोधिनी अतएव घोरा रौद्री इति ।

वामा

शिवादिधरण्यन्ताशेषविश्ववैचित्र्यस्य^{४४} स्वरूपाद् भिन्नवमनकरिणी शक्तिः ।

८० शिवव्याप्तिः^{४५}

सर्वज्ञत्वादि^{४६} गुणान् व्यापकान् स्वस्मिन् उद्भावयतः सहजविद्याप्रापणम्^{४७} शिवव्याप्तिः ।

८१ सम्प्रदायः

गुरुशिष्यप्रशिष्यादिक्रमपरम्परागतो रहस्यमन्त्रोपदेशः ।

शक्तिपातः

भेदसन्धानविवृत्तिसम्पादनपूर्वशिवतादात्म्यविवेकौन्मुख्यदायिन्या अनुग्रहा-

३६. विवृते - पाठभेद, यथोपरि ।

४०. प्रयोक्तृणां - आ. ।

४१. निबन्धनो - आ. ।

४२. यथोपरि पा.टि. ३७-३८ में ।

४३. प्लुष्टस्य - मा. ।

४४. वैचित्र्यं - आ. ।

४५. व्याप्ति - आ. ।

४६. सर्वज्ञादि - आ. ।

४७. प्राणम् । शिव - आ. ।

ख्यायाः^{४८} पातः स्वमरीचिचयस्फारः^{४९} ।

सारः

स्वस्वभावनिस्तरङ्गस्वच्छस्वच्छन्दचिदमृताब्धेर्निर्निरोधविश्वमयकल्लोलप्रसरणसामर्थ्यम् ।

८६ मुद्रावीर्यम् । शि.स्तू.शा. ५ सू.^{५०}

भेदात्मकमायीयसमस्तक्षोभप्रशमनेन चिदात्मकस्वरूपोन्मज्जनैकरूपम् ।

तत्त्वम्

तत्त्वं नाम वर्गाणां विशेषरूपाणाम् एकीकरणकारणम्, मृदूपटादीनामिव पृथिवी, सरित्समुद्रादीनामिव जलम्, सामान्यमुच्यते । तच्च शिव इति अथवा भवादिलोकत्रये प्रकाशमानतान्यथानुपपत्त्या अनुयायि रूपं प्रकाशानन्दैकघनं तत्त्वम् ।

अथवा तन्यते सर्वं यत्र तन्वादि, तत् तत्त्वम्, तननाद्वा तद्^{५१} आप्रलयं तस्य भाव इति वा । तत्त्वमिति । न च चिद्रूपे भगवति परमशिवे तत्त्वव्यपदेशो जाड्यापादकः स्यादिति वाच्यम् । उपदेश्यजनापेक्षया तद्व्यपदेशो न वस्तुतः ।

८६ विकल्पः^{५२}

अन्यापोहलक्षणत्वे सति घटाघटरूपद्वयारोपितया^{५३} अघटाद् व्यवच्छिन्नस्य घटस्य निश्चयनम् ।

९० यामलम्

नहि प्रकाशो विमर्शाद्विज्ञो न च तस्माद् इति तत्प्रकाशविमर्शात्मकमद्वैतं शिवयोः (सामरस्य^{५४})रूपमित्यर्थः ।

४८. ०ग्रहाख्याः पातः - आ ।

४९. ०वयास्फारः - आ. ।

५०. मातृका मे प्राप्त प्रतीको से आकर ग्रन्थ का स्पष्ट पता नहीं चलता ।

५१. तत् - आ. ।

५२. विकल्प - आ. ।

५३. ०द्वयासेपि० - आ. ।

५४. लिपिकार की टिप्पणी ।

६४ बिन्दुः^{५५}

प्रमाणादीनाम् आश्रयभूतायां क्रियाशक्तावुदितायां परिस्फुरन्त्यामपि अविभाग-
स्तैश्च्युपायाद्यव^{५६} छेदशून्यः पूर्णः प्रकाश इति। ज्ञानशक्तिको^{५७} बिन्दुरिति।

नादः

नदति स्वाभेदेन विश्वं परामृशति इति परावाग्रूपो विमर्शः। क्रियाशक्तिश्चेति।

हंसः

विश्वसृष्टिसंहारात्मकहानसमादानधर्मा परमेश्वर एव हंसः।

व्योमव्यापी

शून्यातिशून्यपदं व्याप्नुवन् (य आस्ते)^{५८}।

शूलम्

स्वातन्त्र्यशक्तिभित्तुदुङ्कितेच्छा-ज्ञान-क्रियाशक्त्यात्मकम्।

अभित्तिः

निषेधाव^{५९} भासरूपा महाशून्याख्या।^{६०}

भवः

भवति सर्वस्य सत्यप्रकाशात्मना रूपेण विद्यते इति भवः।

६५ खेचर्यः

खे बोधगगने चरन्तीति खेचर्यः प्रमातृभूमिस्थिताः परशक्तिपातपवित्रितानां
चिदानन्दप्रसरोद्धमनसाराः अकालकलितत्वाद् अभेदसर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वव्याप-
कत्वस्वरूपोन्मीलनपरमार्थाः। मायामोहितानां तु अनानन्दप्रदाः शून्यप्रमातृभूमिचारिण्यः
कालकला(S)शुद्धविद्यारागनियतिमयतया बन्धयिष्यः इति।

५५. बिन्दु - आ.।

५६. ०द्युपायप्यव० - आ.। "यय" संदिग्ध पाठ।

५७. ०शक्तिकी - आ.।

"ज्ञानशक्तिश्च" भी नीचे की प्रविष्टि (क्रियाशक्तिश्च) की तर्ज पर लिया जा सकता है।

५८. सम्पादकीय वाक्यपूर्ति।

५९. निषेधैधाव० - आ.।

६०. ०शून्य त्पा० - आ.।

"शून्यरूपा" अथवा "शून्यात्मा" भी विकल्पान्तर हो सकते हैं।

६६ गोचर्यः

गौर्वाक् तदुपलक्षितासु सङ्कल्प^{६१} मयीषु बुद्ध्यहङ्कारमनोभूमिषु चरन्तीति गोचर्यः शक्तिपातवतां शुद्धाध्यवसायाभिमानसङ्कल्पप्ररोहिण्यः परेषां तु विपर्यासिन्यः ।

दिक्चर्यः

दिक्षु च दशषु बाह्येन्द्रियभूमिषु चरन्तीति दिक्चर्यः । अनुगृहीतानाम् अद्वयप्रथनसाराः परेषां द्वयप्रतीतिपातिन्यः ।

भूचर्यः

भूचर्यः भूः रूपादिपञ्चात्मकं मेयपदं तत्र चरन्तीति भूचर्यः । तदाभोगमय्यः आश्यानीभावेन तन्मयतामापन्नाः प्रबुद्धानां चित्रकाशशरीरतया स्फुरन्त्यः इतरेषां सर्वतो व्यवच्छेदतां दर्शयन्ति इति ।

६७ खेचरीमुद्रा

मुदो हर्षस्य धारणात् पाशमोचन-भेदद्रावणात्मत्वाच्च ^{६२} परसंविदद्रावणामुद्रणाच्च मुद्रा, खे बोधगगने चरणात् खेचरी ।

अहङ्कारः^{६३}

न ममेदं, ममेदम् इत्यहंप्रतीत्यभिमानसाधनम् ।

बुद्धितत्त्वम्^{६४}

निश्चयकारिणी विकल्पप्रतिबिम्बधारिणी बुद्धिः ।

६८ शक्त्यण्डम्

विश्वस्य प्रमातृप्रमेयमयस्य पराहन्ताचमत्कारसारस्यापि स्वस्वरूपापोहनात्मा अख्यातिमयी निषेधव्यापाररूपा या पारमेश्वरी शक्तिः सैव आच्छादकत्वेन बन्धकतया शक्त्यण्डमुच्यते ।

६१. सकल्प० - आ. ।

६२. ०संविदद्रावणमुद्रणाच्च - आ. ।

अपने पाठ शोधन से मैं सन्तुष्ट नहीं हूँ । अन्वय और व्यतिरेक दोनों विधियों से क्रमशः मुद्रण और द्रावण को प्रस्तुत किया गया लगता है ।

६३. अहङ्कार - आ. ।

६४. ०तत्त्व - आ. ।

सदाशिवेश्वरविद्यातत्त्व^{६५} पर्यन्तदलं मायाप्रकृतिपृथिव्याख्यम् अण्डत्रितयम् अन्तः
समन्ताद्गर्भीकृत्य अवतिष्ठते इति कोशरूपतया एषा शक्तिरनेन शब्देन संज्ञिता ।

६६ मायाण्डम्

मलत्रयस्वभावं मोहमयं भेदैकप्रचयतया^{६६} सर्वप्रमातृणां बन्धरूपं^{६७} पुंस्तत्त्वपर्यन्तदलं
मायाख्यम् अण्डमुच्यते । एतच्च प्रकृतिपुरुषाख्यम् अण्डद्वितयम् अन्तः समन्तात्
स्वीकृत्य स्थितम् ।

प्रकृत्यण्डम्

^{६८} सत्त्वरजस्तमोमयी प्रकृतिः कार्यकरणात्मना^{६९} परिणता सती पशुप्रमातृणां भोग्यरूपा
सुखदुःखमोहरूपतया बन्धयित्री प्रकृत्यभिधानम् अण्डमुच्यते ।

१०० पृथिव्यण्डम्

पृथिवी चैवं मनुष्यस्थावरान्तानां^{७०} प्रतिप्रकाररूपतया स्थूलकञ्चुकमयी बन्धयित्री
पृथिव्यण्डमुच्यते ।

१०४ विनायकाः

कादिकलाचक्रसमुत्थाः परामृतरसस्थगनाय कृतोद्योगा बाह्यादिदेवताः^{७१} घोरादिसंज्ञाभिन्नाः ।

हविः

परस्मिन् स्वमरीचिचयैरशेषश्लोषणकारिणि चिदग्नौ हूयमानम् ।

६५. तत्त्व - आ. ।

६६. ०प्रचण० - आ. ।

“प्रवण” भी विकल्पान्तर से सम्भव ।

६७. ०तत्त्व० - आ. ।

६८. सत्त्व० - आ. ।

६९. ०कारणा० - आ. ।

७०. “प्रकार” शब्द का अभिधेय बहुत स्पष्ट नहीं है ।

७१. ०देवताः । घोरादि० - आ. ।

११६ योनिवर्गः। शिव.सू.शा.^{७२}

मायीयं मलम्।

करणशक्तिः। शि.सू.३७^३

तत्तदसाधारणार्थनिर्मातृत्वम्।

१२० धारणा

यया चिद्घनानन्दपरमात्मप्रकाशोपचयो भवति सा^{७४} धारणा न तु भूतानामधिकरणेषु तत्स्वरूपानुभवः।

१२१ मन्त्रसद्भावः

पराहन्तारूपं वीर्यम्।

उच्चारः।^{७५} शिव.सू.शाक्तो.सू.२^{७६}

सहजोद्यमनकर्तृतात्मा विमर्शः।

सत्ता। शिव.सू.शाक्तो.सू.८^{७७}

भवनकर्तृता अशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहंविमर्शनात्मा।

१२२ मुद्रावीर्यम्। शिव.सू.शाक्तो. सू.५^{७८}

भेदात्मकमायीयसमस्तक्षोभप्रशमनेन चिदात्मकस्वरूपोन्मज्जनैकरूपम्।

७२. आकर ग्रन्थ अज्ञात।

७३. आकर अज्ञात।

७४. स - आ.।

७५. उच्चारः शिव० - आ.।

७६. आकर अज्ञात।

७७. आकर अज्ञात।

७८. आकर अज्ञात।

१२३ सत्त्वम्^{७६}

स्फुरत्तात्मा सूक्ष्म आन्तरपरिस्पन्दः ।

काली

कलयति ग्रसते^{८०} क्षिपति च सृजति जगदिति काली पराशक्तिरिति ।

बीजम्

विश्वकारणं स्फुरत्तात्मा पराशक्तिः ।

(इति श्रीशिवोपाध्यायस्वामिविरचितः शैवाष्टककोशः पदविशेषसमुच्चयात्मकः ।^{८१})

७६. सत्त्वम् - आ. ।

८०. ग्रसयते - आ. ।

८१. सम्पादकीय पुष्पिका ।

ज्ञानक्रियाद्वयशतकम्

अनाम लेखक की इस कृति का महत्त्व इस बात में है कि अद्वय काश्मीरी शैव-दर्शन के सामान्य प्रमेयों के सामान्य प्रतिपादन के उपरान्त इसका स्पष्ट रुझान क्रम-दर्शन की ओर दिखाई देता है। भण्डारकर प्राच्य शोध संस्थान में १८७५-७६ की सूची में यह क्रमाङ्क १०७ पर अङ्कित है। ४ फोलियो और ८ पत्रों के परिमाणवाली यह मातृका नागरी लिपि में है। कृति के नाम से अपेक्षित २०० (द्वयशतकम्) श्लोकों के स्थान पर उपलब्ध ग्रन्थ का परिमाण २१७ पंक्तियाँ अर्थात् १०८ १/२ श्लोक हैं।^१ मातृका में उपलब्ध अन्तिम श्लोक संख्या का क्रमाङ्क १०६ है। आशङ्कित या संशयित लुप्त पंक्तियों का आकलन करने पर यहाँ पर मुद्रित पाठ में यह क्रमाङ्क १११ तक जाता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उपलब्ध अपने वर्तमान रूप में कृति अधूरी है। सम्भवतः लिपिकार, सच पूछिए तो प्रतिलिपिकार, को उपलब्ध आदर्श मातृका अधूरी रही होगी। पहला कारण तो यह कि लिपिकार कई बार श्लोकों की संख्या या पंक्तियों को लेकर संशयग्रस्त लगता है और दूसरे शीर्षक में प्रतिज्ञात लगभग आधी कारिकाओं का अभाव है। नागरी लिपि में प्रतिलिपि का होना उसकी अपेक्षाकृत अर्वाचीनता का द्योतक है, पर इससे मूल रचना की प्राचीनता या परवर्तिता पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। लेखक के बारे में हमारा ज्ञान शून्य है, यद्यपि लेखक अपनी चर्चा उत्तम पुरुष में कई बार करता है (यथा श्लोक १० : “अस्माभिः क्रियते श्रमः”; श्लोक १५ : “अस्माभिरुपायो प्रवितन्यते”; श्लोक १११ : “दर्शितो मया”), फिर भी इससे नाम का कोई खुलासा नहीं होता। कृति के समय को लेकर भी अनिश्चय की स्थिति यथावत् है। २८वीं कारिका में *मालिनीविजयोत्तर तन्त्र* (१/४२ : “शैवी संबध्यते शक्तिः”), ४६वीं में *स्पन्दकारिका* (२/४ : “न सावस्था न या शिवः”) और ४६वीं में *किरणागम* (*तन्त्रालोक* ४/४१ में उद्धृत : “गुरुतः शास्त्रतः स्वतः”) की छाया दिखाई देती है। पर ये सभी आकर ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन हैं और

१. चूँकि यह सामग्री वर्षों पूर्व इकट्ठा की गई थी, वह भी अध्ययन के प्रसङ्ग से प्रकाशन की इच्छा से नहीं, अतः मातृकाविषयक अन्य विवरण उस समय नोट नहीं किए थे। आवश्यक होने पर उनका संग्रह भण्डारकर संस्थान से किया जा सकता है।

अभिनवगुप्त अर्थात् दसवीं शताब्दी से निःसन्देह पूर्व के हैं। अन्तरंग साक्ष्य के तौर पर अष्टाङ्ग योग के अनुष्ठान (श्लोक १६) को प्रमेयतया उपस्थापित करना, काल को जयरथ के पीछे ले जाता प्रतीत होता है, क्योंकि क्रम-दर्शन में षडङ्ग योग की कल्पना कण्ठशः जयरथ से प्रारम्भ होती है। लेखक द्वारा समसामयिक छद्म साधकों और कृतक दार्शनिकों की तीखी और व्यंग्यभरी लम्बी आलोचना (श्लोक ३७-६३) क्षेमेन्द्र की याद दिलाती है, जो अभिनवगुप्त के कनिष्ठ-समकालीन हैं। अतः इन आधारों पर अन्तरिम रूप से, आगे के अनुसंधान के निर्णयों तक, ग्यारहवीं से तेरहवीं शती के मध्य इसके रचे जाने की सम्भावना की जा सकती है।^२

ओं नमः शिवाय ।

ओं नमः स्वतन्त्र^३ चिच्छक्तिमुद्रितस्वविभूतये ।

व्यक्ताव्यक्तस्वरूपाय कस्मैचिन्मन्त्रमूर्तये ॥ १ ॥

आसन्नाय सुदूराय गुह्याय प्रकटात्मने ।

सुलभायातिर्गाय(?)^४ नमस्ते मन्त्रमूर्तये ॥ २ ॥

स्वभि^५ त्त्युल्लिखितानल्पविकल्पोल्लासशालिने ।

नमस्ते कल्पनाजालनिर्विकल्पाय शम्भवे ॥ ३ ॥

चराचरजगत्स्फारस्फुरतामात्र^६ धर्मिणे ।

दुर्विज्ञेयरहस्याय युक्तैरप्यात्मने नमः ॥ ४ ॥

षडध्वविततस्फारविस्फारणमहाधिये ।

नमः समस्तभावौघहटालङ्ग्रासभानवे ॥ ५ ॥

२. यद्यपि यहाँ पर इस कृति का अध्ययन प्रयोजनीय नहीं है, फिर भी जिस प्रकार से यहाँ शक्तिपात से वैराग्य, मलक्षय से अनुष्ठान, अनुष्ठान से विशुद्धि आदि की बातें कही गई हैं (श्लोक २६-३३), वे शिवाद्वयवादी दृष्टिकोण से अक्षरशः समञ्जस नहीं लगती। लगता है धार्मिक-दार्शनिक लोकप्रिय तत्त्वों के प्रभाव में ऐसा हुआ है।

३. स्वतन्त्रचिच्छक्ति० - मा.।

४. अर्थ दुर्बोध्य। शब्दसाम्य की दृष्टि से “अतिगमाय” “अतिर्गाय” के निकटतम प्रतीत होता है। थोड़ा सा दूर जाने पर “अतुर्गाय” (तुर्यातीत के अर्थ में) भी सम्भाव्य विकल्प हो सकता है।

५. ०भित्तु० - आ.।

६. ०मात्रध धर्मिणे - आ.।

उद्विक्ताय प्रशान्ताय कठिनाय द्रवात्मने ।
 मायाविने विशुद्धाय नमः स्वाधीनशक्तये ॥ ६ ॥

पञ्चवाहक्रमोदग्रसर्वानुग्रहधर्मिणे ।
 मोहतामिस्रविध्वंसप्रचण्डमहसे नमः ॥ ७ ॥

शब्दादिविषयासक्तशक्तिचक्रविकासिने ।
 अनन्तानन्दसंदोहसुधानिःस्यन्दिने नमः ॥ ८ ॥

प्रतिभावं प्रतिकलं प्रत्याशं प्रतिप्रा^७भवम् ।
 निकटो यद्यपि स्वैरं^८ प्रकटश्चिन्महेश्वरः ॥ ९ ॥

तथाप्यविद्यादुर्वारदोषदूषितचेतसः ।
 तत्प्रकाशोपकारार्थमस्माभिः क्रियते श्रमः^९ ॥ १० ॥

ससंशयानामज्ञानां शठानां भ्रान्तचेतसाम् ।
 कुदैशिकप्रपन्नानां शुभशास्त्रोपहासिनाम् ॥ ११ ॥

अभावितानामास्तिक्यशून्यानां शून्यवादिनाम् ।
 लोभलौल्यप्रसक्तानामनात्माभिनिवेशिनाम् ॥ १२ ॥

समयाचारहीनानां मिथ्याज्ञानाभिमानिनाम् ।
 उपप्लुप्तमनोदुष्टवार्तामात्रोपजीवि^{१०}नाम् ॥ १३ ॥

लुब्धानां क्रूरचेष्टानामसन्मार्गानुसारिणाम् ।
 योग-चर्या-क्रिया-ज्ञानबा^{११}ह्यानामविवेकिनाम् ॥ १४ ॥

उपपत्त्या निराकर्तुं सतां व्युत्पत्तिहेतवे ।
 यथागमार्थमस्माभिरुपायः^{१२} प्रवितन्यते ॥ १५ ॥

७. अर्थ दुर्बोध । “प्राभवम्” को “प्रभु” से व्युत्पन्न न मानकर “प्र+आ+भव” से लेना सम्भवतः अपेक्षाकृत उपयुक्त होगा । ऐसी स्थिति में अर्थ होगा “प्रतिलोकम्” या “प्रति-उत्पत्तिविषयीभूतवस्तु” ।

८. स्वैरं यथा स्यात्तथा अर्थात् यथास्वातन्त्र्यम् ।

९. शमः - आ. ।

१०. ंताम् - आ. ।

११. रवा(?ह्या)- आ । संदिग्ध ।

१२. ंभिरुपाय प्रवि० - आ. ।

शास्त्रं गुरुकुलोपासानुग्रहोऽर्चनपद्धतिः ।

अष्टाङ्गयोगानुष्ठानं समयाचारसेवनम् ॥ १६ ॥

भावना-गुरु-शास्त्रेभ्यः सदसद्वस्तुनिश्चयः ।

सम्प्रदाये समाश्वास आगमार्थानुशीलनम् ॥ १७ ॥

प्रतीतिः स्वात्मसत्तायां सहजानुभवक्रमः ।

प्रत्ययो योगचिह्नाणि चिदानन्दैकनिष्ठता ॥ १८ ॥

सत्सङ्गमैकव्यसनिरूपता मनःशुद्धिरलोलुपा ।

वैराग्यं करुणा मैत्री तीव्रकोपसहिष्णुता ॥ १९ ॥

पारम्पर्यक्रमाम्नाययोगिनीसिद्धमेलकः ।

तच्च^{१३} रुचर्यकथनं^{१४} संक्रामः स्पर्श आन्तरः ॥ २० ॥

समावेशः परानन्दः सर्ववृत्तिविलापकः ।

निरावेशो निरुद्योगः संहारश्चाप्यनुत्तरः ॥ २१ ॥

इत्येष स्वात्मसत्ता^{१५} याममितस्य परमेशितुः ।

उपायव्रात आदिष्टः स्वस्वरूपप्रकाशकः ॥ २२ ॥

अथवा निरपेक्षैव स्वतन्त्रा परमेशितुः ।

विशृङ्खला पराशक्तिर्हेतुः स्वात्मोपलब्धये ॥ २३ ॥

गोपितस्वमहिम्नोऽस्य सम्मोहाद्विस्मृतात्मनः ।

यः सङ्कोचः स एवाद्याणवो मल उच्यते ॥ २४ ॥

ततः ^{१६} षट्कञ्चुकव्याप्तिलोपितनिजस्थतेः ।

भूतदेहस्थितिरसौ मायीयो मल उच्यते ॥ २५ ॥

यदन्तःकरणाधीनबुद्धिकर्मेन्द्रियादिभिः ।

बहिः^{१७} व्याप्रियते कर्म मलमेतस्य तन्मतम् ॥ २६ ॥

१३. तश्चा० - आ. ।

१४. आपाततः इस पाठ में दोष नहीं है, पर सम्प्रदाय की दृष्टि से "तच्चरुचर्याकथनं" पाठ अधिक संगत होता। "तच्चरुचर्या कथनं" इस प्रकार पदच्छेदपूर्वक पाठ भी सम्प्रदायानुसारी होगा।

१५. ०सत्तायामितस्य - आ. ।

१६. षड्० - आ. ।

१७. बहिर्व्या० - आ. ।

मलत्रितयसम्बद्धशक्तिपाशवशीकृतः ।
 सुखदुःखादिभोक्तासौ भावे विपरिवर्तते ॥ २७ ॥
 विलुप्तस्वप्रकाशस्य कदाचिच्छाम्भवी परा ।
 शक्तिः सम्बन्ध्यते तीव्रा स्वतन्त्रा स्वरसोदिता ॥ २८ ॥
 आयातशक्तिपातस्य विवेको जायते हृदि ।
 विवेकारूढवैराग्यं^{१८} वैराग्यात्प्रशमोदयः ॥ २९ ॥
 प्रशमात्साधुसम्पर्कः कल्याणं सत्समागमात् ।
 कल्याणात्सद्गुरुप्राप्तिर्गुरुं प्राप्य मलक्षयः ॥ ३० ॥
 मलक्षयादनुष्ठानमनुष्ठानाद्विशुद्धता ।
 विशुद्धेर्दुःखविरतिर्दुःखहान्या स्थिरा मतिः ॥ ३१ ॥
 मतिस्थैर्यात्सुविश्रान्तिः सुविश्रान्त्या चिदेकता ।
 चिदैक्या^{१९} ज्ञानसंक्रामो ज्ञानाज्ज्ञेयैकनिष्ठता ॥ ३२ ॥
 ज्ञेयलाभादसन्दिग्धा जीवन्मुक्तिर्महात्मनाम् ।
 जीवन्मुक्तेर्न संसारे पुनरावर्तनभ्रमः ॥ ३३ ॥
 एवं शुद्धक्रियाज्ञानागमेऽस्मिन्पारमेश्वरे ।
 शासने वित्नुतैस्तूर्णं प्रवेशः क्रियते कथम् ॥ ३४ ॥
 नानुष्ठिता क्रिया यावद् रूढा यावन्न भावना ।
 यावन्न सतताभ्यासस्तावन्मुक्तिः कथं भवेत् ॥ ३५ ॥
 गुरुपदेशशास्त्रार्थचर्चासु * * * * * ।
 यावन्न निकटं प्राप्तस्तावल्लभ्यो विभुः कथम् ॥ ३६ ॥
 युक्तियुक्तो यथाशास्त्रं नयोऽयं शिवशासने ।
 न स्पृश्यते तिरोधानविपर्यासितदृष्टिभिः ॥ ३७ ॥

१८. “विवेकारूढं वैराग्यं” आनुपूर्विक अर्थस्वारस्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त होता, पर मूल का पाठ भी अर्थवान् है। अतः यथावत् गृहीत है।

१९. चिदैक्याज्ञान० - आ.।

निष्पत्रां वीरचर्चादिवार्तां श्रुत्वा(S)^{२०}नियन्त्रिताम् ।

विधीयते मुधा मुग्धैः क्रियामार्गोपसंहतिः ॥ ३८ ॥

अगम्यगमनाभक्ष्यभक्षणालौल्यलम्पटैः ।

निर्विकल्पं मनो(S)स्माकं जातमित्युद्ग^{२१}म्यते(?) स्पृहा ॥ ३९ ॥

स्नानादौ दुःखनिर्वर्त्ये विहिता^{२२}नादरास्पदम् ।

प्रकाशयन्ति मिथ्यैव मनःशौचमनाविलम् ॥ ४० ॥

सर्वावस्थासु नास्माकं लुप्यते स्वस्थितिः क्वचित् ।

इत्युक्तवन्तस्तिष्ठन्ति प्रमादा^{२३}लस्यमोहिताः ॥ ४१ ॥

नेच्छाविघातः कर्तव्यः शक्तीनामिति संततम् ।

कथयन्तो दुराचाराः कामयन्ते परस्त्रियः ॥ ४२ ॥

चित्राथं करणैश्वर्यः सुभोगैः पूरयन्ति नः ।

इत्यनूचानाः प्रमुह्यन्ति विषयास्वादसंततौ ॥ ४३ ॥

नैवं बन्धो न मोक्षोऽस्ति तत्त्वतः स्वात्मवेदिनाम् ।

इत्युच्चकैः प्रतिज्ञाय घोरकर्माणि कुर्वते ॥ ४४ ॥

अयत्नजैव सर्वेषां देहपाते विमुक्तता ।

इत्युद्घोष्यावमन्यते गुरुदीक्षार्चनादिकम् ॥ ४५ ॥

विकल्पनिवहव्याप्तिकेपाक्षिप्तचेतसः ।

कथयन्ति निरावेशा न सावस्था न या^{२४} शिवः ॥ ४६ ॥

नाडीचक्रक्रमाधारधाराणाध्यानकल्पने ।

अनायत्तं तु चित्तं तु शून्यं शंसन्ति सादराः ॥ ४७ ॥

२०. श्रुत्वा नियन्त्रिताम् - आ. ।

हम अपने विकल्पन को लेकर पूर्णतः आश्वस्त नहीं हैं। मातृकागत पाठ में आपाततः दोष नहीं है, पर सम्प्रदाय की प्रकृति और प्रकरणगत प्रतिपादन की दृष्टि से यह पाठ अपेक्षाकृत बेहतर लगता है और अवग्रह(S) की कल्पना से मातृकागत पाठ में अन्तर भी नहीं आता।

२१. संदिग्ध। "युत्पद्यते/त्सम्यते" भी पढ़ा जा सकता है।

२२. नानादरापरम् - आ. ।

२३. प्रसादा० - आ. ।

२४. यः - आ. । यहाँ शोधन का आधार स्पन्दकारिका २/४ है।

समस्तागमशास्त्रार्थसम्बोधे भग्नबुद्धयः ।
वाचामगोचरं तत्त्वमिति निन्दन्ति पण्डितान्^{२५} ॥ ४८ ॥
कृतकानन्दसन्दर्भमन्दमीलितलोचनाः ।
सूचयन्ति चिदावेशविवशात्मनः स्थितिम् ॥ ४९ ॥
पृष्टाः स्वरूपचर्यायां मूढा यच्छलिनोत्तरम् ।
पशूनां देवताज्ञानं न प्रकाश्यं यथा तथा ॥ ५० ॥
क्षुत्पिपासाभयक्रोधलोभोपहतचेतसः ।
वदन्ति स्वात्मनिष्ठायां नास्माकं विग्रहग्रहौ ॥ ५१ ॥
प्रियलाभे प्रहृष्यन्ति कुप्यन्त्युपरते प्रिये ।
तथापि निर्विकारत्वमात्मनः परिचक्षते ॥ ५२ ॥
मन्त्रौषधिप्रयोगैश्च^{२६} परानपि हि लोभतः ।
कृतकावेशमुत्पाद्य पातयन्ति स्ववर्त्मनि ॥ ५३ ॥
स्वकुक्षिपूरणेनैव जायते परिपूर्णता ।
अभिधायेति मूढेभ्यो मद्यमाँसादि भुञ्जते ॥ ५४ ॥
श्रीमदान्नायशास्त्रार्थखण्डितश्लोकपद्धतिम् ।
पठन्तोऽङ्गेषु कुर्वन्ति विरुद्धार्थविबोधनम् ॥ ५५ ॥
इत्येवमाद्यसतत्त्वभावनोपचितभ्रमाः ।
निपतन्ति निराचारा विषमे नरकालये ॥ ५६ ॥
स्पृष्टो मनोरथेनापि^{२७} यैर्नायं चिन्महेश्वरः ।
कथं नामानुकुर्वन्ति ते प्रबुद्धजनस्थितिम् ॥ ५७ ॥
न वह्निमात्रोच्चारणा^{२८} ज्जिह्वा ज्वलति कस्यचित् ।
न दूराद्^{२९} दृश्यतां याते जले तृष्णा निवर्तते ॥ ५८ ॥

२५. पण्डिताम् - आ. । "पण्डितीम्" भी यहाँ उचित विकल्प हो सकता है ।

२६. ०प्रयोगाश्च - आ. ।

२७. ०सि० - आ. । संदिग्ध ।

२८. ०च्चारणाजिह्वा - आ. ।

२९. दूरा दृश्यतां - आ. ।

न क्वचिन्मोदककथाश्रवणात्क्षीयते क्षुधा^{३०} ।
 भिषजा पट्यमाना नोऽतिहन्ति व्याधिमौषधिः^{३१} ॥ ५६ ॥
 छिनन्ति शतधारोऽपि न खङ्ग^{३२} श्वेतसा स्मृतः ।
 न वा काव्यकथामात्रश्रवणाज्जायते कविः ॥ ६० ॥
 न सौरभयति घ्राणं कस्तूरी मृगनाभिगा ।
 करोत्यर्थप्रतीतिं नो वागनुच्चा^{३३} रितक्रमा ॥ ६१ ॥
 भाण्डस्थिता प्रभूतापि मदहेतुर्न वारुणी ।
 प्रतीत्यै पिककण्ठस्था काकली पञ्चमध्वनिः ॥ ६२ ॥
 [* * * * *](५^{३४})
 नार्थक्रियाकरी काचित्क्रिया स्यादननुष्ठिता ॥ ६३ ॥
 एवं स्वदेहगोऽप्येष प्रकटश्चिन्महेश्वरः ।
 अज्ञातपरमार्थत्वात् कस्याप्यपवर्गदः ॥ ६४^{३५} ॥
 यैस्तु सर्वत्र सर्वात्मा सर्वाहम्भावभावितः ।
 स्वैरी सन्दृश्यते सम्यक्तेषां भवभयं कुतः ॥ ६५^{३६} ॥
 नान्तरे न बहिर्नोर्ध्वे न वाऽथो नाश्रये न खे ।
 न देहे न विभुभवि युक्तैः क्वाप्युपलभ्यते ॥ ६६^{३७} ॥
 नास्तमेति न चोदेति न शान्तो न विकारवान् ।
 अभावो नैव नो भावः प्रबुद्धैरुपलभ्यते ॥ ६७^{३८} ॥

३०. सुधा - आ. ।

३१. भिषजा पट्यमानं नोतिहन्ति व्याधिमौषधिम् ॥ - आ. ।

३२. खगश्चेतसा - आ. ।

३३. अनुश्चारित० - आ. ।

३४. आशङ्कित पंक्तिलोप ।

३५. ६३ - आ. यहाँ से मातृकागत संख्या में एक क्रमाङ्क बढ़ गया है ।

३६. ६४ - आ. ।

३७. ६५ - आ. ।

३८. ६६ - आ. ।

न वेद्यो वेदको नैव न वाच्यो न च वाचकः ।
नाधारो नापि चाधेयो न किञ्चित्सर्वमेव तु ॥ ६८^{३६} ॥

यतः सत्ता पदार्थानां यस्या^{४०} शिचन्मात्रवेदनम् ।
अपह्नोतुं न शक्येत सर्वथा परमेश्वरः ॥ ६९^{४१} ॥

संवित्सुधारसासारनिष्यन्दतुहिनाकरः ।
विभुप्रसादा^{४२} दम्तानप्रकाशानन्दसुन्दरः ॥ ७०^{४३} ॥

शक्तिचक्रक्रमस्फारविस्फारितजगत्त्रयः ।
प्रलीनसदसद्भावमध्यविश्राममन्थरः ॥ ७१^{४४} ॥

दिग्देशकालाकारादिकवलीकारदीक्षितः ।
देहेन्द्रियमनःप्राणकलनातीतगोचरः ॥ ७२^{४५} ॥

स्वतन्त्रो निष्क्रियो नित्यो निरुपाधिरनुत्तरः ।
विकल्पकलनातीतो विश्वरूपो महेश्वरः ॥ ७३^{४६} ॥

एवंविधो महेशानः सर्वभूतान्तरस्थितः ।
यैः परिज्ञायते सम्यक् ते मुक्ता भवबन्धनात् ॥ ७४^{४७} ॥

स्वतीव्रशक्तिपातेन^{४८} स्वविमर्शबलेन वा ।

३६. ६७ - आ. ।

४०. यस्माशिचन्मात्र० - आ. ।

४१. ६८ - आ. ।

४२. ०प्रसाददाम्तान० - आ. ।

४३. ६९ - आ. ।

४४. ७० - आ. ।

४५. ७१ - आ. ।

४६. ७२ - आ. ।

४७. ७३ - आ. ।

४८. आदर्श में “स्वतीव्रशक्तिपातेन” (मातृकागत-क्रमांक शून्य) से लेकर “सर्वत्र पश्यन्ति” (आदर्शगत क्रमांक ८०) तक १२ पंक्तियों के अन्त में ८० क्रमाङ्क मिलता है। इस प्रकार बीच में ७ के स्थान पर केवल ६ श्लोकों की संख्या प्राप्त होती है। अन्य विरामों को यदि प्रमाण माना जाए तो श्लोक सं. ७६ (मुद्रित सं. ७७) और ८० (मुद्रित सं. ८१) में एक एक पंक्ति (पूर्व और पर में क्रमशः पहली और दूसरी) का लोप मालूम पड़ता है। इससे ७ श्लोकों की संख्या पूरी हो जाती है। परन्तु संख्या-निर्णय का यह बड़ा पुष्ट आधार नहीं है।

गुरूपदेशानुष्ठानादर्चया शास्त्रतोऽपि (वा)^{४९} ॥ (७५) ॥

निष्पन्नयोगिनीसिद्धज्ञानसंक्रामणेन वा ।

नवीनचिच्च्यमत्कारस्पर्शवैश्वशेन वा ॥ (७६) ॥

[* * * * *]?^{५०}

शुद्धज्ञानक्रियायोगसम्यगाचरणेन वा ॥ (७७) ॥

यथा तथा भक्त्या वा जन्माभ्यासक्रमे^{५१}ण वा ।

न वा बाह्याभ्यन्तरो येषां प्रत्यक्षो भवतीश्वरः ॥ ७८ ॥

तेषां किं नाम कुर्वन्ति तीव्रा भवविभीषिकाः ।

तेषां किमर्चनज्ञानदानहोमजपेन वा ॥ (७९) ॥

समाधिधारणाध्यानप्रत्याहारक्रमे^{५२}ण वा ।

ते सम्यक्संपरिज्ञानविलीनद्वयवासनाः ॥ (८०) ॥

सार्वार्त्म्यदृष्टा^{५३} सर्वत्र पश्यन्ति ।^{५४}

[* * * * *] ? (८१) ॥

निरुपाधिसमाधानसुखीभूतैकचेतसाम् ।

व्यवहारे(ऽ)प्यसक्तानां लुप्यते न निजस्थितिः ॥ ८२^{५५} ॥

तेषां विदितवेद्यानां पूर्णानां स्वात्मलाभतः ।

किमन्यत्कृतकृत्यानां कर्तव्यमवशिष्यते ॥ ८३^{५६} ॥

४९. कोष्ठक में समागत “वा” हमारे द्वारा प्रस्तावित ।

५०. आशङ्कित लोप ।

५१. ऽक्रमेण - आ. ।

५२. ऽक्रमेण - आ. ।

५३. पाठ दुष्ट । “ऽदृष्टारः” अथवा “ऽदृष्टयः” पाठ उपलब्ध अंश के आधार पर ठीक होता । परन्तु मातृका की वर्तमान अवस्था में कोई भी सुझाव या शोधन अनुपयुक्त होगा, अतः प्रयत्न नहीं ।

५४. ८० - आ. ।

५५. ८१ - आ. ।

५६. ८२ - आ. ।

तेषां न मन्त्रो नो मुद्रा न शास्त्रं न क्रियाक्रमः ।
 न दैशिकमुखोदार^{५७} समयाचारमन्त्रणम् ॥ ८४^{५८} ॥
 न पुण्यपापौ न स्वर्गनरकौ न शुभाशुभौ ।
 नैव शुद्धिर्न चाशुद्धिर्बन्धमोक्षौ गृहादि वा^{५९} ॥ ८५^{६०} ॥
^{६१}नित्यतृप्ताः प्रमुदिताः परमज्ञानशालिनः ।
 स्वतन्त्रशक्तयो^{६२} जातिनामदेहानपेक्षिणः ॥ (८६) ॥
 निरुत्तरा निराचारा निरीहाः निर्वि^{६३}कल्पनाः ।
 कुर्वन्ति नैव निःशंका विरुद्धाचारसेवनम् ॥ (८७) ॥
 [* * * * *]?^{६४}
 तेषां न प्रीतये लाभो न हानिर्विप्रियाय वा ॥ ८८^{६५} ॥
 अरातिर्नप्रकोपाय सुहृन्निर्वृतये न वा ।
 रतिर्न रमणीयेषु विरतिः कुत्सितेषु वा ॥ ८९^{६६} ॥
 नावलेपो(ऽ)नुपादेये सोपयोगे न चादरः ।
 न सक्तये प्रियासङ्गो न स्नेहो मोहहेतवे ॥ ९०^{६७} ॥

५७. ०मुखादार० - आ. ।

५८. ८३ - आ. ।

५९. "गृहादि वा" पाठ यहाँ दुर्बोध्य ।

६०. ८४ - आ. ।

६१. यहाँ मातृकागत क्रमाङ्क ८४ के ठीक अनन्तर । "नित्यतृप्ताः" से "विप्रियाय वा" तक पाँच पंक्तियों के अन्त में ८६ संख्या मिलती है । अन्त्यविराम और पाठसंगति के पूर्वोक्त आधार पर ८६ (मुद्रित ८८वें) श्लोक की पहली पंक्ति लुप्त जान पड़ती है ।

६२. ०शक्तयो - आ. ।

६३. निर्विकल्पनाः - आ. ।

६४. आशंकित लोप ।

६५. ८६ - आ. ।

६६. ८७ - आ. ।

६७. ८८ - आ. ।

निन्दा नैवापमानाय परितोषाय न स्तुतिः।
 विभवो नाभिमानाय न विकाराय मन्मथः॥ ६१^{६८} ॥

विपन्नपरितापाय भवो न परिभूतये।
 जुगुप्सा त्रिराज्यमायासो भोगसम्पदः॥ ६२^{६९} ॥

व्यवहारः परीहासस्तेषां चिन्तामणिस्तृणाम्।
 ते हेलयैव सर्वेषां निग्रहानुग्रहक्षमाः^{७०} ॥ ६३^{७१} ॥

संसारे विहरन्त्येव जीवन्मुक्ता निरर्गलाः।
 तेषामाज्ञाविधायिन्यः सिद्धयोऽष्टौ पुरोगमाः॥ ६४^{७२} ॥

ते मोहध्वान्तविध्वंसचण्डमार्ताण्डमूर्तयः।
 ते स्वेच्छयैव भावौघं जनयन्ति हरन्ति च॥ ६५^{७३} ॥

असदप्यप्रथं वस्तु सत्त्वेऽव^{७४} स्थापयन्ति ते।
 स्वेच्छाचारं यथाकाममनियन्त्रणमक्रमम्॥ ६६^{७५} ॥

लोकोत्तीर्णेन मार्गेण संसारे विचरन्ति ते।
 तेषामनन्यसामान्यं परमैश्वर्यशालिनाम्॥ ६७^{७६} ॥

कथमज्ञानविश्रान्तैश्चरितं प्रविचार्यते।
 तेभ्यो नमः प्रबुद्धेभ्यस्ते पात्रं मोक्षसम्पदाम्॥ ६८^{७७} ॥

६८. ८६ - आ.।

६९. ६० - आ.।

७०. ०क्षमा - आ.।

७१. ६१ - आ.।

७२. ६२ - आ.।

७३. ६३ - आ.।

७४. सत्त्वेवस्थापयन्ति - आ.।

“सत्त्वेन स्थापयन्ति” भी उचित विकल्प हो सकता है।

७५. ६४ - आ.।

७६. ६५ - आ.।

७७. ६६ - आ.।

परमाद्वयविश्रान्तिपरिपूर्णा जयन्ति ते।
 अनुकुर्वन्ति ये तेषामज्ञातस्वपरान्तराः॥ ६६^{७८}॥
 आत्मानमपरिज्ञाय नरके निपतन्ति ते।
 उक्तयुक्तिक्रमेणेतद^{७६} ध्यात्मज्ञानवेदिनाम्॥ १००^{८०}॥
 योगिनां सुप्रबुद्धानां जीवतामेव ^{८१}मुक्ता।
 ये त्वात्म-गुरु-शा^{८२} स्त्रोक्तप्रत्ययत्रयवर्जिताः। १०१^{८३}॥
^{८४}चित्राथमवमन्यन्ते नास्तिकाः शून्यवादिनः।
 परलोकमसत्कल्पं मन्वानाः कष्टतार्किकाः॥ (१०२)॥
 उपपत्तिक्रमेणैव तान्प्रति प्रवितन्यते।
 यदि शास्त्रं प्रमाणं नो तत्कथं गणनैः स्फुटम्॥ (१०३)॥
 परोक्षमपि सूर्येन्दुग्रहणं प्रविभाव्यते।
 स्फुरत्ता यदि मन्त्राणामविलुप्ता न तत्कथम्॥ (१०४)॥
 [* * * * *]^{८५} (?)
 विषाग्निभूता(ऽ)चिच्छक्त्या क्रियन्ते भग्नशक्तयः॥ (१०५)॥
 पूर्वार्जितानां^{८६} वैचित्र्यं नास्त्येव यदि कर्मणाम्।

७८. ६७ - आ.।

७९. ०क्रमेणेत्यमुध्या० - आ.।

यहाँ पर 'म' वर्ण दुर्पाठ्य है।

८०. ६८ - आ.।

८१. युक्ता - आ.।

८२. ०चास्त्रोक्त० - आ.।

८३. ६९ - आ.।

८४. ६६वें (मुद्रित सं. १०१) के ठीक अनन्तर "चित्राथमवमन्यन्ते" से लेकर "भग्नशक्तयः" पर्यन्त ५ पंक्तियों के अन्त में १०३ (मुद्रित सं. १०५) क्रमांक मिलता है। बीच के क्रमांक अनुपलब्ध हैं। इससे लगता है कि यहाँ भी एक पंक्ति लुप्त है। यथापूर्वोक्त सम्भावनया लुप्त पंक्ति १०४वें श्लोक की पहली पंक्ति होगी।

८५. आशंकित लोप।

८६. पूर्वार्जितानां - मा.।

यहाँ पर "पू" वर्ण संदिग्ध है, "स" भी पढ़ा जा सकता है।

करोति सदृशीं सृष्टिं तत्कथं न प्रजापतिः ॥ १०६^{८७} ॥

प्रीयते परलोकस्थो न निर्वापादिभिर्वदि ।

कथं होमादिभिः प्रीतो वृष्टिं मुञ्चति वासवः ॥ १०७^{८८} ॥

^{८८} सर्वभूतान्तःस्थायी यद्यात्मनोपलभ्यते ।

सुखदुःखानुभूत्येकसाक्षी तत्को न मन्यताम् ॥ १०८ ॥

यागस्य महिमा नो चेत्तत्कथं देवतागणः ।

क्षणात्पशूनां कुरुते जीविताकर्षणक्षमाम्^{८९} ॥ १०९^{८९} ॥

तस्माच्छ्रीगुरुशास्त्रौघपरलोकक्रियाक्रमाः ।

ज्ञानं व्यभिचरन्त्येव न कथञ्चित्कदाचन ॥ ११०^{९०} ॥

यथागमं यथान्यायं^{९१} यथासिद्धसुखक्रमम् ।

यथोपदेशमध्यात्म नयोऽयं दर्शितो मया ॥ १११^{९१} ॥

॥ इति श्रीज्ञानक्रियाद्वयशतकं सम्पूर्णम् ॥

८७. १०४ - आ. ।

८८. १०५ - आ. ।

८९. ०भूतान्तरस्थायी - आ. । १०५वें (मुद्रित १०७) के ठीक अनन्तर "सर्वभूतान्तर" से लेकर "जीविताकर्षणक्षमाम्" तक ४ पंक्तियों के बाद १०७ क्रमांक (मुद्रित १०९) मिलता है। पर इससे कोई असंगति उत्पन्न नहीं होती।

९०. १०७ - आ. ।

९१. चिन्त्य ।

९२. १०८ - आ. ।

९३. ०न्याय्यं - आ. ।

९४. १०९ - आ. ।

सन्दर्भ ग्रन्थ*

Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study, K.C. Pandey, Chowkhamba Sanskrit Series, 2nd rev. edn., 1963.

Abhinavagupta and His Works, V. Raghavan, Varanasi, 1981.

अभिनवगुप्त के स्तोत्र . एक अध्ययन, नवजीवन रस्तोगी, लखनऊ विश्वविद्यालय में परास्नातक परीक्षा के लिए प्रस्तुत लघु शोधप्रबन्ध, १९५६ (अप्रकाशित)।

Abhinavagupta's Philosophy of Revelation, Mālinīśloka-vārttika 1, 1-399, J. Hanneder, Egbert Forsten, Groningen, 1998.

Abhinavā: Perspectives on Abhinavagupta, Essays in Memory of K.C. Pandey, ed. Navjivan Rastogi (forthcoming).

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका, उत्पलदेव, ३.२० तक स्वोपज्ञ वृत्ति के साथ, का.सं.ग्रं. (सिद्धित्रयी के साथ एक जिल्द में प्रकाशित), सं. मधुसूदन कौल, श्रीनगर, १९२१।

The Īśvarapratyabhijñānakārikā of Utpaladeva with the Author's Vṛtti, ed/ tr. Raffaele Torella, Roma, 1994; Delhi, 2002.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, उत्पल कृत ई.प्र.का. पर अभिनवगुप्त कृत टीका, दो भाग {भाग १ (१९१८), भा. २ (१९२१)}, सं. मुकुन्दराम शास्त्री और मधुसूदन कौल क्रमशः, का.सं.ग्रं., श्रीनगर।

Essenza dei Tantra, Italian translation of the *Tantrasāra* with notes by Paolo Boringhieri, with "introduction" by R. Gnoli, Torino, 1960.

Kalhaṇa's Rājataranginī or Chronicle of the Kings of Kashmir, ed. M.A. Stein, 1892; 2nd rpt. edn., Munshiram Mahonarlal, Delhi, 1960.

कालिकास्तोत्र, शिवानन्दनाथ कृत, सं./फ्रेंच अनुवाद सहित लिलियन सिलबर्न द्वारा *Hymnes Anx Kālī La Rone Des Énergies Divines* में संगृहीत, Institut De civilisation Indienne, पेरिस, १९७५।

कालीकुलपञ्चशक्ति, मातृका सं ५-५१८३ संस्कृत १५१, रील सं. ए-१५०/६, नेपाल-जर्मन परियोजना जिसमें श्रीखचक्रपञ्चकस्तोत्र (सर्वयोगिनीप्रणीत), . . . स्तोत्र (ज्ञाननेत्रपादकृत), श्रीपीठद्वादशिकास्तोत्र

* देवनागरी वर्णमाला क्रम में। मूल ग्रन्थों के नाम से (अर्थात् दी, श्री आदि उपाधियों का संज्ञान न लेते हुए) द्रष्टव्य।

(चक्रभानुनाथावतारित), *अष्टिकास्तोत्र* (प्रबोधनाथकृत), *क्रमविलासस्तोत्र*, *महानयप्रकाश* (शीर्षक लुप्त) (अर्णसिंह कृत) का नेवारी लिपि से नागरी रूपान्तरण, टंकित प्रति सौजन्य डॉ. मार्क डिक्कोप्सकि। डॉ. डिक्कोप्सकि ने इनमें से *खपञ्चकस्तोत्र*, *महानयप्रकाश*, *कालिकाकुलपञ्चशतिका* का तथा प्रबोधनाथकृत *देवीदेव्यर्धशतिका* का सम्पादन और अंग्रेज़ी में अनुवाद भी किया है, जिसका उपयोग इस पुस्तक में नहीं किया जा सका है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ, नवजीवन रस्तोगी, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, २००२।

The Kula Ritual (As Elaborated in Chapter 29 of the Tantrāloka), John R. Dupuche, Motilal Banarsidass, Delhi, 2003.

कुलार्णवतन्त्र, सं. जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९३७।

The Canon of Śaivāgama and the Kubjikā Tantras of the Western Kaula Tradition, Mark S.G. Dyczkowski, State University New York Press (SUNY), Albany, 1998.

Krama Monism of Kashmir: An Analytical Study, vol. II, Navjivan Rastogi, being the Second Part of the Ph.D. thesis submitted to Lucknow University, 1967 (unpublished).

The Krama Tantricism of Kashmir, vol.1; *Historical and General Sources*, Navjivan Rastogi, Motilal Banarsidass, Delhi, 1979.

श्रीक्रमनयप्रदीपिका, सं./अनु. राजानक लक्ष्मण, प्रस्तोत्री प्रभा देवी, गुप्तगंगा, कश्मीर, १९५८।

क्रमस्तोत्र, अभिनवगुप्त : एन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसॉफिकल स्टडी, परिशिष्ट सी, पृ. ६४८-५०१।

क्रमाभिज्ञापना, आचार्य रामेश्वर झा, *श्रीक्रमाभिज्ञापना की सानुवाद समीक्षा* (द्वारा डॉ. जीवेश झा) में परिशिष्टतया संकलित (अप्रकाशित)।

श्री क्रमाभिज्ञापना की सानुवाद समीक्षा, जीवेश झा, धर्मगम-विभाग, संस्कृतविद्या-धर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, में चक्रवर्ती (पीएच.डी.) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध, २००७ (अप्रकाशित)।

चण्डी, सं. ऋतशील शर्मा, आम्नाय-विशेषांक, भा. ३५, अंक ५-६ प्रयाग, १९७६।

The Triadic Heart of Śiva, Paul Eduardo Muller-Ortega, SUNY, Albany, 1987.

"The Doctrine of the *Mālinīvijayottaratantra*", A. Sanderson, in T. Goudriaan (ed.) *Ritual and Speculation in Early Tantrism, Studies in Honor of Andre' Padoux*, SUNY, Albany, 1990, pp. 281-312.

तन्त्रवटधानिका, अभिनवगुप्तपादाचार्य, मराठी अनु. केशव रामचंद्र जोशी, सिद्धयोग प्रकाशन, पुणे, १९६७।

तन्त्रवटधानिका, अभिनवगुप्त सं. मुकुन्दराम शास्त्री, प्रत्नविद्याप्रकाशकार्यालय, का.सं.ग्रं., १९१८।

तन्त्रसार, अभिनवगुप्त, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, प्रत्नविद्याप्रकाश कार्यालय, का.सं.ग्रं., कश्मीर-श्रीनगर, १९१८।

तन्त्रालोक, अभिनवगुप्त, जयरथ कृत *विवेक व्याख्या* सहित, सं. रामचन्द्र द्विवेदी तथा नवजीवन रस्तोगी, ८ खण्ड (प्रथम खण्ड : भूमिका द्वारा नवजीवन रस्तोगी), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८७;

पूर्व संस्करण: १२ भाग, भा. १, सं. मुकुन्दराम शास्त्री (१९१८), भा. २-१२, सं. मधुसूदन कौल (१९२१-३८), का.सं.ग्रं., श्रीनगर-कश्मीर।

The Tantroccaya of Abhinavagupta, ed. Raniero Gnoli and Raffaele Torella, in P. Daffina (ed.) *Indo Sino Tibetica. Studi in Onore di Luciano Petech* (Studi Orientali 9), pp. 153-89, Roma, 1990.

नित्याषोडशिकार्णव तन्त्र, शिवानन्दकृत ऋजुविमर्शिनी तथा विद्यानन्दकृत अर्थरत्नावली के साथ, सं. और भूमिका ब्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६८।

नेत्रतन्त्र, क्षेमराज कृत उद्योत के साथ, सं. मधुसूदन कौल, का. सं. ग्रं., श्रीनगर-कश्मीर, प्रथम खण्ड (१९२६), द्वितीय खण्ड १९३६।

परमार्चनत्रिशिका/चित्तसन्तोषत्रिशिका, नागार्जुन कृत, सं. रामकृष्ण कौव, शारदापीठ रिसर्च सीरीज, भाग १, संख्या ३, श्रीनगर, पृ. २७-३५।

परात्रिशिका, अभिनवगुप्तकृत विवृति सहित, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, का.सं.ग्रं., श्रीनगर-कश्मीर, १९१८।

श्री श्रीपरात्रिशिका, अभिनवगुप्त कृत विवृति समेत, सं./अनु. नीलकण्ठ गुरुद्व, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९८५।

प्रत्यभिज्ञाहृदय, क्षेमराज, सं. जगदीशचन्द्र चट्टोपाध्याय, का.सं.ग्रं., श्रीनगर-कश्मीर, १९११।

प्रत्यभिज्ञाहृदय, क्षेमराज, सं. तथा हिन्दी अनु. जयदेव सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९३७।

"Purity and Power among the Brahmins of Kashmir", A. Sanderson, in M. Carrisiers., S. Collins and S. Lukes (eds.), *The Category of Person*, Cambridge, Mass, 1985, pp. 190-216.

भावोपहार, चक्रनाथ (? चक्रभानु), रम्यदेव कृत विवरण के साथ, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, का.सं.ग्रं., १९१८।
The Bhāvopahāra of Cakrapāṇinātha, Enrico Garzilli, supplemento n. 74 agli *Annali* vol. 53 1993), fasc. 1, Napoli, 1993.

भास्करी, ई.प्र.वि. पर भास्करकण्ठ कृत व्याख्या, सं. के.ए. सुब्रह्मण्य अय्यर और के.सी. पाण्डेय, तीन भाग, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला, इलाहाबाद, १९३८-५०-५४।

महानयप्रकाश, अज्ञात (सम्भवतः शिवानन्द द्वितीय कृत), सं. के. साम्बशिव शास्त्री, अनन्तशयनसंस्कृत ग्रन्थावली, त्रिवेन्द्रम्, १९३७।

महानयप्रकाश, अर्णसिंहकृत, नेवारी से रूपान्तरित पाठ, टंकित प्रति द्वारा मार्क डिच्चोफ़सकि (अद्यावधि अप्रकाशित)।

महानयप्रकाश, शितिकण्ठ, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, का.सं.ग्रं. कश्मीर-श्रीनगर, १९१८।

महार्थमञ्जरी, परिमल नामक स्वोपज्ञवृत्ति सहित, महेश्वरानन्द, मराठी अनु. व व्याख्या केशव रामचन्द्र जोशी, सिद्धयोग प्रकाशन, पुणे, २००३।

महार्थमञ्जरी, स्वोपज्ञ परिमल नामक व्याख्या के साथ, महेश्वरानन्द, सं. गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज सं. ६६, १९१६।

महार्थमञ्जरी, स्वोपज्ञ परिमल टीका के साथ, महेश्वरानन्द, सं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी, १९६२।

La Mahārthamañjarī de Maheśvarānanda avec des extraits du Parimala,
Lilian Silburn, Editions E. de Boccard, Paris, 1968.

मालिनीविजयवार्त्तिक, अभिनवगुप्त, सं. मधुसूदन कौल, का.सं.ग्रं., श्रीनगर-कश्मीर, १९२१।

मोहपराजय, मन्त्रियशःपाल, सं. मुनिचतुर्विजय जी, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज, बड़ौदा, १९१८।

मुगेन्द्रतन्त्र, चर्यापाद, सं. एन.आर.भट्ट, पाण्डिचेरी, १९६६।

Yāśastilaka and Indian Culture, K.K. Handiqui, Sholapur, 1968.

योगिनीहृदय, अमृतानन्द कृत दीपिका के साथ, सं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-वाराणसी।

योगिनीहृदय, भास्कररायकृत सेतुबन्ध तथा अमृतानन्दकृत दीपिका के साथ, सं. गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, १९६३।

Vāc: The Concept of the Word in Selected Hindu Tantras, André Padoux,
Eng. tr. Jacques Gontier, SUNY, Albany, 1990.

वातूलनाथसूत्राणि, अनन्तशक्तिपाद कृत वृत्ति सहित, सं./अंग्रेज़ी अनुवाद मधुसूदन कौल, का.सं.ग्रं., कश्मीर-श्रीनगर, १९२३।

वामकेश्वरीमत, जयरथ कृत विवरण सहित, सं. मधुसूदन कौल, का.सं.ग्रं. ६६, कश्मीर-श्रीनगर, १९४५।

विज्ञानभैरव, भट्ट आनन्द कृत विज्ञान-कौमुदी सहित, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, का.सं.ग्रं., कश्मीर-श्रीनगर, १९६८।

विज्ञानभैरव, अंशतः क्षेमराज कृत विवृति (२४वीं कारिका पर्यन्त) तदन्तर शिवोपाध्यायकृत उद्योत सहित, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, का.सं.ग्रं., कश्मीर-श्रीनगर, १९६८ (विवृति और विज्ञानकौमुदी - दोनों टीकाएँ एक जिल्द में)।

विज्ञानभैरव, सं./अनु./टीकाकार ब्रजवल्लभ द्विवेदी, दिल्ली, १९७८।

शारदातिलकतन्त्रम्, राघवभट्ट कृत पदार्थदर्श टीका के साथ, आर्थर एवलॉन, दो भाग, तान्त्रिक टेक्स्ट्स सं. १६/१७, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता, १९३३।

शिववृष्टि, सोमानन्द, उत्पलदेव कृत वृत्ति के साथ, सं./अनु. राधेश्याम चतुर्वेदी, वाराणसी, १९८६।

शिवस्तोत्रावली, उत्पल, क्षेमराज कृत वृत्ति सहित, सं./अनु. राजानक लक्ष्मण, चौखम्बा, १९६४।

शिवसूत्रवार्त्तिक, वरदराज, सं. मधुसूदन कौल, का.सं.ग्रं., कश्मीर-श्रीनगर, १९२५।

शैवाचार्यो नागार्जुनः तस्य स्तोत्रयुगलं च, सं. बलजिब्राथ पण्डित, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, १९८७।

शैवाद्वयविंशतिका, (संकलित - अभिनवगुप्त कृत तन्त्रोच्चय, राजानक नाग कृत परमार्चनत्रिशिका तथा चित्तसन्तोषत्रिशिका, सिल्हण का स्वात्मोपलब्धिशतक आदि), सं. जनार्दन पाण्डेय, ला.ब. शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृतविद्यापीठ, नई दिल्ली, १९८७।

“Śaivism and Tantric Traditions”, A. Sanderson, in S. Sutherland et. al (eds.), *The World's Religions*, London, 1988, pp. 660-704

श्रीकण्ठचरित, मंख, जोनराज कृत वृत्ति सहित, काव्यमाला सीरीज, निर्णयसागर, बम्बई।

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, एकादश-खण्ड : तन्त्रागम, प्रधान सं. बलदेव उपाध्याय, खण्ड के सम्पादक ब्रजवल्लभ द्विवेदी, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ, १९६७।

साधना और आम्नाय, सं. रमादत्त शुक्ल, शाक्तसाधना पीठ, प्रयाग, १९७६।

सौन्दर्यलहरी, कैवल्याश्रम कृत सौभाग्यवर्धिनी, लक्ष्मीधर कृत लक्ष्मीधरा और कामेश्वर कृत अरुणामोदिनी सहित, अंग्रेजी अनु. / टिप्पणी अनन्तकृष्ण शास्त्री तथा कर्ण राममूर्ति गारु, गणेश एण्ड कम्पनी, मद्रास, १९५७

स्पन्दनिर्णय, क्षेमराज कृत स्पन्दकारिका की व्याख्या, सं. मधुसूदन कौल, का.सं.ग्र., १९२५।

स्पन्द-प्रदीपिका, तन्त्र-संग्रह, भा. १ में संगृहीत, सं. गोपीनाथ कविराज, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी १९७०, पृ. ८३-१२८।

स्पन्दप्रदीपिका, भट्ट उत्पल कृत स्पन्दकारिकावृत्ति, सं. वामनशास्त्री इस्लामपुरकर, १८६८।

स्पन्दप्रदीपिका, स्पन्दकारिका की भगवदुत्पल रचित टीका, सं. मार्क डिक्कोप्सकि, इण्डिका बुक्स, वाराणसी, २०००।

स्पन्दसन्दोह, क्षेमराज कृत स्पन्दकारिका की प्रथम कारिका की टीका, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, का.सं.ग्र., १९१७।

स्वच्छन्दतन्त्र, छह खण्ड, क्षेमराज कृत उद्योत के साथ, सं. मधुसूदन कौल, का.सं.ग्र., श्रीनगर, १९२६-१९३५।

हरविजय, रत्नाकर, राजानक अलर्क कृत संस्कृत टीका सहित, सं. दुर्गाप्रसाद, काव्यमाला सीरीज़, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८६०।

Hindu Tantrism, Sanjukta Gupta, D.J. Hoens, Tien Goudriaan, Leiden, 1977.

शब्दानुक्रमणिका

अकुल, २८, २९, ३८, ४४, ५५

अक्रमपूजा, ६०, ६५

अघोरमुख, १५

अतितीव्रातितीव्रतर शक्तिपात, १०४

अतिनय, ७२

अधोवक्त्र, ११, २१

अनन्तशक्तिपाद, ५९, ६९, ७२, ८५, १०४-१०५

अनाख्या, ४, ६२, ६४, १०१, १०३-१०४, १०६-१०७

अनाख्या-क्रम, ३४, १०३

अनाख्या चक्र, ५, ६०, ७३-७४, ८७-८८, ९४-९५, १०७

अनाख्या-समयेश्वरी, ४, १०३

अनिकेतनक्रम १०१

अनुग्रह, ६१, १०७

अनुचक्र, ५५, ५६, ६५

अनुपाय, १७, ५०

अनुपाय-क्रम, ७१

अनुत्तर-क्रम, ७१

अनुत्तरकला, ६५

अनुत्तरतत्त्व, ४१-४२

अनुत्तरत्रिक, १, १०, १२-१३, १६, २१, ३१
(पा.टि.), ५२, ५७

अनुत्तरषडर्धक्रम, १३

अनुत्तरषडर्धार्थक्रम, ६

अनुत्तरषडर्धशास्त्र, १०

अन्तर्याग, ३२, ६६

अन्तर्नेत्रनाथ, ६४-६६

अपरमेखला, २६

अपरा, ११, १७, ३१, ३८

अपोहन, १०४

अभिनवगुप्त viii, ३, ७-९, १०, १२-१३, १५-१६
(पा.टि.), १७ (पा.टि.), १८-१९ (पा.टि.), २०,

२३-३० (पा.टि.), ३१-४० (पा.टि.),

४१-४२, ४४ (पा.टि.), ४५ (पा.टि.), ४६,

४९-५३, ५७-५९, ६०-६२, ६४, ६६,

६८, ७०, ७५-७८, ८५ (पा.टि.), ८७-८९,

९४, ९६, ९९, १०३, १०५, १०८, १७०

अभिनवगुप्त०, १९ (पा.टि.), २३ (पा.टि.), २५
(पा.टि.), ५२ (पा.टि.)

अमर्दक, १३

अमरनाथ, २६

अमावस्यात्रिंशिका, ५९, ८८

अमृतानन्द, ३५, ८८

अमृतानन्दयोगी, ३५

अम्बास्तवव्याख्या, २८

अर्धद्रव्य, ४६

अर्चनात्रिंशिका, ८१

अर्जुन, ६३

अर्णसिंह, ५९, ६८-६९, ७२, ८१

अर्थरत्नावली, २९ (पा.टि.), ३५ (पा.टि.)

अर्थचतस्रमठिका, १३

अर्ध-त्रैयम्बक, १३-१४, २३ (पा.टि.)

अर्धमठिका, १३

अलातचक्र, ६६

अलिनाथ, २६	उड्डियाण, ३५ (पा.टि.)
अलेक्जेन्ड्रियन सम्प्रदाय, ६ (पा.टि.)	उज्जट, ५६, ६७, ७५-७६
अलेक्सिस सैन्डर्सन, ३० (पा.टि.)	उत्तरकामिकागम, १५ (पा.टि.)
अलंग्रास, ६५, १०१, १०५	उत्तरकौल, २८, २९
अवन्तिवर्मा, ६८	उत्तरपीठ, ६२ (पा.टि.), ६६, ७१, ७३
अवलि, २६	उत्तराम्नाय, ११, ३३, ७१
अव्यक्त लिंग, ४३-४४	उत्पल, ७-८, ५६, ६६, ६८, ७५-७६, ६१
अष्टाङ्गयोग, १७०	उत्पलदलशतविदलन, ६६
अष्टार, ५०, ६५	उत्पल वैष्णव (भट्ट उत्पल), ६८, ७०, ७७, १०२
अष्टिकास्तोत्र, ८०	उद्वट, ६७, ७६
अहीन्द्र, २७	उद्भट्ट, ५६, ७५-७६
आगम, ३३ (पा.टि.), ४६, ८६-८८	उन्मत्तनाथ, १३६
आगम, १७ (पा.टि.)	उन्मेष, ४०, ४२, ५०
आणवोपाय, ५०, ५३ (पा.टि.), ६०	उपपीठ, ६६
आदित्य, १४	ऊर्ध्ववक्त्र, ११, २१
आदियाग, १२, ३३, ३८, ४७-४८, ५६	ऊर्ध्वाम्नाय, ३०
आद्याशक्ति, ६५	ऊर्ध्वोर्ध्वाम्नाय, ३०
आनन्द, २६, ३२, ४३-४४, ४७, ५६, १०७	ऊर्मि, ४
आनन्द-चक्र, ४३, ६५	ऋजुविमर्शिनी, ३५, ६२
आनन्दलहरी, ८४	एक्लेक्टिसिज्म, ६
आन्तरालिक सोपान, ६७	एरक, ५६, ६६-६७, ७५
आन्द्रे पदु, १८, ६० (पा.टि.), ७४ (पा.टि.)	एरुणा, २६
आपटे, १६१ (पा.टि.)	ऐतरेय उपनिषद् ४०
आम्नायगत वर्गीकरण, ३०	ओड्डनाथ, ३५, ३७
आम्नायगत विभाजन, ११, ७१ (पा.टि.)	ओड्डियाण, ३५ (पा.टि.), ६३
आर.के. कौव, ८१	ओड्डियान, ३५ (पा.टि.), ३८, ६२
आवेश, ७२	ओवल्लि, १०३, १३६
इच्छाशक्ति, ५६, ६३	औत्तर-क्रम, ६२, ७१
इन्द्र, २७	औक्लेक्ट, १३५
इन्द्रियशक्ति, ६४	ककारदेवी, ५६, ६६, ७५
इस्लामपुरकर, ७० (पा.टि.)	करणेश्वरी, ५६, ६४
ईशाना, ५६, ८१, ८४	करणेश्वरीचक्र, ६६
ईशानी, ६६, ६८-६९	कराङ्किणी, ११२
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ७	कराङ्किणी, ११२
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका, ७, ६१	कलनपञ्चक, ६२
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, ७	कलाक्रम, १०१
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, ७	कल्पित अर्चादि का अनादर, ६१
ईश्वरशिव, २५, ३५	कल्याणिका, ५६, ६६, ७५

- कल्लट, २५, ५६, ७५
 कविराज, ६६
 कान्तिचन्द्र पाण्डेय, १६, २३-२५, ५१-५२
 कापालिक परम्परा, ११-१२, ३३
 कामकला, ३६
 कामकलाविलास, ३५
 काममंगला, २६
 कामयाग, १२, ४६
 कामरूप, २४, ३५ (पा.टि.), ३८, ६३
 कामेश्वर, ३६
 कामेश्वरी, ३६
 काययाग, १२, ४६
 कालशक्ति, ७१, १०४
 कालसंकर्षिणी, ४, ३४, ६३, ६२, १०३-१०४, १०६
 कालानलरुद्रकाली, ६५
 कालिकाक्रम, ५६, ८६-८७
 कालिकाक्रमपरामर्श, ६८, ८१
 कालिकास्तोत्र, ७४
 काली-कुल, १८
 कालीकुलपञ्चशतिक, ७४
 काली-तन्त्र, १७
 कालीनय, ५६, ७२, १०६
 काव्यप्रकाश, ६६ (पा.टि.)
 काल्सूटेट, १६ (पा.टि.)
 काश्मीर शैव दर्शन, २४
 किरणागम, ५६, ८६, १६६
 कुंकुणाम्बा, २६
 कुण्डलिनी, ३६, ४१
 कुण्डलिनी योग, ३७-३८, ४६, ५६
 कुब्जिका काली, १८, ६०
 कुब्जिकामत, ३० (पा.टि.), ३७
 कुमारी, २६
 कुल viii, १-८, ११-१२, १६, २७-२६, ३३, ३८-४०, ४६, ५३, ५५, ५७, ६०, ६२, ६०, १०३, १०५, १०८, १३६
 कुलगुहरतंत्र, ४१
 कुलचक्र, ३२, ५४
 कुलचर्या, २७, ३२, ३८, ४३, ४७ (पा.टि.)
 कुलचूडामणि, २६
 कुलचूडामणितन्त्र, १
 कुल तत्त्व, ४६, ५१
 कुल दृष्टि, ७१ (पा.टि.), १०८
 कुल धारा, ११, ३४, ५६
 कुलनय, ८
 कुलपद्धति, १४, १५
 कुलपूजा, ३२
 कुलपञ्चक, १०२
 कुल प्रक्रिया के छह अधिकरण, ४६
 कुल प्रक्रिया के तीन रहस्य, १२, ४६
 कुलयाग १२, ५३-५५
 कुलयाग की विधि, २४
 कुलरत्नमाला, २६
 कुलरत्नोद्योत तन्त्र, ३१ (पा.टि.), ३५
 कुलरूपता, ५५
 कुलसूत्र viii, १३५-१३६, १४५
 कुलसूत्राणि, १३५
 कुल-सामान्य, ५५
 कुलाकुल, २८, २६
 कुलागम, ४, १५
 कुलाचार, ३६
 कुलार्णव, २६
 कुलार्णवतन्त्र, १, २१ (पा.टि.), ३०, ५७ (पा.टि.)
 कुलानि, २८
 कुलाम्नाय, १६ (पा.टि.), २०
 कुलालिकाम्नाय, ३० (पा.टि.)
 कुलोद्देश, २६
 कूर्मनाथ, २६, ३१
 कृत्यपञ्चक, ६२
 कृष्ण, ६३
 के.के.हन्दिनी, १ (पा.टि.)
 केयूरवती, ५६, ६६, ६८, ७५, ८०-८१, ८३
 केशवभट्ट, १०४
 कैटेलोगस कैटेलोगोरम, १३५

कैयेनोधीड्म, २

कैनन ऑफ शैवागम०, १५ (पा.टि.), २१ (पा.टि.),

२२ (पा.टि.), २८ (पा.टि.)

कैवल्यश्रम, ८४

कोमलवल्ली, ८४

कोमलस्तव, ८४

कोविदा, ५६, ६८, ८१

कौल, १, ६, ११, २७-२६, ५७

कौलसूत्र viii, १४५

कौलसूत्राणि, १३५, १४५

कौलज्ञाननिर्णय, २६

कौलिक चर्याविधि, ३२

कौलिकार्थ, ३६

कौलिकी शक्ति, ११, ३८, ४४, ५६

कौलिकी सिद्धि, १२, ३८-३६, ५५

कांगड़ा, २४

क्रम, viii, १-५, ७-८, १२, ३३, ६२, ८४, ८७,

६०, १०३-१०४, १०८, १३६, १६६-७०

क्रमकमल, ८२

क्रम की पूर्वोत्तरशाखा, ६०

क्रमकेलि, ३, ७, ६१, ६३, ६६, ७७-७८, ६४

क्रम-चतुष्क, ५, १०४

क्रमचतुष्टयार्थ, ५६, ६१-६२, ६४

क्रम तान्त्रिसिञ्जम०, vii, viii, ७, ८०, ८६
(पा.टि.), १३५, १५५

क्रम-दीपिका १०४

क्रम-दृष्टि, ६२, ६४, ६०, १०४

क्रमनय, ५६

क्रममुक्ति, ५६, ६०

क्रमपूजा, ६०, ६५

क्रमभट्टारक, ८७

क्रममालिका, १०४

क्रम-मुद्रा, ७०, ६५

क्रमरत्न, १०४

क्रमरत्नमाला, १०४

क्रमरहस्य, ४६, ५६, ६३, ८६-८७

क्रमवासना, १०४

क्रम-सम्प्रदाय, १०३

क्रमसद्भाव, ३४, ५६, ८६-८७, ६५

क्रमस्तोत्र, ७, ७६-७८, ८०-८२

क्रमस्तुति, १०४

क्रमसिद्धि, ५६, ८६-८७

क्रमसूत्र, ८, ५६, ७०, ७६, ८८

क्रमसंग्रह, १०४

क्रमसंधान, १०४

क्रमसंहिता, १०४

क्रमाभिज्ञापना ix, ८५-८६ (पा.टि.)

क्रमार्थ, ६

क्रमोत्तम, १०४

क्रमोदय, ५६, ८८

क्रिया, ८६ (पा.टि.), ८६

क्षणिकवाद, १०४

क्षेत्र, ६६

क्षेत्रेश, १००

क्षेमराज, ४, ६-७, १६ (पा.टि.), २० (पा.टि.),

५६, ६८, ७०-७१, ७४-७६, ८२, ८५

(पा.टि.), ८७, ६१, ६३, ६५, १०२, १०५,

१५७ (पा.टि.), १६० (पा.टि.)

क्षेमेन्द्र, १७०

खगेन्द्रनाथ, २६, ३१, ६४

खचक्र, १०२

खेचरी, ५६, ६०, १००, १०१, १०२, १०५

खेचरीभाव, ८८

खेचरी मुद्रा, ५६, १०५

खेचरीसाम्य, ५६

गजेन्द्र, २७

गन्धमादन, ५६, ६७-६८, ७३

गीता, ५६, ६३

गुडिकानाथ, २६

गुरु-तत्त्व, ६१

गुरुवक्त्रपरम्परा, ११, २२

गुर्वाम्नाय, २२

गूड्रियान, १६ (पा.टि.)

गोकुलचन्द्र जैन, १ (पा.टि.)

गोचरी, ६०, १०१

गोपीनाथ कविराज, ८८ (पा.टि.)

- गोविन्दराज, ५६, ६६, ६८, ७५, ८४
 घर, २६, १०३
 चक्र की धारणा, ४६, ५०
 चक्रनाथ, ६६
 चक्रपाणि, ५६, ८१-८२
 चक्रभानु, ५६, ६६, ६८-६९, ८०-८२
 चण्डी, ३०
 चतुरार, ६५
 चतुष्टयार्थ, ६२, ६४, १०७
 चर्या, ३४
 चर्यानाथ, ३५, ३७
 चार उपाय, ६, ५०
 चार मतपीठ, ३५, ६३
 चार सिद्धसमूह, ६५
 चिचिणीमतसारसमुच्चय, २१, २८, ३०-३१
 चित्तसंतोषत्रिंशिका, ८१
 चित्रनाथ, २६
 चिद्रंगनचन्द्रिका, ६२, ६६, ८०, ८२, ८६ (पा.टि.)
 चोल देश, ६२
 छह साधिकार पुत्र, २६, ६३
 छुम्मा, २६, २७, १०५-१०६
 छुम्मा-सम्प्रदाय viii, ६६, ७३, १०४-१०६,
 १११-१२
 छुम्मासम्प्रदायप्रकाश, १११-१२
 छुम्मासंकेतक, १११
 छुम्मासंकेतप्रकाश, १११-१२
 जगदानन्द, ४८, ५५
 जय, ६१
 जयद्रथयामल, १७ (पा.टि.), ३४, ८६ (पा.टि.)
 जयरथ, viii, ३-५, ८, १४ (पा.टि.), १५-१७
 (पा.टि.), २१ (पा.टि.), २२-२३ (पा.टि.),
 २४-२५, २७-२८, ३४-३६, ३६-४१, ४६,
 ४७ (पा.टि.), ४८, ५२, ५६-६२, ६४ (पा.
 टि.), ६६-७१, ७४-७७, ७९-८०, ८२-८७
 (पा.टि.), ८६ (पा.टि.), १०३, १७०
 जया, ७२
 जालन्धर, २४, ३५ (पा.टि.), ३८, ६३
 जालन्धर पीठ, २४-२५
- जीवेश झा, ८६ (पा.टि.)
 जैयक, ५६, ६८, ८१
 जोनराज, ६१
 (ज्ञान/अंतः)नेत्रनाथ, ६६
 ज्ञानक्रियाद्वयशतकम् viii, १६६
 ज्ञानदीप्ति, ६७
 ज्ञाननेत्रनाथ, ६५-६६, ७४
 ज्ञानसिद्ध, ६५
 ज्ञानार्णवतन्त्र, ३४
 तर्क-तत्त्व, ६१
 तत्त्वगर्भस्तोत्र, ८, ७५
 तन्त्रराजतन्त्र, ३४, ५६, ८६
 तन्त्रराजभट्टारक, ३४
 तन्त्रवटधानिका, ५२ (पा.टि.)
 तन्त्रसार, ५२ (पा.टि.), ७७-७८
 तन्त्रालोक, viii, ३, ५, ७-९, १२-१४ (पा.टि.),
 २३, २६-२८, ३६, ३६-४० (पा.टि.), ४५
 (पा.टि.), ४६, ५२ (पा.टि.), ६०-६१, ६४,
 ७०, ७७-७८, ८३, ६१, १०३, १०५,
 १०८, १६६
 तन्त्रालोक-विवेक, ३ (पा.टि.), २२ (पा.टि.), २८,
 ६६, ७५-७६, ८२
 तन्त्रोच्चय, ५२ (पा.टि.)
 तपस्वी प्रबोधनाथ, ८१
 तपोधन, ८१
 तान्त्रिक, १२, १६, ८६, ८६, १०८
 तान्त्रिक वाङ्मय, ६६
 तान्त्रिक अर्थ-वैविध्य, १७ (पा.टि.), ३६ (पा.टि.)
 तिरोधान, ६१, ६२, १०७
 तीव्र शक्तिपात, ५१, ६६
 तून गृह्णियान, १८, १६ (पा.टि.), ३० (पा.टि.),
 ६० (पा.टि.)
 तेराम्बा, १४
 तोषखानी, १२७ (पा.टि.)
 त्रिक, १-३, ५-७, ११-१३, २० (पा.टि.), २७-२८,
 ३१, ३४, ३८, ४०, ४६, ५७, ६२, ७४,
 ७६, ८६, ८६, १०३, १०८
 त्रिक-तन्त्र, १७ (पा.टि.), २३, ३७

त्रिकमत, २	देव्यायामलतन्त्र, २५
त्रिकसद्भावतन्त्र, ३१	देह का दिव्यभाव, २, ५४
त्रिकसार, ५, ८	द्वादश कालियां, ५, ६०-६५, १०२, १०७
त्रिपुरा, १८, ३४, ३६, १०३	द्वादश संविद्, ४०
त्रिपुरा-कुल, १८	द्वादशार, ५०, ६५
त्रिपुराचक्र, ३६	धर्म-प्रत्यभिज्ञान, ६६
त्रिपुरा दर्शन, ४	धर्मि-प्रत्यभिज्ञान, ६६
त्रिशिरःशास्त्र, ५	धामक्रम, १०१
त्रिशिरस्तन्त्र, ८	नकुलीश, १३ (पा.टि.)
त्रिशिरोभैरवतन्त्र, ३१	नकुलीश पाशुपत, १३
त्रैशिरसमत, २८	नन्दक, ५६, ६८, ८१
त्र्यम्बक, १३, १४ (पा.टि.), २३	नर-शक्ति-शिव, ४३
त्र्यम्बकादित्य, १४ (पा.टि.)	नाग, ५६, ६८, ८१
दक्षधारा, १७	नागार्जुन, ८१
दक्षिणपक्षपातिनी, ३५	नित्याषोडशिकार्णवतन्त्र, ३५, ३७
दक्षिणपीठ, २४	निमीलन-उन्मीलन, ६३
दक्षिणवक्त्र, १५, १६	निमेष, ४२
दक्षिण स्रोत, १५	निराधिकार छह पुत्र, २६
दक्षिणाम्नाय, ११, ३४-३५	निशाचार तन्त्र, ३
दार्शनिकप्रत्ययचयनवाद, ६ (पा.टि.)	निशिसञ्चार तन्त्र, ३१
दिकूचरी, ६०, १०१-१०२	निषेधविधितुल्यता, ६१, १०३
दिव्यौघ, ५६, ६३, ६५	निष्क्रियानन्द, ६७, ७३, ११२
दीनानाथ यक्ष, viii, ix, १११-१२, ११८ (पा.टि.),	निष्क्रियानन्दनाथ, ५६, १११-१२, १२३ (पा.टि.)
१३५, १५५	नेत्र-तन्त्र, ७, १६ (पा.टि.), ७६, १५८ (पा.टि.)
दीनाक्रन्दनस्तोत्र, ८२	नेत्रत्रितय, ६०, ६६
दीपिका, ३५	पंकक, ५६, ६८, ८१
दुर्वासा, १४ (पा.टि.), १३६	पञ्चकृत्यकारिता, ६१
दूतीयाग, ३४, ४७-४८	पञ्चकृत्यपरिशीलन, ६२, ६५-६६
देवता-क्रम, ७१	पञ्चपिण्ड, ६५
देवताचक्र, १००	पञ्चमकारात्मक साधना, ५६
देवतानय, ७२	पञ्चवक्त्र, १५
देवपाणि, ५६, ७६	पञ्चवाह-महाक्रम, ६०, ८७, ६५, ६६-१०२, १०६
देवभट्ट, ५६, ६८, ७६	पञ्चशक्ति, ५६, ७३, ८६-८७
देवीनय, ७२	पञ्चस्रोत, १५
देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र, ७६, ६६	पञ्चार्थ-क्रम, ८३
देविकाक्रम, ८७	पञ्चार्थरूप, १०७
देवीपञ्चशक्ति, ७, २५, ३४, ५६, ६७, ७३, ७५,	पदसंगति, ८
८६	पदोत्तिष्ठ कौल, २६

- पर्यन्त-छुम्मा, १०६
 पर्यन्तपञ्चाशिका, ७८
 पर-छुम्मा, १०६
 परम कौल तत्त्व, ५४
 परममुद्रा, ५६
 परमार्चनत्रिशिका, ८१
 परमेष्ठी गुरु, ८२
 परशुरामकल्पसूत्रवृत्ति, ८४
 परा, ४, ११, १७, ३१, ३८, १०२
 परात्रिशिका, २५, ३१, ४१ (पा.टि.)
 परात्रिशिकाविवरण, ७, ३८-३९, ५२ (पा.टि.), ७८
 परात्रिशिकाविवरण, (गुरुट्ट) ७, १९, ३०-३१, ३७-३८
 परापरा, ११, १७, ३१, ३८
 पराप्रावेशिका, १६० (पा.टि.)
 पराशक्ति, ३७, ४१
 परास्तुति, ८४
 परौघ, ६५
 पल्ली, २६, १०३
 पश्चिमाम्नाय, ११, ३१, ३५, ३७
 पातक्रम, १०१
 पातालवक्त्र, ११, २१
 पाद, २६
 पाशुपत, १२, १३
 पांच लक्षण (आनन्द, उद्व, कम्प, निद्रा, घूर्णि), ३२, ४३
 पांडेय द्र. कान्तिचन्द्र पांडेय,
 पिचुवक्त्र, ११, २१
 पीठ, १६-१७, २६-२७, ८६, ९९-१०१, १०३
 पीठक्रम, १००
 पीठचतुष्टय, १७ (पा.टि.)
 पीठनिकेतन, ६०, ६५, ९९-१००
 पीठद्वादशिका, ८२
 पुर्यष्टक, १००
 पूर्ण कौलतत्त्व, ५५
 पूर्णगिरि, ३५ (पा.टि.), ३८, ६३
 पूर्णता, ५६
 पूर्णताप्रत्यभिज्ञा, ८५ (पा.टि.)
 पूर्ण-पीठ, ६२
 पूजन-क्रम, ८८-८९, ९५
 पूर्वकौल, २८, २९
 पूर्वाम्नाय, ११, ३१ (पा.टि.)
 प्रकरणस्तोत्र, ७७, ७८
 प्रकाश, ५१, ६०, १०६-१०७
 प्रकाश-चक्र, ९५
 प्रक्रिया ग्रन्थ, ७, ९
 प्रत्यभिज्ञा, २-३, ७-९, ६०-६२, ६६, ८५ (पा.टि.), ८९-९०, १०८
 प्रत्यभिज्ञाहृदय, २० (पा.टि.), ७९, ८८, ९५
 प्रत्यभिज्ञाहृदय, (जय०) ९५
 प्रद्युम्न भट्ट, ८-९, ५९, ६८, ७५
 प्रबोध, ५९, ६८, ८०
 प्रभु, ४, २६
 प्रमाणगत चार कालिका, ९५
 प्रमातृ-कञ्चुक, ७१
 प्रमातृगत स्थितिस्वरूप, ९५
 प्रमातृगत संहारस्वरूप, ९५
 प्राकृतत्रिशिकाविवरण, ८५
 प्राणयोग, ५३
 प्रातिभ ज्ञान, ५१, ९९
 बलजिन्नाथ पण्डित, २४
 बाह्यचर्या, ५२
 बिन्दाप्रसाद मिश्र, १४७ (पा.टि.)
 बृहती विमर्शिनी, ७
 बोधार्थ, २६
 बोधि, २६
 बौद्ध, १०४
 ब्रह्मयामल, १७ (पा.टि.), ५९, ८६
 भट्ट, २७
 भट्ट उत्पल, ५९, ६८, ७५, ७७
 भट्टोजि दीक्षित, १९ (पा.टि.)
 भट्ट दामोदर, ५९, ७७
 भट्टारक, ५९, ८५
 भर्तृहरि, ६० (पा.टि.), ९६, १०४
 भानुक, ५९, ६६, ७५-७६, ८३
 भावक्रम, १०१
 भावोपहार, ८१

भावोपहारविवरण, ६३, ८२

भासा, ६२, ६४-६५, १०१-१०३, १०७

भासाक्रम, ८७

भासा-समयेश्वरी, ४, १०३

भास्कर, ५६, ६८, ७६

भास्कराचार्य, ८८

भास्करराय, ३५, ८८ (पा.टि.)

भूचरी, ६०, १००, १०२

भूतिराज, ५६, ७७-७८ (पा.टि.)

भैरव, ४-५, १४, ३६, ४०, ४२-४३, ५४ (पा.टि.),

५६, ६३

भैरवकुलतन्त्र, २८

भैरव तन्त्र, ११, १५-१६, २३

भैरवस्तोत्र, ७

भैरवाष्टक तन्त्र, १५ (पा.टि.)

भैरवी, ४२, ५६, ६३

भोजराज, ५६, ६८, ८२

मकारदेवी, ६५

मंख, ६१

मंगला, २६

मंगलादेवी, ५६, ६४-६६

मच्छन्दनाथ, २३-२६, ३१, ६२

मण्डल, १७, ४६

मत, १, ६, ३३

मत्स्येन्द्रनाथ, ३१

मदनिका, ५६, ६६, ७५

मध्यदशा-विश्रान्ति-संस्कार, ६६

मध्यनाडी, ४६

मध्य-विकास, ५६, ६३

मन्थान भैरव, ११, ३७, १०६

मन्थानभैरव तन्त्र, २२ (पा.टि.), २८, ३० (पा.टि.),

३७

मन्द शक्तिपात, १०१

मन्त्र (सिद्ध), ६५, ८६

मन्त्रपीठ, ११, १६, १७ (पा.टि.)

मन्त्रयोग, ५३

मन्त्रवीर्य, ६१

मम्मट, ६६ (पा.टि.)

महाकौल, २८, २६

महाक्रम, १०२

महानन्दा, ६७

महानय, ६, ५६, ६१, ७२

महानयपद्धति, ५६, ८८

महानयप्रकाश, ६१, ६४-६५, ६८, ७२, ७४, ८५

(पा.टि.), ८६ (पा.टि.), १०३, १३५

महानयप्रकाश (तृतीय), ८१

महानयप्रकाश (त्रि.), ५, ६५, ६६ (पा.टि.), ७०

(पा.टि.), ८४, ८८

महानयप्रकाश (शि.), ४, ६, ८०, ८५

महापरमतत्त्वार्थ, १७

महाप्रकाश, ५६, ६४, ८३

महार्थ, ३, ५६, ७१-७२, १०२-१०३

महार्थोदय, ८४

महार्थ-क्रम, ७१

महार्थनय, ७१

महार्थमञ्जरी, २३ (पा.टि.), ८३, ८४, ८६ (पा.टि.)

महार्थमञ्जरी-परिमल, ३, ६, ८, ३३-३५, ६१,

८३-८४

महाम्नाय, ६६ (पा.टि.)

महालच्छी, २६

महासार, ७२

महासाहसचर्चासम्प्रदाय, १०१, १०४

महीधर, २७

महेश्वरानन्द, ३, ६, ३४ (पा.टि.), ५६, ६२-६६,

६८-६९, ७४, ७७, ७९, ८१-८४, ८७,

६०, ६५

महौघ, ६५

मातृका-क्रम, ५

मातृकाचक्रविवेक, ३५

मातृसद्भाव, ४, ३४

माधवकुलतन्त्र, ३१

मानवौघ, ५६, ६३, ६५-६६, ७३, ८१

मारदत्त, २

मार्क डिक्लेप्सकि, ix, २८, ३० (पा.टि.), ३७, ६०

(पा.टि.), ६६ (पा.टि.), ७४ (पा.टि.)

मालिनी-क्रम, ५

- मालिनीमत, ६
 मालिनीविजय, ५, ४५ (पा.टि.)
 मालिनीविजयोत्तर, ५, ५६, ८६
 मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, ६, १७ (पा.टि.), ३० (पा.टि.),
 ३१, ३३, ५६, १६६
 मालिनीविजयवार्तिक, ३, ७, ३१, ५२ (पा.टि.),
 ६१, ७८
 मित्रनाथ, ३५, ३७
 मीननाथ, ६४
 मुख्य कुलचक्र, ५४
 मुख्य शक्तिचक्र, ४, ४०
 मुद्रा, १७, २६-२७, ८६
 मुद्रा-क्रम, ७०, १०१, १०५, १०७
 मुनिचतुर्विजय, २ (पा.टि.)
 मूर्ति-चक्र, ६५, १०७
 मूल कौल, २६
 मृगेन्द्रागम, २६ (पा.टि.)
 मेलाप, ६५, १००
 मेलाप (सिद्ध), ६५
 मेषनाथ, २६, ३१
 मोहपराजय, १, २ (पा.टि.)
 मौनिनाथ, १३६
 म्यूलर ऑर्टेगा, २० (पा.टि.)
 यक्ष द्र. दीनानाथ यक्ष,
 यजन, १००
 यशःपाल, १, २ (पा.टि.)
 यशस्कर, ८० (पा.टि.)
 यशस्तिलकचम्पू, १, २
 यशस्तिलक ऐण्ड इण्डियन कल्चर, १ (पा.टि.), २
 (पा.टि.)
 यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, १ (पा.टि.)
 याग, ४६, ५३
 यामल तन्त्र, १६
 युगनाथ, २६, १०३, १०७
 योगप्रक्रिया, ४१
 योगागों की अनुपयोगिता, १६१
 योगिन्, २६
 योगिनी, २२, २४
 योगिनी कौल, २६
 योगिनी/दूती, २२
 योगिनीभूत्व, ५२
 योगिनीमेलन, ५६
 योगिनीवक्त्र, ११, २२-२३, ४३, ४८
 योगिनीवक्त्रपरम्परा, २२
 योगिनीहृदय, ३५-३७, ८८ (पा.टि.)
 योगिनीहृदयदीपिका, ३५-३७ (पा.टि.), ८८
 योनिमुद्रा, २
 रक्ता, ६७
 रत्नाकर, ६८
 रम्यदेव, ५६, ६८, ८१-८२
 रहस्यचर्या, १४, १८, २३, ५२-५६, ८६
 रहस्यविधि, २२-२३, ४८
 राजतरङ्गिणी, ८० (पा.टि.)
 राजिका, ५६, ८८-८९
 राज्ञी, ६६
 रामेश्वर झा, ix, ८५
 रुद्र, ५१
 रुद्रयामलतन्त्र, ३१
 रौद्र कर्म, ४०
 रौद्रेश्वरी, १००-१०१
 लकुलीश पाशुपत, ११
 लकुलेश्वर, १२-१३ (पा.टि.)
 लघुवृत्ति, ८४
 लक्ष्मणगुप्त, ६६, ६८, ७५-७६
 लक्ष्मणदेशिकेन्द्र, ७६
 लक्ष्मीधरा, २८
 लक्ष्मीराम, ८४
 लिंग-पूजा, ६६
 लिलियन सिलबर्न, २३ (पा.टि.), ६० (पा.टि.),
 ७४ (पा.टि.)
 लोष्टक, ८२
 लोष्टकदेव, ८२
 वर्णक्रम, १०१
 वरदराज, ५६, ७६
 वरदेव, २६
 वल्कल, २७

वसुगुप्त, ५६, ६२, ७४

वह्नि कौल, २६

वाक् : दि कॉन्सेप्ट ऑफ दि वर्ड इन सेलेक्टेड हिन्दू
तन्त्र०, १८ (पा.टि.)

वाक्यपदीय, १६१ (पा.टि.)

वाग्भव बीज, ६५

वातूलनाथ, ५६, ७३

वातूलनाथसूत्र, ६७, ७३, १०१, १०४

वातूलनाथसूत्रटीका, ६७, ८५

वातूलनाथसूत्राणि, ६६, ७३, १०४

वामकेश्वरी तन्त्र, ५, ३४, ३६-३७

वामकेश्वरीमत, ५, ८

वामकेश्वरीमत विवरण, ४, ५, ८, १४ (पा.टि.),

१७ (पा.टि.), २५, ३४, ३६

वाम तन्त्र, १६

वामन (नाथ), ८०

वामाचक्र, १०२

वामेशीचक्र, १०२

वामेश्वरी सम्प्रदाय, ४

विकल्प-संस्कार, ६६-६७, १०४

विकल्प-संस्क्रिया, ६०, ६१, ६६, १०२

विकाससमाधि, ६३

विज्जाम्बा, २६

विज्ञानभैरव, ८, ३४ (पा.टि.), ११२

विज्ञानभैरव-उद्योत, ६७, ६२, ६६

विज्ञानभैरव-विवृति, ८, ६७, ८५, १५५

विज्ञानवादी बौद्ध, ६६

विद्यानन्द, ३५, ५६, ६७, ७३

विद्या (पीठ), ११, १६-१७, २३, ३०, ३३, ३६,
४६

विन्ध्यनाथ, २६

विमर्शिनी, ७

विश्वदत्त, ८२

विश्वमय, २० (पा.टि.)

विश्वातीत, ७

विश्वावर्त, ३५

विश्वोत्तीर्ण, २० (पा.टि.)

विसर्ग, ४, ४२

विसर्ग शक्ति, ११, ४०-४२, ४४

वीरभाव, ३७

वृन्दचक्र, ६०, ६२, ६५, ७३, ८३, ८५, ८७-८८,
६५, ६६-१०१, १०३, १०५-१०७

वृषणोत्थ कौल, २६

वैखरी वाणी, ३६, १०२

व्यक्त लिंग, ४३-४४

व्यक्ताव्यक्त लिंग, ४३-४४

व्याप्ति, ६५

व्यापिनी, ६४

व्योमवामेश्वरी, ६०, १०१, १०६-१०७

व्योमेशी, १००

व्योमेश्वरी, १०६

ब्रजवल्लभ द्विवेदी, ७६ (पा.टि.)

ब्रत, ६६

शक्त्यानन्द नाथ, ५६, ६७, ७३

शक्त्याविष्करण, ५६, ६२

शक्ति, ४, ६, १३-१४, १६-१७, २६, ३४, ३६,
४२, ४४, ४८, ५४, ६०, ८८-८९, ६२,
६५, १०३, १०६-१०७

शक्ति-केन्द्रित दृष्टि, १०६

शक्तिचक्र, ४, ४०, ५५-५६, ६५, १०३

शक्तिचक्रविकास, ५६, ६१, ६३-६५

शक्ति तन्त्र, १६-१७

शक्तिपात, ५१, १०१, १७० (पा.टि.)

शक्तिपारम्प, ८

शक्ति मुद्रा, २

शक्तिवादी, ७५

शक्तिसंगम, ४६

शक्तिसंगमतन्त्र, ३४

शब्दपूर्वयोग, ६६, १०४

शम्भुनाथ, २३-२४, ३५, ४६

शाकिनी, १००

शाकिनीचक्र, १०१

शाक्त, ६, ११, ६५, १०४

शाक्तसिद्ध, ६५, १००

शाक्तोपाय, ५०, ५६, ७४, ६०-६१, ६३, ६६,

१०३

- शारदातिलक, ७६
शक्तिकण्ठ, ४, ६, ५६, ६४-६६, ७२, ८१, ८५
(पा.टि.), ८६ (पा.टि.), ८७, ८६, १०३,
१३५, १४३ (पा.टि.)
शिव, १३ (पा.टि.), १६, ४२, ४४, ४८, ६०,
८८-८९, ९२, १०६, १०७
शिव-केन्द्रित दृष्टि, १०६, १०७
शिवदृष्टि, ८, १४ (पा.टि.), ७५
शिवदृष्टि-वृत्ति, ८
शिवस्तोत्रावली-विवृति, ७६
शिवस्तोत्रावली-वृत्ति, ७६
शिवसूत्र, ७४
शिवसूत्र-वार्तिक, ७६
शिवसूत्र-विमर्शिनी, ८, ७४, ७६, १०२
शिवानन्द, ३५, ५६, ६२-६५ (पा.टि.), ६६-६८,
७३, ७४-७५, ८६ (पा.टि.), ८८, १३६
शिवानन्द द्वितीय, ६, ५६, ६४, ६८-६९ (पा.टि.),
७१, ८२-८३, ८६ (पा.टि.)
शिवानन्दनाथ, ५६, ६२, ६७, ८६ (पा.टि.)
शिवानन्द प्रथम, ६४
शिवोपाध्याय, ५६, ८३, १११-११२, १२३ (पा.टि.),
१५५
शिव्यौघ, ५६, ६६-६७, ६८, ७३, ८१, ८४-८५
शून्यता सिद्धान्त, १०४
शेवाष्टकोश, viii, १५५
शोध-प्रभा, १३
शोधशोधकभाव, १२, ३२, ४६
शंकर, १०४
शंकरराशि, २५
शंकराचार्य, २८
शांभवसिद्ध, १००, १०५
शांति-क्रम, १०१
श्मशान, १००
श्रीकण्ठ, ११-१४
श्रीकण्ठचरित, ६१
श्रीकण्ठचरित-वृत्ति, ६१
श्रीकण्ठीयसंहिता, १५, २२
श्रीकुल, १८
श्रीचक्र, ३६, १०३
श्रीनाथ, १३, ६५, ७५, ८६ (पा.टि.), १३६
श्रीपरा, ४
श्रीपूर्वशास्त्र, ३० (पा.टि.)
श्रीमौनिनाथ, १३६
श्रीवत्स, ५६, ६८-६९, ८२
श्रीविद्या-विवरण, १५५
श्रीविद्या-सम्प्रदाय, ३४
श्रीशास्त्र, ७६
श्रुतसागर, २
षट्साहस्रीसंहिता, २१ (पा.टि.), ३०
षडङ्ग योग, ६६, १०४, १७०
षडरमुद्रा, ५६
षष्ठनाथ, ३५, ३७
षोडशस्वरकला, viii, १४५
षोडशार, ५०, ८७, ८५
संवाद, ५६, ८८-८९ (पा.टि.)
संवित्-क्रम, ६५, १०१-१०२
संवित् स्तोत्र, ८३
संहारकाली, ६५
संहारक्रम, ३४
संहारभक्षिणी, १००
संहार शक्ति, ६४
संघट्टमुद्रा, ५६
सज्जन, ५६, ६८, ८१
सत्तर्क, १०४
सन्ततिक्रम, ८०, ८२, ८४
समना, ६४
समया, ६७
सर्वज्ञानोत्तरतन्त्र, ५६, ८६
सर्ववीरतन्त्र, १७ (पा.टि.)
सर्वात्म-संकोच, ६३
सहस्रार, ५०, ६५
सार्धशक्तिक, ५६, ८६
साधकों की तीन कोटियाँ, ५१
सामस्त्यभाव की चेतना, १६
साम्बपञ्चाशिका, ७६
साम्बपञ्चाशिका-वृत्ति, ७६

- सार, ४
 सारशास्त्र, ५
 साहस मुद्रा, १०५
 साहस सम्प्रदाय, ७३, ८५, १०५-१०६
 सांख्यिक ज्ञान, ५१
 सिद्धकौल, २६
 सिद्धक्रम, ३४-३५, ३७, ६५
 सिद्धनाथ, ५६, ६८, ७६, ८० (पा.टि.), ८२
 सिद्धयोगेश्वरीमत, १७ (पा.टि.), ३१, ४१
 सिद्धसन्तति, ६४
 सिद्धसमूह, ६५
 सिद्धसूत्र, ५६
 सिद्धान्तागम, १५, १७ (पा.टि.), ३०
 सिद्धान्तकौमुदी, १६ (पा.टि.)
 सिद्धौघ, ५६, ६३, ६५
 सिल्लार्ई, २६
 सुभगोदय, २६
 सुमतिनाथ, २४
 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त, १३ (पा.टि.)
 सृष्टिकला, ६४
 सृष्टिक्रम, ३४, ३६, ८७
 सेतुबन्ध, ३५, ८८
 सैण्डर्सन, ३३, ४६ (पा.टि.)
 सोम, ६६
 सोमदेव, १, २, २४
 सोमपुत्र, ६६
 सोमराज, ५६, ६८-६९, ८२
 सोमानन्द, ७-८, १४, २५, ५६, ६२, ६६, ७५-७६, १०६
 सोमेश्वर, ५६, ६८-६९, ८१-८२
 सोलह नित्याओं, ३७
 सौन्दर्यलहरी, २८
 सौभाग्यवर्धिनी, ८४
 सौभाग्य-सम्प्रदाय, ३४
- सौभाग्यसुधोदय, ३५
 सौम्य कर्म, ४०
 संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, vii, २४ (पा.टि.), ८६ (पा.टि.)
 Studier i Kulārṇava-tantra, १६ (पा.टि.)
 स्तवचिन्तामणि, ७६
 स्तवचिन्तामणि-वृत्ति, ७६
 स्तोत्रभट्टारक, ८३
 स्तोत्रावली, ८
 स्थिति क्रम, ३४, ६५
 स्थिति शक्ति, ६४
 स्पन्द, १, ४, ७, ४२, ६०, ६२, ७४, ७६, १०८
 स्पन्दकारिका, ७, १०२, १६६
 स्पन्ददशा, ४३
 स्पन्दनिर्णय, ४, ८, ७६
 स्पन्दप्रदीपिका, ७७
 स्पन्दप्रदीपिका (इस्लामपुरकर), ७० (पा.टि.)
 स्पन्दशास्त्र, ७५
 स्पन्द-सन्दोह, ७, ७६
 स्फुरत्ता, ४
 स्वच्छन्दतन्त्र, ७, १७ (पा.टि.), १०५
 स्वच्छन्दतन्त्र-उद्योत, ७६, १०५
 हठपाक, ६५, १०१, १०५
 हठपाक-क्रम, १०१
 हन्दिक्की, २ (पा.टि.)
 हरविजय, ६८
 हस्तनय, ७४
 हिन्दू तान्त्रिसिन्धु, १८ (पा.टि.), १६ (पा.टि.), ३० (पा.टि.)
 हृदय, ४, ४२
 हृदयङ्गभीभाव, २१
 हृदय-परमस्पन्द, ४३
 हृदयोच्चार की प्रक्रिया, ४२
 हस्वनाथ, ५६, ६६, ६८, ८०, ८२





काश्मीर शैव दर्शन और अभिनवगुप्त के चिन्तन की गंभीर बौद्धिक परम्परा में कान्तिचन्द्र पांडेय के उत्तराधिकारी शिष्य के रूप में चर्चित नवजीवन रस्तोगी की गणना वर्तमान पीढ़ी के चिन्तनशील विद्वानों में होती है। सक्रिय सेवा से अवकाशप्राप्त रस्तोगी लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत तथा प्राकृत भाषा विभाग के आचार्य और अध्यक्ष रहे हैं, साथ ही अभिनवगुप्त इन्स्टिट्यूट ऑफ ईस्थेटिक्स एवं शैव फिलॉसफी के मानद निदेशक भी। उनकी प्रसिद्ध प्रकाशित कृतियाँ हैं: *The Krama Tantricism of Kashmir, Vol. I; Introduction to the Tantrāloka: A Study in Structure*; काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ; और तन्त्रालोक (जयरथ कृत विवेक के साथ आठ खण्डों में, रा.च. द्विवेदी के साथ संयुक्त संपादन)। अखिल भारतीय दर्शन परिषद् की “दार्शनिक चिन्तन सृजन ग्रन्थमाला” के अंतर्गत अभिनवगुप्त का तन्त्रागमयी दार्शनिक चिन्तन : तत्त्वज्ञान, इतिहास, संस्कृति और सौन्दर्य-विमर्श एवं *Abhinavā: Perspectives on Abhinavagupta* (Essays in Memory of Prof. K.C. Pandey) (संपादित) नामक दो ग्रन्थ मुद्रणाधीन हैं। संप्रति ये *Encyclopaedia of Indian Philosophies* के काश्मीर शैवदर्शन-परक खण्ड का कार्ल पॉटर के साथ संपादन और भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् के लिए शिवदृष्टि के अंग्रेजी अनुवाद में निरत हैं।

ISBN 13: 978-81-246-0577-6

ISBN 10: 81-246-0577-7

₹ 500

अमेरिकन \$ 25.00



ISBN 812460577-7



9 788124 605776